

मनुष्योंकी कितनी भारी मूर्खता है कि वे अपने हृदयमें विराजमान भगवान् विष्णुको नहीं जानते हैं। मुनिश्रेष्ठ ! नारद ! सुनो, मैं बार-बार इस बातको दुहराता हूँ, भगवान् विष्णु श्रद्धालु जनोंपर ही संतुष्ट होते हैं, अधिक धन और भाई-बन्धुवालोंपर नहीं। इहलोक और परलोकमें सुख चाहनेवाला मनुष्य सदा श्रीहरिकी पूजा करे तथा इहलोक और परलोकमें दुःख चाहनेवाला मनुष्य दूसरोंकी निन्दामें तत्पर रहे। जो देवाधिदेव भगवान् जनार्दनकी भक्तिसे रहित है, ऐसे मनुष्योंके जन्मको धिक्कार है। जिसे सत्पात्रके लिये दान नहीं दिया जाता, उस धनको बारम्बार धिक्कार है। मुनिश्रेष्ठ ! जो शरीर भगवान् विष्णुको नमस्कार नहीं करता, उसे पापकी खान समझना चाहिये। जिसने सुपात्रको दान न देकर जो कुछ द्रव्य जोड़ रखा है, वह

लोकमें चोरीसे रखे हुए धनकी भाँति निन्दनीय है। संसारी मनुष्य बिजलीके समान चञ्चल धन-सम्पत्तिसे मतवाले हो रहे हैं। वे जीवोंके अज्ञानमय पाशको दूर करनेवाले जगदीश्वर श्रीहरिकी आराधना नहीं करते हैं।

दैवी और आसुरी सृष्टिके भेदसे सृष्टि दो प्रकारकी बतायी गयी है। जहाँ भगवान्की भक्ति (और सदाचार) है, वह दैवी सृष्टि है और जो भक्ति (और सदाचार)-से हीन है, वह आसुरी सृष्टि है। अतः विप्रवर नारद ! सुनो, भगवान् विष्णुके भजनमें लगे हुए मनुष्य सर्वत्र श्रेष्ठ कहे गये हैं; क्योंकि भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। जो ईर्ष्या और द्वेषसे रहित, ब्राह्मणोंकी रक्षामें तत्पर तथा काम आदि दोषोंसे दूर हैं, उनपर भगवान् विष्णु संतुष्ट होते हैं।

वेदमालिको जानन्ति मुनिका उपदेश तथा वेदमालिकी मुक्ति

श्रीसनकजी कहते हैं—नारद ! जिन्होंने योगके द्वारा काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मात्सर्यरूपी छः शत्रुओंको जीत लिया है तथा जो अहङ्कारशून्य और शान्त हैं, ऐसे ज्ञानी महात्मा ज्ञानस्वरूप अविनाशी श्रीहरिका ज्ञानयोगके द्वारा यजन करते हैं। जो व्रत, दान, तपस्या, यज्ञ तथा तीर्थस्नान करके विशुद्ध हो गये हैं, वे कर्मयोगी महापुरुष कर्मयोगके द्वारा भगवान् अच्युतका पूजन करते हैं। जो लोभी, दुर्व्यसनोंमें आसक्त और अज्ञानी हैं, वे जगदीश्वर श्रीहरिकी आराधना नहीं करते। वे मूढ़ अपनेको अजर-अमर समझते हैं; किंतु वास्तवमें मनुष्योंमें वे कीड़ेके समान जीवन बिताते हैं। जो बिजलीकी लकीरके समान क्षणभरमें चमककर लुप्त हो जानेवाली है, ऐसी लक्ष्मीके मदसे उन्मत्त हो व्यर्थ अहंकारसे दूषित चित्तवाले मनुष्य सब प्रकारसे कल्याण करनेवाले जगदीश्वर भगवान्

विष्णुकी पूजा नहीं करते हैं। जो भगवद्धर्मके पालनमें तत्पर, शान्त, श्रीहरिके चरणारविन्दोंकी सेवा करनेवाले तथा सम्पूर्ण जगत्पर अनुग्रह रखनेवाले हैं, ऐसे तो कोई बिरले महात्मा ही दैवयोगसे उत्पन्न हो जाते हैं। जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णुकी आराधना करता है, वह समस्त लोकोंमें परम उत्तम, परम धामको जाता है। इस विषयमें इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसे पढ़ने और सुननेवालोंके समस्त पापोंका नाश हो जाता है।

नारदजी ! प्राचीन कालकी बात है। रैवतमन्वन्तरमें वेदमालि नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण रहते थे, जो वेदों और वेदाङ्गोंके पारदर्शी विद्वान् थे। उनके मनमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति दया भरी हुई थी। वे सदा भगवान्की पूजामें लगे रहते थे; किंतु आगे चलकर वे स्त्री, पुत्र और मित्रोंके लिये



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By

Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By

Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!

धनोपार्जन करनेमें संलग्न हो गये। जो वस्तु नहीं बेचनी चाहिये, उसको भी वे बेचने लगे। उन्होंने रसका भी विक्रय किया। वे चाण्डाल आदिसे भी बात करते और उनका दिया हुआ दान ग्रहण करते थे। उन्होंने पैसे लेकर तपस्या और व्रतोंका विक्रय किया और तीर्थयात्रा भी वे दूसरोंके लिये ही करते थे। यह सब उन्होंने अपनी स्त्रीको संतुष्ट करनेके लिये ही किया। विप्रवर! इसी तरह कुछ समय बीत जानेपर ब्राह्मणके दो जुड़वे पुत्र हुए, जिनका नाम था—यज्ञमाली और सुमाली। वे दोनों बड़े सुन्दर थे। तदनन्तर पिता उन दोनों बालकोंका बड़े स्नेह और वात्सल्यसे अनेक प्रकारके साधनोंद्वारा पालन-पोषण करने लगे। वेदमालिने अनेक उपायोंसे यत्पूर्वक धन एकत्र किया और एक दिन मेरे पास कितना धन है यह जाननेके लिये उन्होंने अपने धनको गिनना प्रारम्भ किया। उनका धन संख्यामें बहुत ही अधिक था। इस प्रकार धनकी स्वयं गणना करके वे हर्षसे फूल उठे। साथ ही उस अर्थकी चिन्तासे उन्हें बड़ा विस्मय भी हुआ। वे सोचने लगे—मैंने नीच पुरुषोंसे दान लेकर, न बेचने योग्य वस्तुओंका विक्रय करके तथा तपस्या आदिको भी बेचकर यह प्रचुर धन पैदा किया है। किंतु मेरी अत्यन्त दुःसह तृष्णा अब भी शान्त नहीं हुई। अहो! मैं तो समझता हूँ, यह तृष्णा बहुत बड़ा कष्ट है, समस्त क्लेशोंका कारण भी यही है। इसके कारण मनुष्य यदि समस्त कामनाओंको प्राप्त कर ले तो भी पुनः दूसरी वस्तुओंकी अभिलाषा करने लगता है। जरावस्था

(बुद्धापे)-में आनेपर मनुष्यके केश पक जाते हैं, दाँत गल जाते हैं, आँख और कान भी जीर्ण हो जाते हैं; किंतु एक तृष्णा ही तरुण-सी होती जाती है^१। मेरी सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो रही हैं, बुद्धापे ने मेरे बलको भी नष्ट कर दिया, किंतु तृष्णा तरुणी हो और भी प्रबल हो उठी है। जिसके मनमें कष्टदायिनी तृष्णा मौजूद है, वह विद्वान् होनेपर भी मूर्ख हो जाता है। परम शान्त होनेपर भी अत्यन्त क्रोधी हो जाता है और बुद्धिमान् होनेपर भी अत्यन्त मूढ़बुद्धि हो जाता है। आशा मनुष्योंके लिये अजेय शत्रुकी भाँति भयंकर है। अतः विद्वान् पुरुष यदि शाश्वत सुख चाहे तो आशाको त्याग दे। बल हो, तेज हो, विद्या हो, यश हो, सम्मान हो, नित्य वृद्धि हो रही हो और उत्तम कुलमें जन्म हुआ हो तो भी यदि मनमें आशा, तृष्णा बनी हुई है तो वह बड़े वेगसे इन सबपर पानी फेर देती है^२। मैंने बड़े क्लेशसे यह धन कमाया है। अब मेरा शरीर भी गल गया। बुद्धापे ने मेरे बलको नष्ट कर दिया। अतः अब मैं उत्साहपूर्वक परलोक सुधारनेका यत्न करूँगा। विप्रवर! ऐसा निश्चय करके वेदमालि धर्मके मार्गपर चलने लगे। उन्होंने उसी क्षण उस सारे धनको चार भागोंमें बाँटा। अपने द्वारा पैदा किये उस धनमेंसे दो भाग तो ब्राह्मणने स्वयं रख लिये और शेष दो भाग दोनों पुत्रोंको दे दिये। तदनन्तर अपने किये हुए पापोंका नाश करनेकी इच्छासे उन्होंने जगह-जगह पौसले, पोखरे, बगीचे और बहुत-से देवमन्दिर बनाये तथा गङ्गाजीके तटपर अन्न आदिका दान भी किया।

१. जीर्णन्ति जीर्यतः केशाः दन्ताः जीर्णन्ति जीर्यतः।

चक्षुःश्रोत्रे च जीर्यते तृष्णौका तरुणायते ॥

(ना० पूर्व० ३५। २१)

२. आशा भयंकरी पुंसामजेयारातिसन्निभा। तस्मादाशां त्यजेत्प्राज्ञो यदीच्छेच्छाश्वतं सुखम् ॥
बलं तेजो यशश्चैव विद्यां मानं च वृद्धताम्। तथैव सत्कुले जन्म आशा हन्त्यतिवेगतः ॥

(ना० पूर्व० ३५। २४-२५)

इस प्रकार सम्पूर्ण धनका दान करके भगवान् विष्णुके प्रति भक्तिभावसे युक्त हो वे तपस्याके लिये नर-नारायणके आश्रम बदरीवनमें गये। वहाँ उन्होंने एक अत्यन्त रमणीय आश्रम देखा, जहाँ बहुत-से ऋषि-मुनि रहते थे। फल और फूलोंसे भरे हुए वृक्षसमूह उस आश्रमकी शोभा बढ़ा रहे थे। शास्त्र-चिन्तनमें तत्पर भगवत्सेवापरायण तथा परब्रह्म परमेश्वरकी स्तुतिमें संलग्न अनेक वृद्ध महर्षि उस आश्रमकी श्रीवृद्धि कर रहे थे। वेदमालिने वहाँ जाकर जानन्ति नामवाले एक मुनिका दर्शन किया, जो शिष्योंसे घिरे बैठे थे और उन्हें परब्रह्म तत्त्वका उपदेश कर रहे थे। वे मुनि महान् तेजके पुञ्ज-से जान पड़ते थे। उनमें शम, दम आदि सभी गुण विराजमान थे। राग आदि दोषोंका सर्वथा अभाव था। वे सूखे पत्ते खाकर रहा करते थे। वेदमालिने मुनिको देखकर उन्हें प्रणाम किया। मुनि जानन्ति ने कन्द, मूल और फल आदि सामग्रियोंद्वारा नारायण-बुद्धिसे अतिथि वेदमालिका पूजन किया। आतिथ्य-सत्कार हो जानेपर वेदमालिने हाथ जोड़ विनयसे मस्तक झुकाकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षिसे कहा— भगवन्! मैं कृतकृत्य हो गया। आज मेरे सब पाप दूर हो गये। महाभाग! आप विद्वान् हैं। जान देकर मेरा उद्धार कीजिये। ऐसा कहनेपर मुनिश्रेष्ठ जानन्ति बोले—

ब्रह्मन्! तुम प्रतिदिन सर्वश्रेष्ठ भगवान् विष्णुका भजन करो। सर्वशक्तिमान् श्रीनारायणका चिन्तन करते रहो। दूसरोंकी निन्दा और चुगली कभी न करो। महामते! सदा परोपकारमें लगे रहो। भगवान् विष्णुकी पूजामें मन लगाओ और मूर्खोंसे मिलना-जुलना छोड़ दो। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य छोड़कर लोकको अपने आत्माके समान देखो—इससे तुम्हें शान्ति मिलेगी। इर्ष्या, दोषदृष्टि तथा दूसरेकी निन्दा



भूलकर भी न करो। पाखण्डपूर्ण आचार, अहङ्कार और क्रूरताका सर्वथा त्याग करो। सब प्राणियोंपर दया तथा साधु पुरुषोंकी सेवा करते रहो। अपने किये हुए धर्मोंको पूछनेपर भी दूसरोंपर प्रकट न करो। दूसरोंको अत्याचार करते देखो, यदि शक्ति हो तो उन्हें रोको, लापरवाही न करो। अपने कुटुम्बका विरोध न करते हुए सदा अतिथियोंका स्वागत-सत्कार करो। पत्र, पुष्प, फल, दूर्वा अथवा पल्लवोंद्वारा निष्कामभावसे जगदीश्वर भगवान् नारायणकी पूजा करो। देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका विधिपूर्वक तर्पण करो। विप्रवर! विधिपूर्वक अग्निकी सेवा भी करते रहो। देवमन्दिरमें प्रतिदिन झाड़ लगाया करो और एकाग्रचित्त होकर उसकी लिपाई-पुताई भी किया करो। देवमन्दिरकी दीवारमें जहाँ-कहीं कुछ टूट-फूट गया हो, उसकी मरम्मत कराते रहो। मन्दिरमें प्रवेशका जो मार्ग हो उसे पताका और पुष्प आदिसे सुशोभित करो तथा भगवान् विष्णुके गृहमें दीपक जलाया करो। प्रतिदिन यथाशक्ति पुराणकी कथा सुनो। उसका

पाठ करो और वेदात्तका स्वाध्याय करते रहो। ऐसा करनेपर तुम्हें परम उत्तम ज्ञान प्राप्त होगा। ज्ञानसे समस्त पापोंका निश्चय ही निवारण एवं मोक्ष हो जाता है।

जानन्ति मुनिके इस प्रकार उपदेश देनेपर

परम बुद्धिमान् वेदमालि उसी प्रकार ज्ञानके साधनमें लगे रहे। वे अपने-आपमें ही परमात्मा भगवान् अच्युतका दर्शन करके बहुत प्रसन्न हुए। मैं ही उपाधिरहित स्वयंप्रकाश निर्मल ब्रह्म हूँ—ऐसा निश्चय करनेपर उन्हें परम शान्ति प्राप्त हुई।

भगवान् विष्णुके भजनकी महिमा—सत्सङ्ग तथा भगवान्‌के चरणोदकसे एक व्याधका उद्धार

श्रीसनकजी कहते हैं—विप्रवर! भगवान् लक्ष्मीपति विष्णुके माहात्म्यका वर्णन फिर सुनो। भगवान्‌की अमृतमयी कथा सुननेके लिये किसके मनमें प्रेम और उत्साह नहीं होता? जो विषयभोगमें अन्धे हो रहे हैं, जिनका चित्त ममतासे व्याकुल है, उन मनुष्योंके सम्पूर्ण पापोंका नाश भगवान्‌के एक ही नामका स्मरण कर देता है। जो भगवान्‌की पूजासे दूर रहते, वेदोंका विरोध करते और गौ तथा ब्राह्मणोंसे द्वेष रखते हैं, वे राक्षस कहे गये हैं^१। जो भगवान् विष्णुकी आराधनामें लगे रहकर सम्पूर्ण लोकोंपर अनुग्रह रखते तथा धर्मकार्यमें सदा तत्पर रहते हैं, वे साक्षात् भगवान् विष्णुके स्वरूप माने गये हैं। जिनका चित्त भगवान् विष्णुकी आराधनामें लगा हुआ है, उनके करोड़ों जन्मोंका पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाता है; फिर उनके मनमें पापका विचार कैसे उठ सकता है? भगवान् विष्णुकी आराधना विषयान्ध मनुष्योंके भी सम्पूर्ण दुःखोंका नाश करनेवाली कही गयी है। वह भोग और मोक्ष देनेवाली है। जो मनुष्य किसीके सङ्गसे, स्नेहसे,

भयसे, लोभसे अथवा अज्ञानसे भी भगवान् विष्णुकी उपासना करता है, वह अक्षय सुखका भागी होता है^२। जो भगवान् विष्णुके चरणोदकका एक कण भी पी लेता है, वह सब तीर्थोंमें स्थान कर चुका। भगवान्‌को वह अत्यन्त प्रिय होता है। भगवान् विष्णुका चरणोदक अकालमृत्युका निवारण, समस्त रोगोंका नाश और सम्पूर्ण दुःखोंकी शान्ति करनेवाला माना गया है^३।

इस विषयमें भी ज्ञानी पुरुष यह प्राचीन इतिहास कहा करते हैं, इसे पढ़ने और सुननेवालोंके सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जाता है। प्राचीन सत्ययुगकी बात है, गुलिक नामसे प्रसिद्ध एक व्याध था; वह परायी स्त्री और पराये धनको हड़प लेनेके लिये सदा उद्यत रहता था। वह सदा दूसरोंकी निन्दा किया करता था। जीव-जन्तुओंको भारी सङ्कटमें डालना उसका नित्यका काम था। उसने सैकड़ों गौओं और हजारों ब्राह्मणोंकी हत्या की थी। नारदजी! व्याधोंका सरदार गुलिक देवसम्पत्तिको हड़पने तथा दूसरोंका धन लूट लेनेके लिये सदा कमर कसे रहता था। उसने बहुत-से बड़े भारी-

- | | | | |
|--|---------------------------------------|--------------|----------------------|
| १. हरिपूजाविहीनाश्च | वेदविद्वेषिणस्तथा । गोद्विजद्वेषनिरता | राक्षसाः | परिकीर्तिः ॥ |
| | | | (ना० पूर्व० ३७ । ५) |
| २. सङ्गात्त्वेहाद् भयाल्लोभादज्ञानाद्वापि यो नरः । विष्णोरुपासनं | कुर्यात्सोऽक्षयं | सुखमश्नुते ॥ | |
| | | | (ना० पूर्व० ३७ । १४) |
| ३. अकालमृत्युशमनं | सर्वव्याधिविनाशनम् । सर्वदुःखोपशमनं | हरिपादोदकं | स्मृतम् ॥ |
| | | | (ना० पूर्व० ३७ । १६) |

भारी पाप किये थे। जीव-जन्मुओंके लिये वह यमराजके समान था। एक दिन वह महापापी व्याध सौवीर नरेशके नगरमें गया, जो सम्पूर्ण ऐश्वर्योंसे भरा-पूरा था। उसके उपवनमें भगवान् विष्णुका एक बड़ा सुन्दर मन्दिर था, जो सोनेके कलशोंसे छाया गया था। उसे देखकर व्याधको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने निश्चय किया, यहाँ बहुत-से सुवर्ण-कलश हैं, उन सबको चुराऊँगा। ऐसा विचारकर व्याध चोरीके लिये लोलुप हो उठा और मन्दिरके भीतर गया। वहाँ उसने एक श्रेष्ठ ब्राह्मणको देखा, जो परम शान्त और तत्त्वार्थज्ञानमें निपुण थे। उनका नाम उत्तङ्क था। वे भगवान् विष्णुकी सेवा-पूजा कर रहे थे। उत्तङ्क तपस्याकी निधि थे। वे एकान्तवासी, दयालु, निःस्पृह तथा भगवान्‌के ध्यानमें परायण थे। मुने! उस व्याधने उन्हें अपनी चोरीमें विघ्न डालनेवाला समझा। वह देवताका सम्पूर्ण धन हड्डप लेनेके लिये आया हुआ अत्यन्त साहसी लुटेरा था और मदसे उन्मत्त हो रहा था। उसने हाथमें तलवार उठा ली और उत्तङ्कजीको मार डालनेका उद्योग आरम्भ किया। मुनि (-को भूमिपर गिराकर उन)-की छातीको एक पैरसे दबाकर उसने एक हाथसे उनकी जटाएँ पकड़ लीं और उन्हें मार डालनेका विचार किया। इस अवस्थामें उस व्याधको देखकर उत्तङ्कजीने कहा।

उत्तङ्क बोले—अरे, ओ साधु पुरुष! तुम व्यर्थ ही मुझे मार रहे हो। मैं तो निरपराध हूँ। महामते! बताओ तो सही, मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है। लोकमें शक्तिशाली पुरुष अपराधियोंको दण्ड देते हैं, किंतु सज्जन पुरुष

पापियोंको भी अकारण नहीं मारते हैं। जिनके चित्तमें शान्ति विराज रही है, वे साधु पुरुष अपनेसे विरोध रखनेवाले मूर्खोंमें भी जो गुण विद्यमान हैं, उन्हींपर दृष्टि रखकर उनका विरोध नहीं करते हैं। जो मनुष्य अनेक बार सताये जानेपर भी क्षमा करता है, उसे उत्तम कहा गया है। वह भगवान् विष्णुको सदा ही अत्यन्त प्रिय है। जिनकी बुद्धि सदा दूसरोंके हितमें लगी हुई है, वे साधु पुरुष मृत्युकाल आनेपर भी किसीसे वैर नहीं करते। चन्दनका वृक्ष काटे जानेपर भी कुठारकी धारको सुगन्धित ही करता है। मृग तृणसे, मछलियाँ जलसे तथा सज्जन पुरुष संतोषसे जीवन-निर्वाह करते हैं, परंतु संसारमें क्रमशः तीन प्रकारके व्यक्ति इनके साथ भी अकारण वैर रखनेवाले होते हैं—व्याध, धीवर और चुगलखोर। अहो! माया बड़ी प्रबल है। वह समस्त जगत्को मोहमें डाल देती है। तभी तो लोग पुत्र-मित्र और स्त्रीके लिये सबको दुःखी करते रहते हैं। तुमने दूसरोंका धन लूटकर अपनी स्त्रीका पालन-पोषण किया है, परंतु अन्तकालमें मनुष्य सबको छोड़कर अकेला ही परलोककी यात्रा करता है। मेरी माता, मेरे पिता, मेरी पत्नी, मेरे पुत्र और मेरी यह वस्तु—इस प्रकारकी ममता प्राणियोंको व्यर्थ पीड़ा देती रहती है। पुरुष जबतक धन कमाता है, तभीतक भाई-बन्धु उससे सम्बन्ध रखते हैं, परंतु इहलोक और परलोकमें केवल धर्म और अधर्म ही सदा उसके साथ रहते हैं, वहाँ दूसरा कोई साथी नहीं है। धर्म और अधर्मसे कमाये हुए धनके द्वारा जिसने जिन लोगोंका पालन-पोषण किया है, वे ही मरनेपर

१. मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम् । लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ॥

२. यावदर्जयति द्रव्यं बान्धवास्तावदेव हि । धर्माधर्मो सहैवास्तामिहामुत्र न चापरः ॥
(ना० पूर्व० ३७। ३८)

(ना० पूर्व० ३७। ४२)

उसे आगके मुखमें झोंककर स्वयं घी मिलाया हुआ अन्न खाते हैं। पापी मनुष्योंकी कामना रोज बढ़ती है और पुण्यात्मा पुरुषोंकी कामना प्रतिदिन क्षीण होती है। लोग सदा धन आदिके उपार्जनमें व्यर्थ ही व्याकुल रहते हैं। 'जो होनेवाला है, वह होकर ही रहता है और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी नहीं होता' जिनकी बुद्धिमें ऐसा निश्चय होता है, उन्हें चिन्ता कभी नहीं सताती^१। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् दैवके अधीन है; अतः दैव ही जन्म और मृत्युको जानता है, दूसरा नहीं। अहो! ममतासे व्याकुल चित्तवाले मनुष्योंका दुःख महान् है; क्योंकि वे बड़े-बड़े पाप करके भी दूसरोंका यत्पूर्वक पालन करते हैं। मनुष्यके कमाये हुए सम्पूर्ण धनको सदा सब भाई-बन्धु भोगते हैं, किंतु वह मूर्ख अपने पापोंका फल स्वयं अकेला ही भोगता है^२।

ऐसा कहते हुए महर्षि उत्तङ्को गुलिकने छोड़ दिया। फिर वह भयसे व्याकुल हो उठा और हाथ जोड़कर बार-बार कहने लगा—'मेरा अपराध क्षमा कीजिये।' सत्सङ्गके प्रभावसे तथा भगवद्विग्रहका सामीप्य मिल जानेसे व्याधका सारा पाप नष्ट हो गया। उसे अपनी करनीपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वह इस प्रकार बोला—'विप्रवर! मैंने बहुत बड़े-बड़े पाप किये हैं। वे सब आपके दर्शनसे नष्ट हो गये। अहो! मेरी बुद्धि सदा पापमें ही लगी रही और मैं शरीरसे भी सदा महान् पापोंका ही आचरण करता रहा। अब मेरा उद्धार कैसे होगा? भगवन्! मैं किसकी शरणमें जाऊँ? पूर्वजन्ममें किये हुए पापोंके कारण मेरा व्याधके कुलमें जन्म हुआ। अब इस

जीवनमें भी ढेर-के-ढेर पाप करके मैं किस



गतिको प्राप्त होऊँगा? अहो! मेरी आयु शीघ्रतापूर्वक नष्ट हो रही है। मैंने पापोंके निवारणके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं किया, अतः उन पापोंका फल मैं कितने जन्मोंतक भोगूँगा?'—

इस प्रकार स्वयं ही अपनी निन्दा करते हुए उस व्याधने आन्तरिक संतापकी अग्निसे झुलसकर तुरंत प्राण त्याग दिये। व्याधको गिरा हुआ देख महर्षि उत्तङ्को बड़ी दया आयी और उन महाबुद्धिमान् मुनिने भगवान् विष्णुके चरणोदकसे उसके शरीरको सींच दिया। भगवान्‌के चरणोदकका स्पर्श पाकर उसके पाप नष्ट हो गये और वह व्याध दिव्य शरीरसे दिव्य विमानपर बैठकर मुनिसे इस प्रकार बोला।

गुलिकने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनिश्रेष्ठ उत्तङ्कजी! आप मेरे गुरु हैं। आपके ही

१. यद्वावि तद्वत्प्येव यद्भाव्यं न तद्वेत्। इति निश्चितबुद्धीनां न चिन्ता बाधते क्वचित्॥

(ना० पूर्व० ३७। ४७)

२. अर्जितं च धनं सर्वं भुञ्जते बान्धवाः सदा। स्वयमेकतमो

मूढस्तत्पापफलमशनुते॥

(ना० पूर्व० ३७। ५१)

प्रसादसे मुझे इन महापातकोंसे छुटकारा मिला है। मुनीश्वर! आपके उपदेशसे मेरा संताप दूर हो गया और सम्पूर्ण पाप भी तुरंत नष्ट हो गये। मुने! आपने मेरे ऊपर जो भगवान्‌का चरणोदक छिड़का है, उसके प्रभावसे आज मुझे आपने भगवान्‌विष्णुके परम पदको पहुँचा दिया। विप्रवर! आपके द्वारा इस पापमय शरीरसे मेरा उद्धार हो गया; इसलिये मैं आपके चरणोंमें मस्तक नवाता हूँ। विद्वन्! मेरे किये हुए अपराधको आप क्षमा करें।

ऐसा कहकर उसने मुनिवर उत्तङ्कपर दिव्य

पुष्पोंकी वर्षा की और विमानसे उत्तरकर तीन बार परिक्रमा करके उन्हें नमस्कार किया। तदनन्तर पुनः उस दिव्य विमानपर चढ़कर गुलिक भगवान्‌विष्णुके धामको चला गया। यह सब प्रत्यक्ष देखकर तपोनिधि उत्तङ्कजी बड़े विस्मयमें पड़े और उन्होंने सिरपर अङ्गलि रखकर लक्ष्मीपति भगवान्‌विष्णुका स्तवन किया। उनके द्वारा स्तुति करनेपर भगवान्‌महाविष्णुने उन्हें उत्तम वर दिया और उस वरसे उत्तङ्कजी भी परम पदको प्राप्त हो गये।

उत्तङ्कके द्वारा भगवान्‌विष्णुकी स्तुति और भगवान्‌की आज्ञासे उनका नारायणाश्रममें जाकर मुक्त होना

नारदजीने पूछा—महाभाग! वह कौन-सा स्तोत्र था और उसके द्वारा भगवान्‌विष्णु किस प्रकार संतुष्ट हुए? पुण्यात्मा पुरुष उत्तङ्कजीने भगवान्से कैसा वर प्राप्त किया?

श्रीसनकजीने कहा—भगवान्‌विष्णुके ध्यानमें तत्पर रहनेवाले विप्रवर उत्तङ्कने उस समय भगवान्‌के चरणोदकका माहात्म्य देखकर उनकी भक्तिभावसे स्तुति की।

उत्तङ्कजी बोले—जो सम्पूर्ण जगत्‌के निवासस्थान और उसके एकमात्र बन्धु हैं, उन आदिदेव भगवान्‌नारायणको मैं नमस्कार करता हूँ। जो स्मरण करनेमात्रसे भक्तजनोंकी सारी पीड़ा नष्ट कर देते हैं, अपने हाथोंमें चक्र, कमल, शार्ङ्गधनुष और खडग धारण करनेवाले उन महाविष्णुकी मैं शरण लेता हूँ। जिनकी नाभिसे प्रकट हुए कमलसे उत्पन्न होकर ब्रह्माजी इन सम्पूर्ण लोकोंके समुदायकी सुष्ठि करते हैं और जिनके क्रोधसे प्रकट हुए भगवान्‌रुद्र इस जगत्‌का संहार किया करते हैं, उन आदिदेव भगवान्‌विष्णुको मैं प्रणाम करता हूँ। जो लक्ष्मीजीके पति हैं, जिनके कमलदलके समान

विशाल नेत्र हैं, जिनकी शक्ति अद्भुत है, जो सम्पूर्ण जगत्‌के एकमात्र कारण तथा वेदान्तवेद्य पुराणपुरुष हैं, उन तेजोराशि भगवान्‌विष्णुकी मैं शरण लेता हूँ। जो सबके आत्मा, अविनाशी और सर्वव्यापी हैं, जिनका नाम अच्युत है, जो ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानियोंको शरण देनेवाले हैं, एकमात्र ज्ञानसे ही जिनके तत्त्वका बोध होता है, जिनका कोई आदि नहीं है, यह व्यष्टि और समष्टि जगत्‌जिनका ही स्वरूप है, वे भगवान्‌विष्णु मुझपर प्रसन्न हों। जिनके बल और पराक्रमका अन्त नहीं है, जो गुण और जातिसे हीन तथा गुणस्वरूप हैं, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, नित्य तथा शरणागतोंकी पीड़ा दूर करनेवाले हैं, वे दयासागर परमात्मा मुझे वर प्रदान करें। जो स्थूल और सूक्ष्म आदि विशेष भेदोंसे युक्त जगत्‌की यथायोग्य रचना करके अपने बनाये हुए उस जगत्‌में स्वयं ही अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हुए हैं, वह परमेश्वर आप ही हैं। हे अनन्त शक्ति-सम्पन्न परमात्मन्‌! वह सब जगत्‌आप ही हैं; क्योंकि आपसे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है। भगवन्‌आपका जो शुद्ध स्वरूप है वह इन्द्रियातीत,

मायाशून्य, गुण और जाति आदिसे रहित, निरज्जन, निर्मल और अप्रमेय है। ज्ञानी संत-महात्मा उस परमार्थस्वरूपका दर्शन करते हैं। जैसे एक ही सुवर्णसे अनेक आभूषण बनते हैं और उपाधिके भेदसे उनके नाम और रूपमें भेद हो जाता है, उसी प्रकार सबके आत्मस्वरूप एक ही सर्वेश्वर उपाधि-भेदसे मानो भिन्न-भिन्न रूपोंमें दृष्टिगोचर होते हैं। जिनकी मायासे मोहित चित्तवाले अज्ञानी पुरुष आत्मारूपसे प्रसिद्ध होते हुए भी उनका दर्शन नहीं कर पाते और मायासे रहित होनेपर वे ही उन सर्वात्मा परमेश्वरको अपने ही आत्माके रूपमें देखने लगते हैं, जो सर्वत्र व्यापक, ज्योतिः-स्वरूप तथा उपमारहित हैं, उन विष्णुभगवान्को मैं प्रणाम करता हूँ। यह सारा जगत् जिनसे प्रकट हुआ है, जिनके ही आधारपर स्थित है और जिनसे ही इसे चेतनता प्राप्त हुई है और जिनका ही यह स्वरूप है, उनको नमस्कार है। जो प्रमाणकी पहुँचसे परे हैं, जिनका दूसरा कोई आधार नहीं है, जो स्वयं ही आधार और आधेयरूप हैं, उन परमानन्दमय चैतन्यस्वरूप भगवान् वासुदेवको मैं नमस्कार करता हूँ। सबकी हृदयगुहामें जिनका निवास है, जो देवस्वरूप तथा योगियोंद्वारा सेवित हैं और प्रणवमें उसके अर्थ एवं अधिदेवतारूपमें जिनकी स्थिति है, उन योगमार्गके आदिकारण परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ। जो नादस्वरूप, नादके बीज, प्रणवरूप, सत्स्वरूप अविनाशी तथा सच्चिदानन्दमय हैं, उन तीक्ष्ण चक्र धारण करनेवाले भगवान् विष्णुको मैं प्रणाम करता हूँ। जो जरा आदिसे रहित, इस जगत्के साक्षी, मनवाणीके अगोचर, निरञ्जन तथा अनन्त नामसे प्रसिद्ध हैं, उन विष्णुरूप भगवान्को मैं प्रणाम करता हूँ। इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सत्त्व, तेज, बल, धृति, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—इन सबको भगवान्

वासुदेवका स्वरूप कहा गया है। विद्या और अविद्या भी उन्हींके रूप हैं। वे ही परात्पर परमात्मा कहे गये हैं। जिनका आदि और अन्त नहीं है तथा जो सबका धारण-पोषण करनेवाले हैं, उन शान्तस्वरूप भगवान् अच्युतकी जो महात्मा शरण लेते हैं, उन्हें सनातन मोक्ष प्राप्त होता है। जो श्रेष्ठ, वरण करनेयोग्य, वरदाता, पुराण, पुरुष, सनातन, सर्वगत तथा सर्वस्वरूप हैं, उन भगवान्को मैं पुनः प्रणाम करता हूँ, पुनः प्रणाम करता हूँ, पुनः प्रणाम करता हूँ, पुनः प्रणाम करता हूँ। जिनका चरणोदक संसाररूपी रोगको दूर करनेवाला वैद्य है, जिनके चरणोंकी धूल निर्मलता (अन्तःशुद्धि)-का साधन है तथा जिनका नाम समस्त पापोंका निवारण करनेवाला है, उन अप्रमेय पुरुष श्रीहरिकी मैं आराधना करता हूँ। जो सदरूप, असदरूप, सदसदरूप और उन सबसे विलक्षण हैं तथा जो श्रेष्ठ एवं श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठतर हैं, उन अविनाशी भगवान् विष्णुका मैं भजन करता हूँ। जो निरञ्जन, निराकार, सर्वत्र परिपूर्ण परमव्योममें विराजमान, विद्या और अविद्यासे परे तथा हृदयकमलमें अन्तर्यामीरूपसे निवास करनेवाले हैं, जो स्वयंप्रकाश, अनिर्देश्य (जाति, गुण और क्रिया आदिसे रहित), महान्-से भी परम महान्, सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, अजन्मा, सब प्रकारकी उपाधियोंसे रहित, नित्य, परमानन्द और सनातन परब्रह्म हैं, उन जगन्निवास भगवान् विष्णुकी मैं शरण लेता हूँ। क्रियानिष्ठ भक्त जिनका भजन करते हैं, योगीजन समाधिमें जिनका दर्शन करते हैं तथा जो पूज्यसे भी परम पूज्य एवं शान्त हैं, उन भगवान् श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ। विद्वान् पुरुष भी जिन्हें देख नहीं पाते, जो इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित और सबसे श्रेष्ठ हैं, उन नित्य अविनाशी विभुको मैं प्रणाम करता हूँ।

अन्तःकरणके संयोगसे जिन्हें जीव कहा जाता है और अविद्याके कार्यसे रहित होनेपर जो परमात्मा कहलाते हैं, यह सम्पूर्ण जगत् जिनका स्वरूप है, जो सबके कारण, समस्त कर्मोंके फलदाता, श्रेष्ठ, वरण करनेयोग्य तथा अजन्मा हैं, उन परात्पर भगवान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ। जो सर्वज्ञ, सर्वगत, सर्वान्तर्यामी, ज्ञानस्वरूप, ज्ञानके आश्रय तथा ज्ञानमें स्थित हैं, उन सर्वव्यापी श्रीहरिका मैं भजन करता हूँ। जो वेदोंके निधि हैं, वेदान्तके विज्ञानद्वारा जिनके परमार्थस्वरूपका भलीभाँति निश्चय होता है, सूर्य और चन्द्रमाके तुल्य जिनके प्रकाशमान नेत्र हैं, जो ऐश्वर्यशाली इन्द्ररूप हैं, आकाशमें विचरनेवाले पक्षी एवं ग्रह-नक्षत्र आदि जिनके स्वरूप हैं तथा जो खगपति (गरुड़)- स्वरूप हैं, उन भगवान्‌मुरारिको मैं प्रणाम करता हूँ। जो सबके ईश्वर, सबमें व्यापक, महान् वेदस्वरूप, वेद-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ, वाणी और मनकी पहुँचसे परे, अनन्त शक्तिसम्पन्न तथा एकमात्र ज्ञानके ही द्वारा जाननेयोग्य हैं, उन परम पुरुष श्रीहरिका मैं भजन करता हूँ। जिनकी सत्ता सर्वत्र परिपूर्ण है, जो इन्द्र, अग्नि, यम, निर्वृति, वरुण, वायु, सोम, ईशान, सूर्य तथा पुरन्दर आदिके द्वारा स्वयं ही सब लोकोंकी रक्षा करते हैं, उन अप्रमेय

परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ। जिनके सहस्रों मस्तक, सहस्रों पैर, सहस्रों भुजाएँ और सहस्रों नेत्र हैं, जो सम्पूर्ण यज्ञोंसे सेवित तथा सबको संतोष प्रदान करनेवाले हैं, उन उग्रशक्तिसम्पन्न आदिपुरुष श्रीहरिको मैं प्रणाम करता हूँ। जो कालस्वरूप, काल-विभागके हेतु, तीनों गुणोंसे अतीत, गुणज्ञ, गुणप्रिय, कामना पूर्ण करनेवाले, सङ्गरहित, अतीन्द्रिय, विश्वपालक, तृष्णाहीन, निरीह, श्रेष्ठ, मनके द्वारा भी अगम्य, मनोमय और अन्नमय स्वरूप, सबमें व्यास, विज्ञानसे सम्पन्न तथा शक्तिशाली हैं, जो वाणीके विषय नहीं हो सकते तथा जो सबके प्राणस्वरूप हैं, उन भगवान्‌का मैं भजन करता हूँ। जिनके रूपको, जिनके बल और प्रभावको, जिनके विविध कर्मोंको तथा जिनके प्रमाणको ब्रह्मा आदि देवता भी नहीं जानते, उन आत्मस्वरूप श्रीहरिकी स्तुति मैं कैसे कर सकता हूँ? मैं संसार-समुद्रमें गिरा हुआ एक दीन मनुष्य हूँ मोहसे व्याकुल हूँ, सैकड़ों कामनाओंने मुझे बाँध रखा है। मैं अकीर्तिभागी, चुगला, कृतघ्न, सदा अपवित्र, पापपरायण तथा अत्यन्त क्रोधी हूँ। दयासागर! मुझ भयभीतकी रक्षा कीजिये। मैं बार-बार आपकी शरण लेता हूँ*।

महर्षि उत्तरङ्के द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये

* नतोऽस्मि नारायणमादिदेवं जगन्निवासं जगदेकबन्धुम् । चक्राब्जशार्द्धसिधं र महान्तं स्मृतार्तिनिघं शरणं प्रपद्ये ॥
यत्राभिजाब्जप्रभवो विधाता सृजत्यमुं लोकसमुच्यं च । यत्कोधजो हन्ति जगच्च रुद्रस्तमादिदेवं प्रणतोऽस्मि विष्णुम् ॥
पद्मापतिं पद्मदलायताक्षं विचित्रवीर्यं निखिलैकहेतुम् । वेदान्तवेद्यं पुरुषं पुराणं तेजोनिधिं विष्णुमहं प्रपन्नः ॥
आत्माक्षरः सर्वगतोऽच्युताख्यो ज्ञानात्मको ज्ञानविदां शरण्यः । ज्ञानैकवेद्यो भगवाननादिः प्रसीदतां व्यष्टिसमष्टिरूपः ॥
अनन्तवीर्यो गुणजातिहीनो गुणात्मको ज्ञानविदां वरिष्ठः । नित्यः प्रपन्नार्तिहरः परात्मा दयाम्बुधिर्में वरदस्तु भूयात् ॥
यः स्थूलसूक्ष्मादिविशेषभेदैर्जगद्यथावत्स्वकृतं प्रविष्टः । त्वमेव तत्सर्वमनन्तसारः त्वतः परं नास्ति यतः परात्मन् ॥
अगोचरं यत्तव शुद्धरूपं मायाविहीनं गुणजातिहीनम् । निरञ्जनं निर्मलमप्रमेयं पश्यन्ति सन्तः परमार्थसंज्ञम् ॥
एकेन हेमैव विभूषणानि यातानि भेदत्वमुपाधिभेदात् । तथैव सर्वेश्वर एक एव प्रदृश्यते भिन्न इवाखिलात्मा ॥
यन्मायया मोहितचेतसस्तं पश्यन्ति नात्मानमपि प्रसिद्धम् । त एव मायारहितास्तदेव पश्यन्ति सर्वात्मकमात्मरूपम् ॥
विभुं ज्योतिरनौपम्यं विष्णुसंज्ञं नमाम्यहम् । समस्तमेतदुद्भूतं यतो यत्र प्रतिष्ठितम् ॥

जानेपर परम दयालु तथा तेजोनिधि भगवान् लक्ष्मीपतिने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। उनके श्रीअङ्गोंकी कान्ति अलसीके फूलकी भाँति श्याम थी। दोनों नेत्र खिले हुए कमलकी शोभा धारण करते थे। मस्तकपर किरीट, दोनों कानोंमें कुण्डल, गलेमें हार और भुजाओंमें केयूरकी अपूर्व शोभा हो रही थी। उन्होंने वक्षःस्थलपर श्रीवत्सचिह्न और कौस्तुभमणि धारण कर रखी

थी। सुवर्णमय यज्ञोपवीत उनके बायें कंधेपर सुशोभित हो रहा था। नाकमें पहनी हुई मुक्तामणिकी प्रभासे उनके श्रीअङ्गोंकी श्याम कान्ति और बढ़ गयी थी। वे श्रीनारायणदेव पीताम्बर धारण करके वनमालासे विभूषित हो रहे थे। तुलसीके कोमल दलोंसे उनके चरणारविन्दोंकी अर्चना की गयी थी। उनके श्रीविग्रहका महान् प्रकाश सब ओर छा रहा था। कटिप्रदेशमें किंकिणी और

यतश्चैतन्यमायातं यद्गूपं तस्य वै नमः । अप्रमेयमनाधारमाधाराधेयरूपकम् ॥
 परमानन्दचिन्मात्रं वासुदेवं नतोऽस्यहम् । हृदगुहनिलयं देवं योगिभिः परिसेवितम् ॥
 योगानामादिभूतं तं नमामि प्रणवस्थितम् । नादात्मकं नादबीजं प्रणवात्मकमव्ययम् ॥
 सद्ग्रावं सच्चिदानन्दं तं बन्दे तिग्मचक्रिणम् । अजरं साक्षिणं त्वस्य ह्वाङ्मनसगोचरम् ॥
 निरञ्जनमनन्ताख्यं विष्णुरूपं नतोऽस्यहम् । इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः ॥
 वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च । विद्याविद्यात्मकं प्राहुः परात्परतं तथा ॥
 अनादिनिधनं शान्तं सर्वधातारमच्युतम् । ये प्रपत्रा महात्मानस्तेषां मुक्तिर्हि शाश्वती ॥
 वरं वरेण्यं वरदं पुराणं सनातनं सर्वगतं समस्तम् ।
 नतोऽस्मि भूयोऽपि नतोऽस्मि भूयो नतोऽस्मि भूयोऽपि नतोऽस्मि भूयः ॥
 यत्पादतोयं भवरोगवैद्यो यत्पादपांशुर्विमलत्वसिद्धै । यन्नाम दुष्कर्मनिवारणाय तमप्रमेयं पुरुषं भजामि ॥
 सद्गूपं तमसद्गूपं सदसद्गूपमव्ययम् । तत्तद्विलक्षणं श्रेष्ठं श्रेष्ठाच्छ्रेष्ठतरं भजे ॥
 निरञ्जनं निराकारं पूर्णमाकाशमध्यगम् । परं च विद्याविद्याभ्यां हृदम्बुजनिवासिनम् ॥
 स्वप्रकाशमनिर्देश्यं महतां च महत्तरम् । अणोरणीयांसमजं सर्वोपाधिविवर्जितम् ॥
 यन्त्रित्यं परमानन्दं परं ब्रह्म सनातनम् । विष्णुसंज्ञं जगद्वाम तमस्मि शरणं गतः ॥
 यं भजन्ति क्रियानिष्ठा यं पश्यन्ति च योगिनः । पूज्यात्पूज्यतरं शान्तं गतोऽस्मि शरणं प्रभुम् ॥
 यं न पश्यन्ति विद्वांसो य एतद् व्याप्य तिष्ठति । सर्वस्मादधिकं नित्यं नतोऽस्मि विभुमव्ययम् ॥
 अन्तःकरणसंयोगजीव इत्युच्यते च यः । अविद्याकार्यरहितः परमात्मेति गीयते ॥
 सर्वात्मकं सर्वहेतुं सर्वकर्मफलप्रदम् । वरं वरेण्यमजनं प्रणतोऽस्मि परात्परम् ॥
 सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं सर्वान्तर्यामिणं हरिम् । ज्ञानात्मकं ज्ञाननिधिं ज्ञानसंस्थं विभुं भजे ॥
 नमाम्यहं वेदनिधिं मुरारि वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थम् । सूर्येन्दुवत्प्रोज्वलनेत्रमिन्द्रं खगस्वरूपं च पतिस्वरूपम् ॥
 सर्वेश्वरं सर्वगतं महानं वेदात्मकं वेदविदां वरिष्ठम् । तं वाङ्मनोऽचिन्त्यमनन्तशक्तिं ज्ञानैकवेद्यं पुरुषं भजामि ॥
 इन्द्राग्निकालासुरपाशिवायुसोमेशमार्त्तण्डपुरन्दराद्यैः । यः पाति लोकान्यरिपूर्णभावस्तमप्रमेयं शरणं प्रपद्ये ॥
 सहस्रशीर्षं च सहस्रपादं सहस्रबाहुं च सहस्रनेत्रम् । समस्तयज्ञैः परिज्ञात्माद्यं नतोऽस्मि तुष्टिप्रदमुग्रवीर्यम् ॥
 कालात्मकं कालविभागहेतुं गुणत्रयातीतमहं गुणज्ञम् । गुणप्रियं कामदमस्तसङ्गमतीन्द्रियं विश्वभुजं वितृष्णम् ॥
 निरीहमग्रं मनसाप्यगम्यं मनोमयं चात्रमयं निरूढम् । विज्ञानभेदं प्रतिपत्रकल्पं न वाङ्मयं प्राणमयं भजामि ॥
 न यस्य रूपं न बलप्रभावौ न यस्य कर्माणि न यत्प्रमाणम् । जानन्ति देवाः कमलोद्धवाद्याः स्तोषाम्यहं तं कथमात्मरूपम् ॥
 संसारसिन्धौ पतितं कदर्यं मोहाकुलं कामशतेन बद्धम् । अकीर्तिभाजं पिशुं कृतज्ञं सदाशुचिं पापरतं प्रमन्युम् ।
 दयाम्बुधे पाहि भयाकुलं मां पुनः पुनस्त्वां शरणं प्रपद्ये ॥ (ना० पूर्व० ३८ । ३—३८)

चरणोंमें नूपुर आदि आभूषण उनकी शोभा बढ़ा रहे थे। उनकी फहराती हुई ध्वजामें गरुड़का चिह्न सुशोभित था। इस रूपमें भगवान् का दर्शन करके विप्रवर उत्तङ्कने पृथ्वीपर दण्डकी भाँति पड़कर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया* और आनन्दके आँसुओंसे श्रीहरिके दोनों चरणोंको नहला दिया। फिर वे एकाग्रचित्त होकर बोले—‘मुरारे! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।’ तब परम दयालु भगवान् महाविष्णुने मुनिश्रेष्ठ उत्तङ्कको उठाकर छातीसे लगा लिया और कहा—‘वत्स! कोई वर



माँगो। साधुशिरोमणे! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, अतः तुम्हारे लिये कुछ भी असम्भव नहीं है।’ भगवान् चक्रपाणिके इस कथनको सुनकर महर्षि उत्तङ्कने पुनः प्रणाम किया और उन देवाधिदेव जनार्दनसे

इस प्रकार कहा—‘भगवन्! मुझे मोहमें क्यों डालते हैं? देव! मुझे दूसरे वरोंसे क्या प्रयोजन है? मेरी तो जन्म-जन्मान्तरोंमें भी आपके चरणोंमें ही अविचल भक्ति बनी रहे।’ तब जगदीश्वर भगवान् विष्णुने ‘एवमस्तु’ (ऐसा ही होगा) यह कहकर शङ्खके सिरेसे उत्तङ्कजीके शरीरका स्पर्श कराया और उन्हें वह दिव्य ज्ञान दे दिया जो योगियोंके लिये भी दुर्लभ है। तदनन्तर पुनः स्तुति करते हुए विप्रवर उत्तङ्कसे देवदेव जनार्दनने उनके सिरपर हाथ रखकर मुसकराते हुए कहा।

श्रीभगवान् बोले—जो मनुष्य तुम्हारे द्वारा किये हुए स्तोत्रका सदा पाठ करेगा, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त करके अन्तमें मोक्षका भागी होगा।

नारदजी! ब्राह्मणसे ऐसा कहकर भगवान् लक्ष्मीपति वहीं अन्तर्धान हो गये। फिर उत्तङ्कजी भी वहाँसे बदरिकाश्रमको चले गये। अतः सदा देवाधिदेव भगवान् विष्णुकी भक्ति करनी चाहिये। हरिभक्ति श्रेष्ठ कही गयी है। वह सम्पूर्ण मनोवाच्चित फलोंको देनेवाली है। मुने! नरनारायणके आश्रममें जाकर उत्तङ्कजी क्रियायोगमें तत्पर हो प्रतिदिन भक्तिभावसे भगवान् माधवकी आराधना करने लगे। वे ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न थे। उनका द्वैतभ्रम नाश हो चुका था। अतः उन्होंने भगवान् विष्णुके दुर्लभ परम पदको प्राप्त कर लिया। भक्तोंका सम्मान बढ़ानेवाले जगदीश्वर भगवान् नारायण पूजन, नमस्कार अथवा स्मरण कर लेनेपर भी

* अतसीपृष्ठसंकाशं

श्रीवत्सकौस्तुभधरं

पीताम्बरधरं देवं

किञ्चिणीनूपुराद्यैश्च

फुल्लपङ्कजलोचनम्।

हैमयज्ञोपवीतिनम्।

वनमालाविभूषितम्।

गरुडध्वजम्।

किरीटिनं कुण्डलिनं

हारकेयूरभूषितम्॥

नासाविन्यस्तमुक्ताभवर्धमानतनुच्छविम्

महाद्युतिम्॥

(ना० पूर्व० ३८। ४०—४३)

जीवको मोक्ष प्रदान करते हैं^१। अतः इहलोक और परलोकमें सुख चाहनेवाला मनुष्य अनन्त, अपराजित श्रीनारायणदेवका भक्तिपूर्वक पूजन

करे। जो इस उपाख्यानको पढ़ता अथवा एकाग्रचित्त होकर सुनता है, वह भी सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके धाममें जाता है।

भगवान् विष्णुके भजन-पूजनकी महिमा

श्रीसनकजी कहते हैं—विप्रवर नारद! अब पुनः भगवान् विष्णुका माहात्म्य सुनो; वह सर्वपापहारी, पवित्र तथा मनुष्योंको भोग और मोक्ष देनेवाला है। अहो! संसारमें भगवान् विष्णुकी कथा अद्भुत है। वह श्रोता, वक्ता तथा विशेषतः भक्तजनोंके पापोंका नाश और पुण्यका सम्पादन करनेवाली है। जो श्रेष्ठ मानव भगवद्भक्तिका रसास्वादन करके प्रसन्न होते हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ। उनका सङ्ग करनेसे साधारण मनुष्य भी मोक्षका भागी होता है। मुनिश्रेष्ठ! जो संसार-सागरके पार जाना चाहता हो, वह भगवद्भक्तोंके भक्तोंकी सेवा करे, क्योंकि वे सब पापोंको हर लेनेवाले हैं। दर्शन, स्मरण, पूजन, ध्यान अथवा प्रणाममात्र कर लेनेपर भगवान् गोविन्द दुस्तर भवसागरसे उद्धार कर देते हैं। जो सोते, खाते, चलते, ठहरते, उठते और बोलते हुए भी भगवान् विष्णुके नामका चिन्तन करता है, उसे प्रतिदिन बारम्बार नमस्कार है। जिनका मन भगवान् विष्णुकी भक्तिमें अनुरक्त है, उनका अहोभाग्य है, अहोभाग्य है; क्योंकि योगियोंके लिये भी

दुर्लभ मुक्ति उन भक्तोंके हाथमें ही रहती है^२। विप्रवर नारद! जानकर या बिना जाने भी जो लोग भगवान्‌की पूजा करते हैं, उन्हें अविनाशी भगवान् नारायण अवश्य मोक्ष देते हैं। सब भाई-बन्धु अनित्य हैं। धन-वैभव भी सदा रहनेवाला नहीं है और मृत्यु सदा समीप खड़ी रहती है—यह सोचकर धर्मका संचय करना चाहिये^३। मूर्खलोग मदसे उन्मत्त होकर व्यर्थ गर्व करते हैं। जब शरीरका ही विनाश निकट है तो धन आदिकी तो बात ही क्या कही जाय? तुलसीकी सेवा दुर्लभ है, साधु पुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ है और सम्पूर्ण भूतोंके प्रति दयाभाव भी किसी विरलेको ही सुलभ होता है। सत्सङ्ग, तुलसीकी सेवा तथा भगवान् विष्णुकी भक्ति—ये सभी दुर्लभ हैं। दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर विद्वान् पुरुष उसे व्यर्थ न गँवाये। जगदीश्वर श्रीहरिकी पूजा करे। द्विजोत्तम! इस संसारमें यही सार है। मनुष्य यदि दुस्तर भवसागरके पार जाना चाहता है तो वह भगवान्‌के भजनमें तत्पर हो जाय। यही रसायन

१. पूजितो नमितो वापि संस्मृतो वापि मोक्षदः। नारायणो जगत्राथो भक्तानां मानवर्द्धनः॥

(ना० पूर्व० ३८। ५७)

२. संसारसागरं तर्तु य इच्छेन्मुनिपुङ्गव। स भजेद्दरिभक्तानां भक्तान्वै पापहारिणः॥

दृष्टः स्मृतः पूजितो वा ध्यातः प्रणमितोऽपि वा। समुद्धरति गोविन्दो दुस्तराद् भवसागरात्॥

स्वपन् भुजन् व्रजस्तिष्ठनुत्तिष्ठ वदंस्तथा। चिन्तयेद्यो हरेनामि तस्मै नित्यं नमो नमः॥

अहो भाग्यमहो भाग्यं विष्णुभक्तिरतात्मनाम्। येषां मुक्तिः करस्यैव योगिनामपि दुर्लभा॥

(ना० पूर्व० ३९। ५—८)

३. अनित्या बान्धवाः सर्वे विभवो नैव शाश्वतः। नित्यं सञ्चिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥

(ना० पूर्व० ३९। ४९)

है। भैया! भगवान् गोविन्दका आश्रय लो। प्रिय मित्र! इस कार्यमें विलम्ब न करो; क्योंकि यमराजका नगर निकट ही है। जो महात्मा पुरुष सबके आधार, सम्पूर्ण जगत्के कारण तथा समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी भगवान् विष्णुकी शरण ले चुके हैं, वे निस्संदेह कृतार्थ हो गये हैं। जो लोग प्रणतजनोंकी पीड़का नाश करनेवाले भगवान् महाविष्णुकी पूजा करते हैं, वे वन्दनीय हैं। जो विष्णुभक्त पुरुष निष्कामभावसे परमेश्वर श्रीहरिका यजन करते हैं, वे इक्कीस पीढ़ियोंके साथ वैकुण्ठधाममें जाते हैं। जो कुछ भी न चाहनेवाले महात्मा भगवद्भक्तको जल अथवा फल देते हैं, वे ही भगवान्‌के प्रेमी हैं। जो कामनारहित होकर भगवान् विष्णुके भक्तों तथा भगवान् विष्णुका भी पूजन करते हैं, वे ही अपने चरणोंकी धूलसे सम्पूर्ण विश्वको पवित्र करते हैं^१। जिसके घरमें सदा भगवत्पूजापरायण पुरुष निवास करता है, वहीं सम्पूर्ण देवता तथा साक्षात् श्रीहरि विराजमान होते हैं। ब्रह्मन्! जिसके घरमें तुलसी पूजित होती हैं, वहाँ प्रतिदिन सब प्रकारके श्रेयकी वृद्धि होती है। जहाँ शालग्रामशिलारूपमें भगवान् केशव निवास करते हैं, वहाँ भूत, वेताल आदि ग्रह बाधा नहीं

पहुँचाते। जहाँ शालग्रामशिला विद्यमान है, वह स्थान तीर्थ है, तपोवन है, क्योंकि शालग्रामशिलामें साक्षात् भगवान् मधुसूदन निवास करते हैं। ब्रह्मन्! पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र तथा छः अङ्गोंसहित वेद—ये सब भगवान् विष्णुके स्वरूप कहे गये हैं। जो भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णुकी चार बार परिक्रमा कर लेते हैं, वे भी



उस परम पदको प्राप्त होते हैं, जहाँ समस्त कर्मबन्धनोंका नाश हो जाता है^२।

१. ये यजन्ति स्पृहाशून्या हरिभक्तान् हरिं तथा। त एव भुवनं सर्वं पुनन्ति स्वाङ्ग्नि पांशुना॥

(ना० पूर्व० ३९। ६४)

२. भक्त्या कुर्वन्ति ये विष्णोःप्रदक्षिणचतुष्टयम्। तेऽपि यान्ति परं स्थानं सर्वकर्मनिर्बहर्णम्॥

(ना० पूर्व० ३९। ७१)

इन्द्र और सुधर्मका संवाद, विभिन्न मन्वन्तरोंके इन्द्र और देवताओंका वर्णन तथा भगवत्-भजनका महात्म्य

श्रीसनकजी कहते हैं—मुने! इसके बाद मैं भगवान् विष्णुकी विभूतिस्वरूप मनु और इन्द्र आदिका वर्णन करूँगा। इस वैष्णवी विभूतिका श्रवण अथवा कीर्तन करनेवाले पुरुषोंका पाप तत्काल नष्ट हो जाता है।

एक समय वैवस्वत मन्वन्तरके भीतर ही गुरु बृहस्पति और देवताओंसहित इन्द्र सुधर्मके निवास-स्थानपर गये। देवर्षे! बृहस्पतिजीके साथ देवराजको आया देख सुधर्मने आदरपूर्वक उनकी यथायोग्य पूजा की। सुधर्मसे पूजित हो इन्द्रने विनयपूर्वक कहा।



इन्द्र बोले—विद्वन्! यदि आप बीते हुए ब्रह्मकल्पका वृत्तान्त जानते हैं तो बताइये। मैं यही पूछनेके लिये गुरुजीके साथ आया हूँ।

देवराज इन्द्रके ऐसा कहनेपर सुधर्म हँस पड़ा

और उसने विनयपूर्वक पूर्वकल्पकी सब बातोंका विधिवत् वर्णन किया।

सुधर्मने कहा—इन्द्र! एक सहस्र चतुर्युगीका ब्रह्माजीका एक दिन होता है और उनके एक दिनमें चौदह मनु, चौदह इन्द्र तथा पृथक्-पृथक् अनेक प्रकारके देवता हुआ करते हैं। वासव! सभी इन्द्र और मनु आदि तेज, लक्ष्मी, प्रभाव और बलमें समान ही होते हैं। मैं उन सबके नाम बतलाता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो। सबसे पहले स्वायम्भुव मनु हुए। तदनन्तर ऋमशः स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, सातवें वैवस्वत मनु, आठवें सूर्यसावर्णि और नवें दक्षसावर्णि हैं। दसवें मनुका नाम ब्रह्मसावर्णि और ग्यारहवेंका धर्मसावर्णि है। तदनन्तर बारहवें रुद्रसावर्णि तथा तेरहवें रोचमान हुए। चौदहवें मनुका नाम भौत्य बताया गया है। ये चौदह मनु हैं।

देवराज! अब मैं देवताओं और इन्द्रोंका वर्णन करता हूँ सुनो। स्वयम्भू मन्वन्तरमें देवतालोग यामके नामसे विख्यात थे। उनके परम बुद्धिमान् इन्द्रकी शचीपति नामसे प्रसिद्ध थी। स्वारोचिष मन्वन्तरमें पारावत और तृष्णित नामके देवता थे। उनके स्वामी इन्द्रका नाम विपश्चित था। वे सब प्रकारकी सम्पदाओंसे समृद्ध थे। तीसरे उत्तम नामक मन्वन्तरमें सुधामा, सत्य, शिव तथा प्रतर्दन नामवाले देवता थे। उनके इन्द्र सुशान्ति नामसे प्रसिद्ध थे। चौथे तामस मन्वन्तरमें सुपार, हरि, सत्य और सुधी—ये देवता हुए*। शक्र! उन देवताओंके इन्द्रका नाम उस समय शिवि था। पाँचवें (रैवत) मन्वन्तरमें अमिताभ आदि देवता

* विष्णुपुराणमें भी तामस मन्वन्तरके ये ही देवता बताये गये हैं। वहाँका मूल पाठ इस प्रकार है—

तामसस्यान्तरे देवाः सुपाराः हरयस्तथा। सत्याश्च सुधियश्चैव सप्तविंशतिका गुणाः ॥

शिविरिन्द्रस्तथा चासीत् । (३।१। १६-१७)

थे और पाँचवें देवराजका नाम विभु कहा गया है। छठे (चाक्षुष) मन्वन्तरमें आर्य आदि देवता बताये गये हैं। उन सबके इन्द्रका नाम मनोजव था। इस सातवें वैवस्वत मन्वन्तरमें आदित्य, वसु तथा रुद्र आदि देवता हैं और सम्पूर्ण भोगोंसे सम्पन्न आप ही इन्द्र हैं। आपका विशेष नाम पुरन्दर बताया गया है। आठवें सूर्यसावर्णि मन्वन्तरमें अप्रमेय तथा सुतप आदि होनेवाले देवता बताये जाते हैं। भगवान् विष्णुकी आराधनाके प्रभावसे राजा बलि उनके इन्द्र होंगे। नवें दक्षसावर्णि मन्वन्तरमें पार आदि देवता होंगे और उनके इन्द्रका नाम अद्वृत बताया जाता है। दसवें ब्रह्मसावर्णि मन्वन्तरमें सुवासन आदि देवता कहे गये हैं। उनके इन्द्रका नाम शान्ति होगा। चौरहवें धर्मसावर्णि मन्वन्तरमें विहङ्गम आदि देवता होंगे और उनके इन्द्र वृष नामसे प्रसिद्ध होंगे। बारहवें रुद्रसावर्णि मन्वन्तरमें हरित आदि देवता तथा ऋतुधामा नामवाले इन्द्र होंगे। तेरहवें रोचमान या रौच्य नामक मन्वन्तरमें सुत्रामा आदि देवता होंगे। उनके महापराक्रमी इन्द्रका नाम दिवस्पति कहा जाता है। चौदहवें भौत्य मन्वन्तरमें चाक्षुष आदि देवता होंगे और उनके इन्द्रकी शुचि नामसे प्रसिद्ध होगी। देवराज! इस प्रकार मैंने भूत और भविष्य मनु, इन्द्र तथा देवताओंका यथार्थ वर्णन किया है। ये सब ब्रह्माजीके एक दिनमें अपने अधिकारका उपभोग करते हैं। सम्पूर्ण लोकों तथा सभी स्वर्गोंमें एक ही तरहकी सृष्टि कही गयी है। उस सृष्टिके विधाता बहुत हैं। उनकी संख्या यहाँ कौन जानता है? देवराज! मेरे ब्रह्मलोकमें रहते समय बहुत-से ब्रह्मा आये और चले गये। आज मैं उनकी संख्या बतानेमें असमर्थ

हूँ। इस स्वर्गलोकमें आकर भी मेरा जितना समय बीता है, उसको सुनो—‘अबतक चार मनु बीत गये, किंतु मेरी समृद्धिका विस्तार बढ़ता ही गया। प्रभो! अभी मुझे सौ करोड़ युगोंतक यहीं रहना है। तत्पश्चात् मैं कर्मभूमिको जाऊँगा।’

महात्मा सुधर्मके ऐसा कहनेपर देवराज मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और निरन्तर भगवान् विष्णुकी आराधनामें लग गये। यद्यपि देवतालोग स्वर्गका सुख भोगते हैं तथापि वे सब इस भारतवर्षमें जन्म पानेके लिये लालायित रहते हैं। जो भगवान् नारायणकी पूजा करते हैं, उन महात्माओंकी पूजा सदा ब्रह्मा आदि देवता किया करते हैं। जो महात्मा सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहका त्याग करके निरन्तर भगवान् नारायणके चिन्तनमें लगे रहते हैं, उन्हें भयङ्कर संसारका बन्धन कैसे प्राप्त हो सकता है? यदि कोई उन महापुरुषोंके सङ्गका लोभ रखते हैं तो वे भी मोक्षके भागी हो जाते हैं। जो मानव प्रतिदिन सब प्रकारकी आसक्तियोंका त्याग करके गरुड़वाहन भगवान् नारायणकी अर्चना करते हैं, वे सम्पूर्ण पापराशियोंसे सर्वथा मुक्त होकर हर्षपूर्ण हृदयसे भगवान् विष्णुके कल्याणमय पदको प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य आसक्तिरहित तथा पर-अवर (उत्तम-मध्यम, शुभ-अशुभ)-के ज्ञाता हैं और निरन्तर देवगुरु भगवान् नारायणका चिन्तन करते रहते हैं, उस ध्यानसे उनके अन्तःकरणकी सारी पापराशि नष्ट हो जाती है और वे फिर कभी माताके स्तनोंका दूध नहीं पीते। जो मानव भगवान्की कथा श्रवण करके अपने समस्त दोष-दुर्गुण दूर कर चुके हैं और जिनका चित्त भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंकी

मार्कण्डेयपुराणमें तामस मन्वन्तरके देवता सत्य, सुधी, हरि तथा सुरूप बताये गये हैं और इन्द्रका नाम ‘शिखी’ कहा गया है।

आराधनामें अनुरक्त है, वे अपने शरीरके सङ्ग अथवा सम्भाषणसे भी संसारको पवित्र करते हैं, अतः सदा श्रीहरिकी ही पूजा करनी चाहिये। ब्रह्मन्! जैसे नीची भूमिमें इधर-उधरका सारा जल (सिमट-सिमटकर) एकत्र हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ भगवत्पूजापरायण शुद्धचित्त महापुरुष रहते हैं, वहीं सम्पूर्ण कल्याणका वास

होता है*। भगवान् विष्णु ही सबसे श्रेष्ठ बन्धु हैं। वे ही सर्वोत्तम गति हैं। अतः उन्हींकी निरन्तर पूजा करनी चाहिये, क्योंकि वे ही सबकी चेतनाके कारण हैं। मुनिश्रेष्ठ! तुम स्वर्ग और मोक्षफलके दाता सदानन्दस्वरूप निरामय भगवान् श्रीहरिकी पूजा करो। इससे तुम्हें परम कल्याणकी प्राप्ति होगी।

चारों युगोंकी स्थितिका संक्षेपसे तथा कलिधर्मका विस्तारसे वर्णन एवं भगवन्नामकी अद्भुत महिमाका प्रतिपादन

नारदजीने कहा—मुने! आप तात्त्विक अर्थोंके ज्ञानमें निपुण हैं। अब मैं युगोंकी स्थितिका परिचय सुनना चाहता हूँ।

श्रीसनकजीने कहा—महाप्राज्ञ! साधुवाद, तुमने बहुत अच्छी बात पूछी है। मुने! तुम सम्पूर्ण लोकोंका उपकार करनेवाले हो। अच्छा, अब मैं समस्त जगत्के लिये उपकारी युग-धर्मका वर्णन आरम्भ करता हूँ। किसी समय तो पृथ्वीपर उत्तम धर्मकी वृद्धि होती है और किसी समय वही विनाशको प्राप्त होने लगता है। साधुशिरोमणे! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये चार युग माने गये हैं; इनकी आयु बारह हजार दिव्य वर्षोंकी समझनी चाहिये। वे चारों युग उतने ही सौ वर्षोंकी संध्या और संध्यांशसे युक्त होते हैं। इनकी कला-संख्या सदा एक-सी ही जाननी चाहिये। पहले युगको सत्ययुग कहते हैं, दूसरेका नाम त्रेता है, तीसरेका नाम द्वापर है और अन्तिम युगको कलियुग कहते हैं। इसी क्रमसे इनका आगमन होता है। विप्रवर! सत्ययुगमें

देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा सर्पोंका भेद नहीं था। उस समय सब-के-सब देवताओंके समान स्वभाववाले थे। सब प्रसन्न और धर्मनिष्ठ थे। कृतयुगमें क्रय-विक्रयका व्यापार और वेदोंका विभाग नहीं था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—सभी अपने-अपने कर्तव्यके पालनमें तत्पर रहकर सदा भगवान् नारायणकी उपासना करते थे। सभी अपनी योग्यताके अनुसार तपस्या और ध्यानमें लगे रहते थे। उनमें काम, क्रोध आदि दोष नहीं थे। सब लोग शम-दम आदि सद्गुणोंमें तत्पर थे। सबका मन धर्मसाधनमें लगा रहता था। किसीमें ईर्ष्या तथा दूसरोंके दोष देखनेका स्वभाव नहीं था। सभी लोग दम्भ और पाखण्डसे दूर रहते थे। सत्ययुगके सभी द्विज सत्यवादी, चारों आश्रमोंके धर्मका पालन करनेवाले, वेदाध्ययनसम्पन्न तथा सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण थे। चारों आश्रमोंवाले अपने-अपने कर्मोंके द्वारा कामना और फलासक्तिका त्याग करके परम गतिको प्राप्त होते थे। सत्ययुगमें भगवान् नारायणका

* ये मानवा हरिकथाश्रवणास्तदोषाः कृष्णाङ्ग्रिपद्यभजने रतचेतनाश्च।

ते वै पुनन्ति च जगन्ति शरीरसङ्गात् सम्भाषणादपि ततो हरिरेव पूज्यः ॥

हरिपूजापरा यत्र महान्तः शुद्धबुद्धयः । तत्रैव सकलं भद्रं यथा निम्ने जलं द्विजः ॥

(ना० पूर्व० ४० । ५३-५४)

श्रीविग्रह अत्यन्त निर्मल एवं शुक्लवर्णका होता है। मुनिश्रेष्ठ! त्रेतामें धर्म एक पादसे हीन हो जाता है। (सत्ययुगकी अपेक्षा एक चौथाई कम लोग धर्मका पालन करते हैं।) भगवान्‌के शरीरका वर्ण लाल हो जाता है। उस समय जनताको कुछ क्लेश भी होने लगता है। त्रेतामें सभी द्विज क्रियायोगमें तत्पर रहते हैं। यज्ञ-कर्ममें उनकी निष्ठा होती है। वे नियमपूर्वक सत्य बोलते, भगवान्‌का ध्यान करते, दान देते और न्याययुक्त प्रतिग्रह भी स्वीकार करते हैं। मुनीश्वर! द्वापरमें धर्मके दो ही पैर रह जाते हैं। भगवान् विष्णुका वर्ण पीला हो जाता है और वेदके चार विभाग हो जाते हैं। द्विजोत्तम! उस समय कोई-कोई असत्य भी बोलने लगते हैं। ब्राह्मण आदि वर्णोंमेंसे कुछ लोगोंमें राग-द्वेष आदि दुर्गुण आ जाते हैं। विप्रवर! कुछ लोग स्वर्ग और अपवर्गके लिये यज्ञ करते हैं, कोई धनादिकी कामनाओंमें आसक्त हो जाते हैं और कुछ लोगोंका हृदय पापसे मलिन हो जाता है। द्विजश्रेष्ठ! द्वापरमें धर्म और अधर्म दोनोंकी स्थिति समान होती है। अधर्मके प्रभावसे उस समयकी प्रजा क्षीण होने लगती है। मुनीश्वर! कितने ही लोग द्वापर आनेपर अल्पायु भी होंगे। ब्रह्मन्! कुछ लोग दूसरोंको पुण्यमें तत्पर देखकर उनसे डाह करने लगेंगे। कलियुग आनेपर धर्मका एक ही पैर शेष रह जाता है। इस तामस युगके प्राप्त होनेपर भगवान् श्रीहरि श्याम रंगके हो जाते हैं। उसमें कोई विरला ही धर्मात्मा यज्ञोंका अनुष्ठान करता है और कोई महान् पुण्यात्मा ही क्रियायोगमें तत्पर रहता है। उस समय धर्मपरायण मनुष्यको देखकर सब लोग ईर्ष्या और निन्दा करते हैं। कलियुगमें व्रत और सदाचार नष्ट हो जाते हैं। ज्ञान और यज्ञ आदिकी भी यही दशा होती है।

उस समय अधर्मका प्रचार होनेसे जगत्में उपद्रव होते रहते हैं। सब लोग दूसरोंके दोष बतानेवाले और स्वयं पाखण्डपूर्ण आचारमें तत्पर होते हैं। नारदजीने कहा—मुने! आपने संक्षेपसे ही युगधर्मोंका वर्णन किया है, कृपया कलिका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये; क्योंकि आप धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ हैं। मुनिश्रेष्ठ! कलियुगमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रोंका खान-पान और आचार-व्यवहार कैसा होगा?

श्रीसनकजीने कहा—सब लोकोंका उपकार करनेवाले मुनिश्रेष्ठ! सुनो, मैं कलि-धर्मोंका यथार्थ एवं विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ। कलि बड़ा भयङ्कर युग है। उसमें सब प्रकारके पातकोंका सम्मिश्रण होता है अर्थात् पापोंकी बहुलता होनेके कारण एक पापमें दूसरा पाप शामिल हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र धर्मसे मुँह मोड़ लेते हैं। घोर कलियुग प्राप्त होनेपर सभी द्विज वेदोंसे विमुख हो जाते हैं। सभी किसी-न-किसी बहानेसे धर्ममें लगते हैं। सब दूसरोंके दोष बताया करते हैं। सबका अन्तःकरण व्यर्थ अहङ्कारसे दूषित होता है। पण्डित लोग भी सत्यसे दूर रहते हैं। ‘मैं ही सबसे बड़ा हूँ’ इस प्रकार सभी परस्पर विवाद करते हैं। सब मनुष्य अधर्ममें आसक्त और वितण्डावादी होते हैं। इन्हीं कारणोंसे कलियुगमें सब लोग स्वल्पायु होंगे। ब्रह्मन्! थोड़ी आयु होनेके कारण मनुष्य शास्त्रोंका अध्ययन नहीं कर सकेंगे और विद्याध्ययनशून्य होंगे। उनके द्वारा बार-बार अधर्मपूर्ण बर्ताव होता है। उस समयकी समस्त पापपरायण प्रजा अवस्था-क्रमके विपरीत मरने लगेगी। ब्राह्मण आदि सभी वर्णके लोगोंमें परस्पर संकरता आ जायगी। मूढ़ मनुष्य काम-क्रोधके वशीभूत हो व्यर्थके संतापसे पीड़ित

होंगे। कलियुगमें सब वर्णोंके लोग शूद्रके समान हो जायँगे। उत्तम नीच हो जायँगे और नीच उत्तम। शासकगण केवल धन-संग्रहमें लग जायँगे और अन्यायपूर्ण बर्ताव करेंगे। वे अधिक कर लगाकर प्रजाको पीड़ा देंगे। द्विज लोग शूद्रोंके मुर्दे ढोने लगेंगे और पति अपनी धर्मपत्नियोंके होते हुए भी व्यभिचारमें फँसकर परायी स्त्रियोंसे संगमन करेंगे। पुत्र पितासे और सारी स्त्रियाँ पतिसे द्वेष करेंगी। सब लोग परस्त्रीलम्पट और पराये धनमें आसक्त होंगे। मछलीके मांससे जीवन-निर्वाह करेंगे और बकरी तथा भेड़का भी दूध दुहेंगे। नारदजी! घोर कलियुगमें सब मनुष्य पापपरायण हो जायँगे। सभी लोग श्रेष्ठ पुरुषोंमें दोष देखेंगे और उनका उपहास करेंगे। नदियोंके तटपर भी कुदालसे खोदकर अनाज बोयेंगे। पृथ्वी फलहीन हो जायगी। बीज और फूल भी नष्ट हो जायँगे। युवतियाँ प्रायः वेश्याओंके लावण्य और स्वभावको अपने लिये आदर्श मानकर उसकी अभिलाषा करेंगी। ब्राह्मण धर्म बेचनेवाले होंगे, स्त्रियाँ अपना शरीर बेचेंगी अर्थात् वेश्यावृत्ति करेंगी तथा दूसरे द्विज वेदोंका विक्रिय करनेवाले और शूद्रोंके-से आचरणमें तत्पर होंगे। लोग श्रेष्ठ पुरुषों और विधवाओंके भी धन चुरा लेंगे। ब्राह्मण धनके लिये लोलुप होकर ब्रतोंका पालन नहीं करेंगे। लोग व्यर्थके वाद-विवादमें फँसकर धर्मका आचरण छोड़ बैठेंगे। द्विजलोग केवल दम्भके लिये पितरोंका श्राद्ध आदि कार्य करेंगे। नीच मनुष्य अपात्रोंको ही दान देंगे और केवल दूधके लोभसे गौओंसे प्रेम करेंगे। विप्रगण स्नान-शौच आदि क्रिया छोड़ देंगे। अधम द्विज असमयमें (मुख्यकाल बिताकर) संध्या आदि कर्म करेंगे। मनुष्य साधुओं तथा ब्राह्मणोंकी निन्दामें तत्पर रहेंगे।

नारदजी! प्रायः किसीका मन भगवान् विष्णुके भजनमें नहीं लगेगा। द्विजलोग यज्ञ नहीं करेंगे तथा दुष्ट राजकर्मचारी धनके लिये द्विजोंको भी पीटेंगे। मुने! घोर कलियुगमें सब लोग दानसे मुँह मोड़ लेंगे और ब्राह्मण पतितोंका दिया हुआ दान भी ग्रहण कर लेंगे। कलिके प्रथम पादमें भी मनुष्य भगवान् विष्णुकी निन्दा करेंगे और युगके अन्तिम भागमें तो कोई भगवान्का नामतक नहीं लेगा। कलिमें द्विजलोग शूद्रोंकी स्त्रियोंसे संगम करेंगे, विधवाओंसे व्यभिचारके लिये लालायित होंगे और शूद्रोंके घरकी बनी हुई रसोई भोजन करेंगे। वेदोंक सन्मार्गका त्याग करके कुमार्गपर चलने लगेंगे और चारों आश्रमोंकी निन्दा करते हुए पाखण्डी हो जायँगे। शूद्रलोग द्विजोंकी सेवा नहीं करेंगे और पाखण्ड-चिह्न धारण करके वे द्विजातियोंके धर्मको अपनायेंगे। गेरुआ वस्त्र पहने, जटा बढ़ाये और शरीरमें भस्म रमाये शूद्रलोग झूठी युक्तियाँ देकर धर्मका उपदेश करेंगे। दूषित अन्तःकरणवाले शूद्र संन्यासी बनेंगे। मुने! कलियुगमें लोग केवल सूदसे जीवन-निर्वाह करनेवाले होंगे। धर्महीन अधम मनुष्य पाखण्डी, कापालिक एवं भिक्षु बनेंगे। द्विजश्रेष्ठ! शूद्र ऊँचे आसनपर बैठकर द्विजोंको धर्मका उपदेश करेंगे। ये तथा और भी बहुत-से पाखण्डमत प्रचलित होंगे, जो प्रायः वेदोंकी निन्दा करेंगे। कलिमें प्रायः धर्मके विध्वंसक मनुष्य गाने-बजानेमें कुशल तथा शूद्रोंके धर्मका आश्रय लेनेवाले होंगे। सबके पास थोड़ा धन होगा। प्रायः सभी व्यर्थके चिह्न धारण करनेवाले और वृथा अहंकारसे दूषित होंगे। कलिके नीच मनुष्य दूसरोंका धन हड़पनेवाले होंगे। प्रायः सभी सदा दान लेंगे और उनका स्वभाव जगत्को बुरे मार्गपर ले जानेवाला होगा। सभी

अपनी प्रशंसा और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले होंगे। नारदजी! कलियुगमें अधर्म ही लोगोंका भाई-बन्धु होगा। वे सब-के-सब विश्वासघाती, क्रूर और दयाधर्मसे शून्य होंगे। विप्रवर! घोर कलियुगमें बड़ी-से-बड़ी आयु सोलह वर्षकी होगी और पाँच वर्षकी कन्याके बच्चा पैदा होगा। लोग सात या आठ वर्षकी अवस्थामें जवान कहलायेंगे। सभी अपने कर्मका त्याग करनेवाले कृतञ्ज तथा धर्मयुक्त आजीविकाको भंग करनेवाले होंगे। कलियुगमें द्विज प्रतिदिन भीख माँगनेवाले होंगे। वे दूसरोंका अपमान करेंगे और दूसरोंके ही घरमें रहकर प्रसन्न होंगे। इसी प्रकार दूसरोंकी निन्दामें तत्पर तथा व्यर्थ विश्वास दिलानेवाले लोग सदा पिता, माता और पुत्रोंकी निन्दा करेंगे। वाणीसे धर्मकी बात करेंगे, किंतु उनका मन पापमें आसक्त होगा। धन, विद्या और जवानीके नशेमें मतवाले हो सब लोग दुःख भोगते रहेंगे। रोग-व्याधि, चोर-डाकू तथा अकालसे पीड़ित होंगे। सबके मनमें अत्यन्त कपट भरा होगा और अपने अपराधका विचार न करके व्यर्थ ही दूसरोंपर दोषारोपण करेंगे। पापी मनुष्य धर्ममार्गका संचालन करनेवाले धर्मपरायण पुरुषका तिरस्कार करेंगे। कलियुग आनेपर म्लेच्छ जातिके राजा होंगे। शूद्र लोग भिक्षासे जीवन-निर्वाह करनेवाले होंगे और द्विज उनकी सेवा-शुश्रूषामें संलग्न रहेंगे। इस सङ्कटकालमें न कोई शिष्य होगा, न गुरु; न पुत्र होगा, न पिता और न पत्नी होगी न पति। कलियुगमें धनीलोग भी याचक होंगे और द्विजलोग रसका विक्रय करेंगे। धर्मका चोला पहने हुए मुनिवेषधारी द्विज नहीं बेचनेयोग्य वस्तुओंका विक्रय तथा अगम्या स्त्रीके साथ समागम करेंगे। मुने! नरकके अधिकारी द्विज वेदों और धर्मशास्त्रोंकी

निन्दा करते हुए शूद्रवृत्तिसे ही जीवन-निर्वाह करेंगे।

कलियुगमें सभी मनुष्य अनावृष्टिसे भयभीत होकर आकाशकी ओर आँखें लगाये रहेंगे और क्षुधाके भयसे कातर बने रहेंगे। उस अकालके समय मनुष्य कन्द, पत्ते और फल खाकर रहेंगे और अनावृष्टिसे अत्यन्त दुःखित होकर आत्मघात कर लेंगे। कलियुगमें सब लोग कामवेदनासे पीड़ित, नाटे शरीरवाले, लोभी, अधर्मपरायण, मन्दभाग्य तथा अधिक संतानवाले होंगे। स्त्रियाँ अपने शरीरका ही पोषण करनेवाली तथा वेश्याओंके सौन्दर्य और स्वभावको अपनानेवाली होंगी। वे पतिके वचनोंका अनादर करके सदा दूसरोंके घरमें निवास करेंगी। अच्छे कुलोंकी स्त्रियाँ भी दुराचारिणी होकर सदा दुराचारियोंसे ही स्लेह करेंगी और अपने पुरुषोंके प्रति असद्व्यवहार करनेवाली होंगी। चोर आदिके भयसे डरे हुए लोग अपनी रक्षाके लिये काष्ठ-यन्त्र अर्थात् काठके मजबूत किवाड़ बनायेंगे। दुर्भिक्ष और करकी पीड़ासे अत्यन्त पीड़ित हुए मनुष्य दुःखी होकर गेहूँ और जौ आदि अन्नसे सम्पन्न देशमें चले जायेंगे। लोग हृदयमें निषिद्ध कर्मका संकल्प लेकर ऊपरसे शुभ वचन बोलेंगे। अपने कार्यकी सिद्धि होनेतक ही लोग बन्धुता (सौहार्द) प्रकट करेंगे। संन्यासी भी मित्र आदिके स्लेह-सम्बन्धसे बँधे रहेंगे और अन्न-संग्रहके लिये लोगोंको चेले बनायेंगे। स्त्रियाँ दोनों हाथोंसे सिर खुजलाती हुई बड़ोंकी तथा पतिकी आज्ञाका उल्लङ्घन करेंगी। जिस समय द्विज पाखण्डी लोगोंका साथ करके पाखण्डपूर्ण बातें करनेवाले हो जायेंगे, उस समय कलियुगका वेग और बढ़ेगा। जब द्विज-जातिकी प्रजा यज्ञ और होम करना छोड़ देगी, उसी समयसे

बुद्धिमान् पुरुषोंको कलियुगकी वृद्धिका अनुमान कर लेना चाहिये।

नारदजी! कलियुगके बढ़नेसे पापकी वृद्धि होगी और छोटे बालकोंकी भी मृत्यु होने लगेगी। सम्पूर्ण धर्मोंके नष्ट हो जानेपर यह जगत् श्रीहीन हो जायगा। विप्रवर! इस प्रकार मैंने तुम्हें कलिका स्वरूप बतलाया है। जो लोग भगवान् विष्णुकी भक्तिमें तत्पर हैं, उन्हें यह



कलियुग कभी बाधा नहीं देता। सत्ययुगमें तपस्याको, त्रेतामें भगवान्‌के ध्यानको, द्वापरमें यज्ञको और कलियुगमें एकमात्र दानको ही श्रेष्ठ बताया गया है। सत्ययुगमें जो पुण्यकर्म दस वर्षोंमें सिद्ध होता है, त्रेतामें एक वर्ष और द्वापरमें एक मासमें जो धर्म सफल होता है,

वही कलियुगमें एक ही दिन-रातमें सिद्ध हो जाता है। सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञोद्घारा यजन और द्वापरमें भगवान्‌का पूजन करके मनुष्य जिस फलको पाता है, उसे ही कलियुगमें केवल भगवान् केशवका कीर्तन करके पा लेता है। जो मनुष्य दिन-रात भगवान् विष्णुके नामका कीर्तन अथवा उनकी पूजा करते हैं, उन्हें कलियुग बाधा नहीं देता है। जो मानव निष्काम अथवा सकामभावसे 'नमो नारायणाय' का कीर्तन करते हैं, उनको कलियुग बाधा नहीं देता। घोर कलियुग आनेपर भी सम्पूर्ण जगत्‌के आधार एवं परमार्थस्वरूप भगवान् विष्णुका ध्यान करनेवाला कभी कष्ट नहीं पाता। अहो! सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित भयंकर कलियुग प्राप्त होनेपर जिन्होंने एक बार भी भगवान् केशवका पूजन कर लिया है, वे बड़े सौभाग्यशाली हैं। कलियुगमें वेदोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करते समय जो कमी-वेशी रह जाती है, उस दोषके निवारणपूर्वक कर्ममें पूर्णता लानेवाला यहाँ केवल भगवान्‌का स्मरण ही है। जो लोग प्रतिदिन 'हेरे! केशव! गोविन्द! जगन्मय! वासुदेव!' इस प्रकार कीर्तन करते हैं, उन्हें कलियुग बाधा नहीं पहुँचाता^२। अथवा जो 'शिव! शङ्कर! रुद्र! ईश! नीलकण्ठ! त्रिलोचन!' इत्यादि महादेवजीके नामोंका उच्चारण करते हैं, उन्हें भी कलियुग बाधा नहीं देता। नारदजी! 'महादेव! विरुपाक्ष! गङ्गाधर! मृड! और अव्यय!' इस प्रकार जो शिव-नामोंका कीर्तन करते हैं, वे कृतार्थ हो जाते हैं—अथवा जो 'जनार्दन! जगन्माथ!

१. यत्कृते दशभिर्वैस्त्रेतायां शरदा च यत्। द्वापरे यच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञस्त्रेतायां द्वापरेऽचयन्। यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

(ना० पूर्व० ४१ । ९९-१०२)

२. न्यूनातिरिक्तदोषाणां कलौ वेदोक्तकर्मणाम्। हरिस्मरणमेवात्र सम्पूर्णत्वविधायकम्॥
हेरे केशव गोविन्द वासुदेव जगन्मय। इतीरयन्ति ये नित्यं न हि तान्बाधते कलिः॥

(ना० पूर्व० ४१ । ९९-१००)

पीताम्बरधर! अच्युत!' इत्यादि विष्णु-नामोंका उच्चारण करते हैं, उन्हें इस संसारमें कलियुगसे भय नहीं है। विप्रवर! घोर कलियुग आनेपर संसारमें मनुष्योंको पुत्र, स्त्री और धन आदि तो सुलभ हैं, किंतु भगवान् विष्णुकी भक्ति दुर्लभ है। जो वेदमार्गसे बहिष्कृत, पापकर्मपरायण तथा मानसिक शुद्धिसे रहित हैं, ऐसे लोगोंका उद्धार केवल भगवान्‌के नामसे ही होता है। मनुष्यको चाहिये कि अपने अधिकारके अनुसार यथाशक्ति सम्पूर्ण वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान करके उन्हें—भगवान् महाविष्णुको समर्पित कर दे और स्वयं उन्हीं नारायणदेवकी शरण होकर रहे। परमात्मा महाविष्णुको समर्पित किये हुए कर्म उनके

स्मरणमात्रसे निश्चय ही पूर्ण हो जाते हैं। नारदजी! जो भगवान् विष्णुके स्मरणमें लगे हैं और जिनका चित्त भगवान् शिवके नाममें अनुरक्त है, उनके समस्त कर्म अवश्य पूर्ण हो जाते हैं। भगवन्नाममें अनुरक्तचित्तवाले पुरुषोंका अहोभाग्य है, अहोभाग्य है। वे देवताओंके लिये भी पूज्य हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अधिक बातें करनेसे क्या लाभ? अतः मैं सम्पूर्ण लोकोंके हितकी ही बात कहता हूँ कि भगवन्नामपरायण मनुष्योंको कलियुग कभी बाधा नहीं दे सकता। भगवान् विष्णुका नाम ही, नाम ही मेरा जीवन है। कलियुगमें दूसरी कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है*।

प्रथम पाद सम्पूर्ण

* हरेन्मैव नामैव नामैव मम जीवनम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(ना० पूर्व० ४१। ११५)

द्वितीय पाद

सृष्टितत्त्वका वर्णन, जीवकी सत्ताका प्रतिपादन और आश्रमोंके आचारका निरूपण

श्रीनारदजीने पूछा—सनन्दनजी! इस स्थावर-जङ्गमरूप जगत्की उत्पत्ति किससे हुई है और प्रलयके समय यह किसमें लीन होता है?

श्रीसनन्दनजी बोले—नारदजी! मैं भरद्वाजके पूछनेपर भृगुजीने जो शास्त्र बताया है, वही कहता हूँ।

भृगुजी बोले—भरद्वाज! महर्षियोंने जिन पूर्वपुरुषको मानस-नामसे जाना और सुना है, वे आदि-अन्तसे रहित देव 'अव्यक्त' नामसे विख्यात हैं। वे अव्यक्त पुरुष शाश्वत, अक्षय एवं अविनाशी हैं; उन्हींसे उत्पन्न होकर सम्पूर्ण भूत-प्राणी जन्म और मृत्युको प्राप्त होते हैं। उन स्वयम्भू भगवान् नारायणने अपनी नाभिसे तेजोमय दिव्य कमल प्रकट किया। उस कमलसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए जो वेदस्वरूप हैं, उनका दूसरा नाम विधि है। उन्होंने ही सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरकी रचना की है। इस प्रकार इस विराट् विश्वके रूपमें साक्षात् भगवान् विष्णु ही विराज रहे हैं, जो अनन्त नामसे विख्यात हैं। वे सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मारूपसे स्थित हैं। जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, ऐसे पुरुषोंके लिये उनका ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है।

भरद्वाजजीने पूछा—जीव क्या है और कैसा है? यह मैं जानना चाहता हूँ। रक्त और मांसके संघात (समूह) तथा मेद-स्नायु और अस्थियोंके संग्रहरूप इस शरीरके नष्ट होनेपर तो जीव कहीं नहीं दिखायी देता।

भृगुने कहा—मुने! साधारणतया पाँच भूतोंसे निर्मित किसी भी शरीरको यहाँ एकमात्र अन्तरात्मा धारण करता है। वही गन्ध, रस, शब्द, स्पर्श,

रूप तथा अन्य गुणोंका भी अनुभव करता है। अन्तरात्मा सम्पूर्ण अङ्गोंमें व्याप्त रहता है। वही इसमें होनेवाले सुख-दुःखका भी अनुभव करता है। इस शरीरके पाँचों तत्त्व जब अलग-अलग हो जाते हैं, तब वह इस देहको त्यागकर अदृश्य हो जाता है। चेतनता जीवका गुण बतलाया जाता है। वह स्वयं चेष्टा करता है और सबको चेष्टामें लगाता है। मुने! देहका नाश होनेसे जीवका नाश नहीं होता। जो लोग देहके नाशसे जीवके नाशकी बात कहते हैं, वे अज्ञानी हैं और उनका यह कथन मिथ्या है। जीव तो इस देहसे दूसरी देहमें चला जाता है। तत्त्वदर्शी पुरुष अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धिसे ही उसका दर्शन करते हैं। विद्वान् पुरुष शुद्ध एवं सात्त्विक आहार करके सदा रातके पहले और पिछले पहरमें योगयुक्त तथा विशुद्ध-चित्त होकर अपने भीतर ही आत्माका दर्शन करता है।

मनुष्यको सब प्रकारके उपायोंसे लोभ और क्रोधको काबूमें करना चाहिये। सब ज्ञानोंमें यही पवित्र ज्ञान है और यही आत्मसंयम है। लोभ और क्रोध सदा मनुष्यके श्रेयका विनाश करनेको उद्यत रहते हैं। अतः सर्वथा उनका त्याग करना चाहिये। क्रोधसे सदा लक्ष्मीको बचावे और मात्सर्यसे तपकी रक्षा करे। मान और अपमानसे विद्याको बचावे तथा प्रमादसे आत्माकी रक्षा करे। ब्रह्मन्! जिसके सभी कार्य कामनाओंके बन्धनसे रहित होते हैं तथा त्यागके लिये जिसने अपने सर्वस्वकी आहुति दे दी है, वही त्यागी और बुद्धिमान् है। किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे, सबसे मैत्रीभाव

निभाता रहे और संग्रहका त्याग करके बुद्धिके द्वारा अपनी इन्द्रियोंको जीते। ऐसा कार्य करे जिसमें शोकके लिये स्थान न हो तथा जो इहलोक और परलोकमें भी भयदायक न हो। सदा तपस्यामें लगे रहकर इन्द्रियोंका दमन तथा मनका निग्रह करते हुए मुनिवृत्तिसे रहे। आसक्तिके जितने विषय हैं, उन सबमें अनासक्त रहे और जो किसीसे पराजित नहीं हुआ, उस परमेश्वरको जीतने (जानने या प्राप्त करने)-की इच्छा रखे। इन्द्रियोंसे जिन-जिन वस्तुओंका ग्रहण होता है, वह सब व्यक्त है। यही व्यक्तकी परिभाषा है। जो अनुमानके द्वारा कुछ-कुछ जानी जाय उस इन्द्रियातीत वस्तुको अव्यक्त जानना चाहिये। जबतक (ज्ञानकी कमीके कारण) पूरा विश्वास न हो जाय, तबतक ज्ञेयस्वरूप परमात्माका मनन करते रहना चाहिये और पूर्ण विश्वास हो जानेपर मनको उसमें लगाना चाहिये अर्थात् ध्यान करना चाहिये। प्राणायामके द्वारा मनको वशमें करे और संसारकी किसी भी वस्तुका चिन्तन न करे। ब्रह्मन्! सत्य ही व्रत, तपस्या तथा पवित्रता है, सत्य ही प्रजाकी सृष्टि करता है। सत्यसे ही यह लोक धारण किया जाता है और सत्यसे ही मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं*। असत्य तमोगुणका स्वरूप है, तमोगुण मनुष्यको नीचे (नरकमें) ले जाता है। तमोगुणसे ग्रस्त मनुष्य अज्ञानान्धकारसे आवृत होनेके कारण ज्ञानमय प्रकाशको नहीं देख पाते। नरकको तम और दुष्टकाश कहते हैं। इहलोककी सृष्टि शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे परिपूर्ण है। यहाँ जो सुख हैं वे भी भविष्यमें दुःखको ही लानेवाले हैं। जगत्को इन सुख-दुःखोंसे संयुक्त देखकर विद्वान् पुरुष मोहित नहीं होते। बुद्धिमान्

पुरुषको चाहिये कि वह दुःखसे छूटनेका प्रयत्न करे। प्राणियोंको इहलोक और परलोकमें प्राप्त होनेवाला जो सुख है, वह अनित्य है। मोक्षरूपी फलसे बढ़कर कोई सुख नहीं है। अतः उसीकी अभिलाषा करनी चाहिये। धर्मके लिये जो शम-दमादि सद्गुणोंका सम्पादन किया जाता है, उसका उद्देश्य भी सुखकी प्राप्ति ही है। सुखरूप प्रयोजनकी सिद्धिके लिये ही सभी कर्मोंका आरम्भ किया जाता है। किंतु अनृत (झूठ) से तमोगुणका प्रादुर्भाव होता है। फिर उस तमोगुणसे ग्रस्त मनुष्य अधर्मके ही पीछे चलते हैं, धर्मपर नहीं चलते। वे क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा और असत्य आदिसे आच्छादित होकर न तो इस लोकमें सुख पाते हैं, न परलोकमें ही। नाना प्रकारके रोग, व्याधि और उग्र तापसे पीड़ित होते हैं। वध, बन्धनजनित क्लेश आदिसे तथा भूख, प्यास और परिश्रमजनित संतापसे संतस रहते हैं। वर्षा, आँधी, अधिक गरमी और अधिक सर्दीके भयसे चिन्तित होते हैं। शारीरिक दुःखोंसे दुःखी तथा बन्धु-धन आदिके नाश अथवा वियोगसे प्राप्त होनेवाले मानसिक शोकोंसे व्याकुल रहते हैं और जरा तथा मृत्युजनित कष्टसे या अन्य इसी प्रकारके क्लेशोंसे पीड़ित रहा करते हैं। स्वर्गलोकमें जबतक जीव रहता है, सदा उसे सुख ही मिलता है। इस लोकमें सुख और दुःख दोनों हैं। नरकमें केवल दुःख-ही-दुःख बताया गया है। वास्तविक सुख तो वह परमपद-स्वरूप मोक्ष ही है।

भरद्वाजजी बोले—ब्रह्मर्षियोंने पूर्वकालमें जो चार आश्रमोंका विधान किया है, उन आश्रमोंके अपने-अपने आचार क्या हैं? यह बतानेकी कृपा करें।

* सत्यं व्रतं तपः शौचं सत्यं विसृजते प्रजा॥ सत्येन धार्यते लोकः स्वः सत्येनैव गच्छति।

भृगुजीने कहा—मुने ! जगतका हित-साधन करनेवाले भगवान् ब्रह्माजीने पहलेसे ही धर्मकी रक्षाके लिये चार आश्रमोंका उपदेश किया है । उनमेंसे गुरुकुलमें निवास ही पहला आश्रम बतलाया जाता है । इस आश्रममें शौच, संस्कार, नियम तथा व्रतके नियमपूर्वक पालनमें चित्त लगाकर दोनों संध्याओंके समय उपासना करनी चाहिये । सूर्यदेव तथा अग्निदेवका उपस्थान करे । आलस्य छोड़कर गुरुको प्रणाम करे । गुरुमुखसे वेदका श्रवण और अध्यास करके अपने अन्तःकरणको पवित्र करे । तीनों समय स्नान करके ब्रह्मचर्यपालन, अग्निहोत्र तथा गुरु-शुश्रूषा करे । प्रतिदिन भिक्षा माँगे और भिक्षामें जो कुछ प्राप्त हो, वह सब गुरुके अर्पित कर दे तथा अपने अन्तरात्माको भी गुरुके चरणोंमें अर्पित कर दे । गुरुके वचन और आज्ञाका पालन करनेमें कभी प्रतिकूलता न दिखाये—सदा आज्ञापालनके लिये तैयार रहे तथा गुरुकी कृपासे प्राप्त हुए वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यामें तत्पर रहे । इस विषयमें यह उक्ति प्रसिद्ध है—जो द्विज गुरुकी आराधना करके वेदका ज्ञान प्राप्त करता है, उसे स्वर्गरूप फलकी उपलब्धि होती है और उसका सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो जाता है ।

दूसरे आश्रमको गार्हस्थ्य कहते हैं । उसके सदाचारका जो स्वरूप है, उसकी पूर्णरूपसे व्याख्या करेंगे । जो गुरुकुलसे लौटे हुए सदाचारपरायण स्नातक हैं और धर्मानुष्ठानका फल चाहते हैं, उनके लिये गृहस्थ-आश्रमका विधान है । इसमें धर्म, अर्थ और काम—तीनोंकी प्राप्ति होती है । यहाँ त्रिवर्ग-साधनकी अपेक्षा रखकर निन्दित कर्मके परित्यागपूर्वक उत्तम (न्याययुक्त) कर्मसे धनोपार्जन करे । वेदोंके स्वाध्यायद्वारा, उपलब्ध हुई प्रतिष्ठासे अथवा ब्रह्मर्थनिर्मित मार्गसे प्राप्त हुए धनके द्वारा या समुद्रसे उपलब्ध हुए द्रव्यद्वारा

अथवा नियमोंके अध्यास तथा देवताके कृपाप्रसादसे मिली हुई सम्पत्तिद्वारा गृहस्थ पुरुष अपनी गृहस्थी चलावे । गृहस्थ-आश्रमको सम्पूर्ण आश्रमोंका मूल कहते हैं । गुरुकुलमें निवास करनेवाले ब्रह्मचारी, संन्यासी तथा अन्य लोग जो संकलित व्रत, निमय एवं धर्मका अनुष्ठान करनेवाले हैं, उन सबका आधार गृहस्थ-आश्रम है । उनके अतिरिक्त भी गृहस्थ-आश्रममें भिक्षा और बलिवैश्व आदिका वितरण चलता रहता है । वानप्रस्थोंके लिये भी आवश्यक द्रव्य-सामग्री गृहस्थाश्रमसे ही प्राप्त होती है । प्रायः ये श्रेष्ठ पुरुष उत्तम पथ्य अन्नका सेवन करते हुए स्वाध्यायके प्रसङ्गसे अथवा तीर्थयात्राके लिये देश-दर्शनके निमित्त इस पृथ्वीपर घूमते रहते हैं । गृहस्थको उचित है कि उठकर उनकी अगवानी करे, उनके चरणोंमें मस्तक झुकाये, उनसे ईर्ष्यारहित वचन बोले, उनके लिये आवश्यक



वस्तुओंका दान करे, उन्हें सुख और सत्कारपूर्वक आसन दे तथा उनके लिये सुखसे सोने और खाने-पीनेकी सुव्यवस्था करे । इस विषयमें यह उक्ति है—जिसके घरसे अतिथि निराश होकर

लौट जाता है, उसे वह अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है*। इसके सिवा, इस आश्रममें यज्ञ-कर्मोद्घारा देवता तृप्त होते हैं, श्राद्ध एवं तर्पणसे पितरोंकी तृप्ति होती है, विद्याके बार-बार श्रवण और धारणसे ऋषि संतुष्ट होते हैं और संतानोत्पादनसे प्रजापतिको प्रसन्नता होती है। इस विषयमें हैं—इस आश्रममें सम्पूर्ण भूतोंके लिये वात्सल्यका भाव होता है। देवता और अतिथियोंका वाणीद्वारा स्तवन किया जाता है। इसमें दूसरोंको सताना, कष्ट देना या कठोरता करना निन्दित है। इसी तरह दूसरोंकी अवहेलना तथा अपनेमें अहंकार और दम्भका होना भी निन्दित ही माना गया है। अहिंसा, सत्य और अक्रोध—ये सभी आश्रमके लिये तप हैं। जिसके गृहस्थ-आश्रममें प्रतिदिन धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गका सम्पादन होता है, वह इस लोकमें सुखका अनुभव करके श्रेष्ठ पुरुषोंकी गतिको प्राप्त होता है। जो गृहस्थ उच्छवृत्तिसे रहकर अपने धर्मके पालनमें तत्पर है और काम्यसुखको त्याग चुका है, उसके लिये स्वर्गलोक दुर्लभ नहीं है।

वानप्रस्थी भी धर्मका अनुष्ठान करते हुए पुण्य तीर्थों तथा नदियों और झरनोंके आसपास रहते हैं; वनोंमें रहकर तपस्या करते और धूमते हैं। ग्रामीण वस्त्र, भोजन और उपभोगका वे त्याग कर देते हैं। जंगली अन्न, फल, मूल और पत्तोंका परिमित एवं नियमित भोजन करते हैं। अपने स्थानपर ही बैठते हैं और पृथ्वी, पत्थर, सिकता, कंकड़ तथा बालूपर सो जाते हैं। काश, कुश, मृगचर्म तथा वल्कलसे ही अपने शरीरको ढकते हैं। केश, दाढ़ी, मूँछ, नख तथा लोम धारण किये रहते हैं। नियत समयपर स्नान करते और शुष्क

बलिवैश्व एवं होमका शास्त्रोक्त समयपर अनुष्ठान करते हैं। समिधा, कुशा, पुष्प-संचय तथा सम्मार्जन आदि कार्योंमें ही विश्राम पाते हैं। सर्दी, गरमी तथा वायुके आघातसे उनके शरीरकी सारी त्वचाएँ फटी होती हैं। अनेक प्रकारके नियम और योगचर्याके अनुष्ठानसे उनके शरीरका मांस और रक्त सूख जाता है और वे अस्थ-चर्मावशिष्ट होकर धैर्यपूर्वक सत्त्वगुणके योगसे शरीर धारण करते हैं। जो ब्रह्मर्षियोंद्वारा विहित इस व्रतचर्याका नियमपूर्वक पालन करता है, वह अग्निकी भाँति सम्पूर्ण दोषोंको जला देता है और दुर्जय लोकोंपर अधिकार प्राप्त कर लेता है।

अब संन्यासियोंका आचार बतलाया जाता है। धन, स्त्री तथा राजोचित सामग्रियोंमें जो अपना स्नेह बना हुआ है, उस स्नेह-बन्धनको काटकर तथा अग्निहोत्र आदि कर्मोंका विधिपूर्वक त्याग करके विरक्त एवं जिज्ञासु पुरुष संन्यासी होते हैं। वे ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझते हैं। धर्म, अर्थ और काममयी प्रवृत्तियोंमें उनकी बुद्धि आसक्त नहीं होती। शत्रु, मित्र और उदासीनोंके प्रति उनकी दृष्टि समान रहती है। वे स्थावर, जरायुज, अण्डज और स्वेदज प्राणियोंके प्रति मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी द्रोह नहीं करते। उनका कोई एक निवासस्थान नहीं होता। वे पर्वत, नदी-तट, वृक्ष मूल तथा देवमन्दिर आदि स्थानोंमें ठहरते और विचरते हुए कभी किसी समूहके पास जाकर रहते हैं अथवा नगर या गाँवमें विश्राम करते हैं। क्रोध, दर्प, लोभ, मोह, कृपणता, दम्भ, निन्दा तथा अभिमानके कारण उनसे कभी हिंसा नहीं होती। इस विषयमें ऐसा कहा है—जो मुनि सम्पूर्ण भूतोंको अभ्यदान

* अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते। स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥

देकर स्वच्छन्द विचरता है, उसको कभी उन सब प्राणियोंसे भय नहीं होता*। ब्राह्मण संन्यासी अग्निहोत्रको अपने शरीरमें स्थापित करके शरीररूपी अग्निको तृप्ति करनेके लिये भिक्षान्नरूपी हविष्यकी आहुति अपने मुखमें डालता है और उसी

शरीरसंचित अग्निद्वारा उत्तम लोकोंमें जाता है। अपने संकल्पके अनुसार बुद्धिको संयममें रखनेवाला जो पवित्र ब्राह्मण शास्त्रोक्तव्यिधिसे संन्यास-आश्रममें विचरता है, वह ईंधनरहित अग्निकी भाँति परम शान्तिमय ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है।

उत्तम लोक, अध्यात्मतत्त्व तथा ध्यानयोगका वर्णन

भरद्वाजजी बोले—महर्षे! इस लोकसे उत्तम एक लोक यानी प्रदेश सुना जाता है। मैं उस उत्तम लोकको जानना चाहता हूँ। आप उसके विषयमें बतलानेकी कृपा करें।

भृगुजीने कहा—उत्तरमें हिमालयके पास सर्वगुणसम्पन्न पुण्यमय प्रदेश है, जो पुण्यदायक, क्षेमकारक और कमनीय है। वही 'उत्तम लोक' कहा जाता है। वहाँके मनुष्य पापकर्मसे रहित, पवित्र, अत्यन्त निर्मल, लोभ-मोहसे शून्य तथा उपद्रवरहित हैं। वह प्रदेश स्वर्गके समान है। वहाँ सात्त्विक शुभ गुण बताये गये हैं। वहाँ समय आनेपर ही मृत्यु होती है (अकाल मृत्यु नहीं होती)। रोग वहाँके मनुष्योंका स्पर्श नहीं करता। वहाँ किसीके मनमें परायी स्त्रीके लिये लोभ नहीं होता। सब लोग अपनी ही स्त्रीसे प्रेम रखनेवाले हैं। उस देशमें धनके लिये दूसरोंका वध नहीं किया जाता। उस प्रदेशमें अधर्म अच्छा नहीं माना जाता। किसीको धर्मविषयक संदेह नहीं होता। वहाँ किये हुए कर्मका फल प्रत्यक्ष मिलता है। इस लोकमें तो किन्हींके पास जीवन-निर्वाहमात्रके लिये सब सामग्री उपलब्ध है और कोई-कोई बड़े परिश्रमसे जीविका चलाते हैं। यहाँ कुछ लोग धर्मपरायण हैं, कुछ लोग शठता करनेवाले हैं, कोई सुखी है, कोई दुःखी; कोई धनवान् है, कोई निर्धन। इस लोकमें

परिश्रम, भय, मोह और तीव्र क्षुधाका कष्ट प्राप्त होता है। मनुष्योंके मनमें धनके लिये लोभ रहता है, जिससे अज्ञानी पुरुष मोहित होते हैं। कपट, शठता, चोरी, परनिन्दा, दोषदृष्टि, दूसरोंपर चोट करना, हिंसा, चुगली तथा मिथ्याभाषण—इन दुर्गुणोंका जो सेवन करता है, उसकी तपस्या नष्ट होती है। जो विद्वान् इनका आचरण नहीं करता उसकी तपस्या बढ़ती है। इस लोकमें धर्म और अधर्म-सम्बन्धी कर्मके लिये नाना प्रकारकी चिन्ता करनी पड़ती है। लोकमें यह कर्मभूमि है। यहाँ शुभ और अशुभ कर्म करके मनुष्य शुभ कर्मोंका शुभ फल और अशुभ कर्मोंका अशुभ फल पाता है। पूर्वकालमें यहाँ प्रजापति ब्रह्मा, अन्यान्य देवता तथा महर्षियोंने यज्ञ और तपस्या करके पवित्र हो ब्रह्मलोक प्राप्त किया था। पृथ्वीका उत्तरीय भाग सबसे अधिक पवित्र और शुभ है। यहाँ जो पुण्य कर्म करनेवाले मनुष्य हैं, वे यदि सत्कार (शुभ फल) चाहते हैं तो पृथ्वीके उस भागमें जन्म पाते हैं। कुछ लोग कर्मानुसार पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें जन्म लेते हैं, दूसरे लोग क्षीणायु होकर यहीं भूतलपर नष्ट हो जाते हैं। जो एक-दूसरेको खा जानेके लिये उद्यत रहते हैं, ऐसे लोभ और मोहमें ढूबे हुए मनुष्य यहीं चक्कर लगाते रहते हैं, उत्तर दिशाको नहीं जाते। जो गुरुजनोंकी सेवा करते और इन्द्रियसंयमपूर्वक

* अभ्यं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः। न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित्॥ (ना० पूर्व० ४३। १२५)

ब्रह्मचर्यके पालनमें तत्पर होते हैं, वे मनीषी पुरुष सम्पूर्ण लोकोंका मार्ग जानते हैं। इस प्रकार मैंने ब्रह्माजीके बताये हुए धर्मका संक्षेपसे वर्णन किया है। जो जगत्के धर्म और अधर्मको जानता है, वही बुद्धिमान् है।

भरद्वाजजीने कहा—तपोधन! पुरुषके शरीरमें अध्यात्म-नामसे जिस वस्तुका चिन्तन किया जाता है, वह अध्यात्म क्या है और कैसा है। यह मुझे बताइये।

भृगुजी बोले—ब्रह्मर्थे! जिस अध्यात्मके विषयमें पूछ रहे हो, उसकी व्याख्या करता हूँ। तात! वह अतिशय कल्याणकारी सुखस्वरूप है। अध्यात्मज्ञानका जो फल मिलता है—वह है सम्पूर्ण प्राणियोंका हित। पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और पाँचवाँ तेज—ये पाँच महाभूत हैं, जो सब प्राणियोंकी उत्पत्ति और लयके स्थान हैं। जो भूत जिससे उत्पन्न होते हैं, वे फिर उसीमें लीन हो जाते हैं। जैसे समुद्रसे लहरें उठती हैं और फिर उसीमें लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ये महाभूत क्रमशः अपने-अपने कारणरूप अन्य भूतोंसे उत्पन्न होते और प्रलयकाल आनेपर फिर उन्हींमें लीन हो जाते हैं। जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको फैलाकर फिर उन्हें समेट लेता है, उसी प्रकार भूतात्मा परमेश्वर अपने रथे हुए भूतोंको पुनः अपनेमें लीन करते हैं। महाभूत पाँच ही हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति करनेवाले परमात्माने समस्त प्राणियोंमें उन्हीं पाँचों भूतोंको भलीभाँति नियुक्त किया है, किंतु जीव उन परमात्माको नहीं देखता है।

शब्द, कान और शरीरके छिद्र—ये तीनों आकाशसे प्रकट हुए हैं। स्पर्श, चेष्टा और त्वचा—ये तीन वायुके कार्य हैं। रूप, नेत्र और पाक—इन तीन रूपोंमें तेजकी उपलब्धि कही जाती है। रस, क्लेद (गीलापन) और जिह्वा—ये तीन जलके

गुण बताये गये हैं। गन्ध, नासिका और शरीर—ये तीन भूमिके कार्य हैं। इन्द्रियरूपमें पाँच ही महाभूत हैं और छठा मन है। इस प्रकार श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियोंका और मनका ही परिचय दिया गया है। बुद्धिको सातवाँ तत्त्व कहा गया है। क्षेत्रज्ञ आठवाँ है। कान सुननेके लिये और त्वचा स्पर्शका अनुभव करनेके लिये है। रसका आस्वादन करनेके लिये रसना (जिह्वा) और गन्ध ग्रहण करनेके लिये नासिका है। नेत्रका काम देखना है। मन संदेह करता है। बुद्धि निश्चय करनेके लिये है और क्षेत्रज्ञ साक्षीकी भाँति स्थित है। दोनों पैरोंसे ऊपर सिरतक—जो कुछ भी नीचे-ऊपर है, सबको वह क्षेत्रज्ञ ही देखता है। क्षेत्रज्ञ (आत्मा) व्यापक है। इसने इस सम्पूर्ण शरीरको बाहर-भीतरसे व्याप कर रखा है। पुरुष ज्ञाता है और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उसके लिये ज्ञेय हैं। तम, रज और सत्त्व—ये सारे भाव पुरुषके आश्रित हैं। जो मनुष्य इस अध्यात्मज्ञानको जान लेता है, वह भूतोंके आवागमनका विचार करके धीरे-धीरे उत्तम शान्ति पा लेता है। पुरुष जिससे देखता है, वह नेत्र है। जिससे सुनता है, उसे श्रोत्र (कान) कहते हैं। जिससे सूँघता है, उसका नाम प्राण (नासिका) है। वह जिह्वासे रसका अनुभव करता है और त्वचासे स्पर्शको जानता है। बुद्धि सदा ज्ञान या निश्चय कराती है। पुरुष जिससे कुछ इच्छा करता है, वह मन है। बुद्धि इन सबका अधिष्ठान है। अतः पाँच विषय और पाँच इन्द्रियाँ उससे पृथक् कही गयी हैं। इन सबका अधिष्ठाता चेतन क्षेत्रज्ञ इनसे नहीं देखा जाता।

प्रीति या प्रसन्नता सत्त्वगुणका कार्य है। शोक रजोगुण और क्रोध तमोगुण है। इस प्रकार ये तीन भाव हैं। लोकमें जो-जो भाव हैं, वे सब इन तीनों गुणोंमें आबद्ध हैं। सत्त्व, रज और तम—

ये तीन गुण सदा प्राणियोंके भीतर रहते हैं। इसलिये सब जीवोंमें सात्त्विकी, राजसी और तामसी—यह तीन प्रकारकी अनुभूति देखी जाती है। तुम्हारे शरीर अथवा मनमें जो कुछ प्रसन्नतासे संयुक्त है, वह सब सात्त्विक भाव है। मुनिश्रेष्ठ! जो कुछ भी दुःखसे संयुक्त और मनको अप्रसन्न करनेवाला है, उसे रजोगुणका ही प्रकाश समझो। इससे अतिरिक्त जो कुछ मोहसे संयुक्त हो और उसका आधार व्यक्त न हो तथा जो ज्ञानमें न आता हो, वह तमोगुण है—ऐसा निश्चय करे। हर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख एवं चित्तकी शान्ति—इन भावोंको सात्त्विक गुण समझना चाहिये। असंतोष, परिताप, शोक, लोभ तथा असहनशीलता—ये रजोगुणके चिह्न हैं। अपमान, मोह, प्रमाद, स्वप्न, तन्द्रा आदि भाव तमोगुणके ही भिन्न-भिन्न कार्य हैं। जो बहुधा दोषकी ओर जाता है, उस मनके दो स्वरूप हैं—याचना करना और संशय। जिसका मन अपने अधीन है, वह इस लोकमें तो सुखी होता ही है, मरनेके बाद परलोकमें भी उसे सुख मिलता है।

सत्त्व (बुद्धि) तथा क्षेत्रज्ञ (पुरुष)—ये दोनों सूक्ष्म हैं। जिसे इन दोनोंका अन्तर (पार्थक्य) ज्ञात हो जाता है, वह भी इहलोक और परलोकमें सुखका भागी होता है। इनमें एक तो गुणोंकी सृष्टि करता है और एक नहीं करता। सत्त्व आदि गुण आत्माको नहीं जानते, किंतु आत्मा सब प्रकारसे गुणोंको जानता है। यद्यपि पुरुष गुणोंका द्रष्टामात्र है, तथापि बुद्धिके संसर्गसे वह अपनेको उनका स्थान मानता है। इस प्रकार सत्त्व और पुरुषका संयोग हुआ है, किंतु इनका पार्थक्य निश्चित है। जब बुद्धि मनके द्वारा इन्द्रियरूपी घोड़ोंकी रास खींचती है और भलीभाँति काबूमें रखती है, उस समय आत्मा प्रकाशित होने लगता



है। जो मुनि प्राकृत कर्मोंका त्याग करके सदा आत्मामें ही रमण करता है, वह सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा होकर उत्तम गतिको प्राप्त होता रहता है। जैसे जलचर पक्षी जलसे लिस नहीं होता, उसी प्रकार शुद्धबुद्धिपुरुष लिस नहीं होता। वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें अनासक्तभावसे रहता है। इस प्रकार अपनी बुद्धिद्वारा विचार करके मनुष्य अनासक्त-भावसे व्यवहार करे। वह हर्ष-शोकसे रहित हो सभी अवस्थाओंमें सम रहे। ईर्ष्या-द्वेषको त्याग दे। बुद्धि और चेतनकी एकता है, यही हृदयकी सुदृढ़ ग्रन्थि है। इसको खोलकर विद्वान् पुरुष सुखी हो जाय और संशयका उच्छेद करके सदाके लिये शोक त्याग दे। जैसे मलिन मनुष्य गङ्गामें स्नान करके शुद्ध होते हैं, उसी प्रकार श्रेष्ठ विद्वान् इस ज्ञानगङ्गामें गोता लगाकर निर्मल हो जाते हैं—ऐसा जानो। इस तरह जो मनुष्य इस उत्तम अध्यात्म-ज्ञानको जानते हैं, वे कैवल्यको प्राप्त होते हैं। ऐसा समझकर सब मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंके आवागमनपर दृष्टि रखते हुए बुद्धिपूर्वक विचार करें। इससे धीरे-धीरे शान्ति प्राप्त होती है। जिनका

अन्तःकरण पवित्र नहीं है, वे मनुष्य भिन्न-भिन्न विषयोंकी ओर प्रवृत्त हुई इन्द्रियोंमें यदि पृथक्-पृथक् आत्माकी खोज करना चाहें तो उन्हें इस प्रकार आत्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता। आत्मा तो इन सब इन्द्रिय, मन और बुद्धिका साक्षी होनेके कारण उनसे परे है—ऐसा जान लेनेपर ही मनुष्य ज्ञानी हो सकता है। इस तत्त्वको जान लेनेपर मनीषी पुरुष अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। अज्ञानी पुरुषोंको जो महान् भय प्राप्त होता है, वह ज्ञानियोंको नहीं प्राप्त होता। जो फलकी इच्छा और आसक्तिका त्याग करके कर्म करता है, वह अपने पूर्वकृत कर्मबन्धनको जला देता है। ऐसा पुरुष यदि कर्म करता है तो उसका किया हुआ कर्म प्रिय अथवा अप्रिय फल नहीं उत्पन्न कर सकता। यदि मनुष्य अपनी आयुभर लोकको सताता है तो कर्ममें लगे हुए उस पुरुषका वह अशुभ कर्म उसके लिये यहाँ अशुभ फल ही उत्पन्न करता है। देखो, कुशल (पुण्य) कर्म करनेसे कोई भी शोकमें नहीं पड़ता, परंतु यदि उससे पाप बनता है तो सदाके लिये भयपूर्ण स्थान प्राप्त होता है।

भरद्वाजजी बोले—ब्रह्मन्! मुझे अभ्यपदकी सिद्धिके लिये ध्यानयोग बताइये। जिस तत्त्वको जानकर मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों तापोंसे मुक्त हो जाता है, उसका मुझे उपदेश कीजिये।

भगुजीने कहा—मुने! मैं तुम्हें ध्यानयोग बतलाता हूँ। (यद्यपि) वह चार प्रकारका है (किंतु यहाँ एक ही बताया जाता है), जिसे जानकर महर्षिगण इस जगत्‌में शाश्वत सिद्धिको प्राप्त होते हैं। योगी लोग भलीभौति अभ्यासमें लाये हुए ध्यानका जिस प्रकार अनुष्ठान करते हैं, वैसा ही ध्यान करके ज्ञानतृप्त महर्षिगण संसारदोषसे

मुक्त हो गये हैं। उन मुक्त पुरुषोंका पुनः इस संसारमें आगमन नहीं होता। वे जन्मदोषसे रहित हो अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित हो गये हैं। उनपर शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका प्रभाव नहीं पड़ता। वे सदा अपने विशुद्ध स्वरूपमें स्थित, सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त तथा परिग्रहशून्य हैं। अनासक्ति आदि गुण मनको शान्ति प्रदान करनेवाले हैं।

अनेक प्रकारकी चिन्ताओंसे पीड़ित मनको ध्यानके द्वारा एकाग्र करके ध्येय वस्तुमें स्थित करे। इन्द्रियसमुदायको सब ओरसे समेट करके ध्यानयोगी मुनि काष्ठकी भाँति स्थित हो जाय। कानसे किसी शब्दको न ग्रहण करे। त्वचासे स्पर्शका अनुभव न करे। नेत्रसे रूप न देखे तथा जिह्वासे रसोंका आस्वादन न करे। नासिकाद्वारा सब प्रकारके गन्धोंको ग्रहण करना भी त्याग दे। पाँचों विषय पाँचों इन्द्रियोंको मथ डालनेवाले हैं। तत्त्ववेत्ता पुरुष ध्यानके द्वारा इन विषयोंकी अभिलाषा छोड़ दे। तदनन्तर सशक्त एवं बुद्धिमान् पुरुष पाँच इन्द्रियोंको मनमें लीन करके पाँचों इन्द्रियोंसहित इधर-उधर भटकनेवाले मनको ध्येय वस्तुमें एकाग्र करे। मन चारों ओर विचरण करनेवाला है। उसका कोई दृढ़ आधार नहीं है। पाँचों इन्द्रियोंके द्वार उसके निकलनेके मार्ग हैं। वह अजितेन्द्रिय पुरुषके लिये बलवान् और जितेन्द्रियके लिये निर्बल है। धीर पुरुष पूर्वोक्त ध्यानके साधनमें शीघ्रतापूर्वक मनको एकाग्र करे। जब वह इन्द्रिय और मनको अपने वशमें कर लेता है तो उसका पूर्वोक्त ध्यान सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार मैंने यहाँ प्रथम ध्यानमार्गका वर्णन किया है।

इसके बाद पहलेसे वशमें किया हुआ मनसहित इन्द्रियवर्ग पुनः अवसर पाकर स्फुरित होता है, ठीक इसी तरह जैसे बादलमें बिजली चमकती है। जिस प्रकार पत्तेपर रखी हुई जलकी बूँद सब

ओरसे चञ्चल एवं अस्थिर होती है, उसी प्रकार प्रथम ध्यानमार्गमें साधकका चित्त भी चञ्चल होता है। क्षणभरके लिये कभी एकाग्र होकर कुछ देर ध्यानमार्गमें स्थिर होता है, फिर भ्रान्त होकर वायुकी भाँति आकाशमें दौड़ लगाने लगता है। परंतु ध्यानयोगका ज्ञाता पुरुष इससे ऊबे नहीं। वह क्लेश, चिन्ता, ईर्ष्या और आलस्यका त्याग करके पुनः ध्यानके द्वारा चित्तको एकाग्र करे। प्रथम ध्यानमार्गपर चलनेवाले मुनिके हृदयमें विचार, वितर्क एवं विवेककी उत्पत्ति होती है। मन उद्घिग्र होनेपर उसका समाधान करे। ध्यानयोगी मुनि कभी उससे खिन्न या उदासीन न हो। ध्यानद्वारा अपना हित-साधन अवश्य करे। इन इन्द्रियोंको धीरे-धीरे शान्त करनेका प्रयत्न करे। क्रमशः इनका

उपसंहार करे। ऐसा करनेपर इनकी पूर्णरूपसे शान्ति हो जायगी। मुनीश्वर! प्रथम ध्यानमार्गमें पाँचों इन्द्रियों और मनको स्थापित करके नित्य अभ्यास करनेसे ये स्वयं शान्त हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मसंयम करनेवाले पुरुषको जिस सुखकी प्राप्ति होती है, वह किसी लौकिक पुरुषार्थ और प्रारब्धसे नहीं मिलता। उस सुखके प्राप्ति होनेपर मनुष्य ध्यानके साधनमें रम जाता है। इस प्रकार ध्यानका अभ्यास करनेवाले योगीजन निरामय मोक्षको प्राप्ति होते हैं।

सनन्दनजी कहते हैं—ब्रह्मन्! महर्षि भृगुके इस प्रकार कहनेपर परम धर्मात्मा एवं प्रतापी भरद्वाज मुनि बड़े विस्मित हुए और उन्होंने भृगुजीकी बड़ी प्रशंसा की।

पञ्चशिखका राजा जनकको उपदेश

सूतजी कहते हैं—ब्राह्मणो! सनन्दनजीका मोक्षधर्मसम्बन्धी वचन सुनकर तत्त्वज्ञ नारदजीने पुनः अध्यात्मविषयक उत्तम बात पूछी।

नारदजी बोले—महाभाग! मैंने आपके बताये हुए अध्यात्म और ध्यानविषयक मोक्ष-शास्त्रको सुना, यह सब बार-बार सुननेपर भी मुझे तृप्ति नहीं हो रही है (अधिकाधिक सुननेकी इच्छा बढ़ती जा रही है)। सर्वज्ञ मुने! जीव अविद्याके बन्धनसे जिस प्रकार मुक्त होता है, वह उपाय बताइये। साधु पुरुषोंने जिसका आश्रय ले रखा है, उस मोक्ष-धर्मका पुनः वर्णन कीजिये।

सनन्दनजीने कहा—नारद! इस विषयमें विद्वान् पुरुष इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। जिससे यह ज्ञात होता है कि मिथिलानरेश जनकने किस प्रकार मोक्ष प्राप्त किया था। यह उस समयकी बात है, जब मिथिलामें जनकवंशी राजा जनदेवका राज्य था। जनदेव सदा ब्रह्मकी

प्राप्ति करनेवाले धर्मोंका ही चिन्तन किया करते थे। उनके दरबारमें एक सौ आचार्य बराबर रहा करते थे, जो उन्हें भिन्न-भिन्न आश्रमोंके धर्मोंका उपदेश देते रहते थे। 'इस शरीरको त्याग देनेके पश्चात् जीवकी सत्ता रहती है या नहीं? अथवा देह-त्यागके बाद उसका पुनर्जन्म होता है या नहीं?' इस विषयमें उन आचार्योंका जो सुनिश्चित सिद्धान्त था, वे लोग आत्मतत्त्वके विषयमें जैसा विचार उपस्थित करते थे, उससे शास्त्रानुयायी राजा जनदेवको विशेष संतोष नहीं होता था। एक बार कपिलाके पुत्र महामुनि पञ्चशिख सम्पूर्ण पृथ्वीकी परिक्रमा करते हुए मिथिलामें आ पहुँचे। वे सम्पूर्ण संन्यास-धर्मोंके ज्ञाता और तत्त्वज्ञानके निर्णयमें एक सुनिश्चित सिद्धान्तके पोषक थे। उनके मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं था। वे निर्द्वन्द्व होकर विचरा करते थे। उन्हें ऋषियोंमें अद्वितीय बताया जाता है। कामना तो उन्हें कू भी

नहीं गयी थी। वे मनुष्योंके हृदयमें अपने उपदेशद्वारा अत्यन्त दुर्लभ सनातन सुखकी प्रतिष्ठा करना चाहते थे। सांख्यके विद्वान् तो उन्हें साक्षात् प्रजापति महर्षि कपिलका ही स्वरूप समझते हैं। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक भगवान् कपिल स्वयं पञ्चशिखके रूपमें आकर लोगोंको आश्चर्यमें डाल रहे हैं। उन्हें आसुरि मुनिका प्रथम शिष्य और चिरञ्जीवी बताया जाता है। एक समय उन्होंने महर्षि कपिलके मतका अनुसरण करनेवाले मुनियोंकी विशाल मण्डलीमें जाकर सबमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित परमार्थस्वरूप अव्यक्त ब्रह्मके विषयमें निवेदन किया था और क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञका अन्तर स्पष्टरूपसे जान लिया था। यही नहीं, जो एकमात्र अक्षर एवं अविनाशी ब्रह्म नाना रूपोंमें दिखायी देता है, उसका ज्ञान भी आसुरिने उस मुनिमण्डलीमें प्राप्त किया था, उन्हींके शिष्य पञ्चशिख थे, जो देव-कोटिके पुरुष होते हुए भी मानवीके दूधसे पले थे। कपिला नामकी एक ब्राह्मणी थी, जो पति-पुत्र आदि कुरुम्बके साथ रहती थी; उसीके पुत्रभावको प्राप्त होकर वे उसके स्तनोंका दूध पीते थे। अतः कपिलाका दूध पीनेके कारण उनकी कापिलेय संज्ञा हुई। उन्होंने नैषिक (ब्रह्ममें निष्ठा रखनेवाली) बुद्धि प्राप्त की थी। कापिलेयकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें यह बात मुझे भगवान् ब्रह्माजीने बतायी थी। उनके कपिलापुत्र कहलाने और सर्वज्ञ होनेका यही उत्तम वृत्तान्त है। धर्मज्ञ पञ्चशिखने उत्तम ज्ञान प्राप्त किया था। वे राजा जनकको सौ आचार्योंपर समानभावसे अनुरक्त जानकर उनके दरबारमें गये।



वहाँ जाकर उन्होंने अपने युक्तियुक्त वचनोंसे उन सब आचार्योंको मोहित कर दिया। उस समय महाराज जनक कपिलानन्दन पञ्चशिखका ज्ञान देखकर उनके प्रति आकृष्ट हो गये और अपने सौ आचार्योंको छोड़कर उन्हींके पीछे चलने लगे। तब मुनिवर पञ्चशिखने राजाको धर्मानुसार चरणोंमें पड़ा देख उन्हें योग्य अधिकारी मानकर परम मोक्षका उपदेश किया, जिसका सांख्य-शास्त्रमें वर्णन है। उन्होंने 'जातिनिर्वेद'^१ का वर्णन करके 'कर्मनिर्वेद'^२ का उपदेश किया। तत्पश्चात् 'सर्वनिर्वेद'^३ की बात बतायी। उन्होंने कहा— जिसके लिये धर्मका आचरण किया जाता है, जो कर्मोंके फलका उदय होनेपर प्राप्त होता है, वह इहलोक या परलोकका भोग नश्वर है। उसपर आस्था करना उचित नहीं। वह मोहरूप चञ्चल और अस्थिर है।

१. जन्मके समय गर्भवास आदिके कारण जो कष्ट होता है, उसपर विचार करके शरीरसे वैराग्य होना 'जातिनिर्वेद' है। २. कर्मजनित क्लेश—नाना योनियोंकी प्राप्ति एवं नरकादि यातनाका विचार करके पाप तथा काम्य कर्मोंसे विरत होना 'कर्मनिर्वेद' है। ३. इस जगत्की छोटी-से-छोटी वस्तुओंसे लेकर ब्रह्मलोकतकके भोगोंकी क्षणभङ्गुरता और दुःखरूपताका विचार करके सब ओरसे विरक्त होना 'सर्वनिर्वेद' कहलाता है।

कुछ नास्तिक ऐसा कहा करते हैं कि 'देहरूपी आत्माका विनाश प्रत्यक्ष देखा जा रहा है, सम्पूर्ण लोक इसका साक्षी है; फिर भी यदि कोई शास्त्र-प्रमाणकी ओट लेकर देहसे भिन्न आत्माकी सत्ताका प्रतिपादन करता है तो वह परास्त ही है; क्योंकि उसका कथन लोकानुभवके विरुद्ध है। आत्माके स्वरूपका अभाव हो जाना ही उसकी मृत्यु है। जो लोग मोहवश आत्माको देहसे भिन्न मानते हैं, उनकी वह मान्यता ठीक नहीं है। यदि ऐसी वस्तुका भी अस्तित्व मान लिया जाय, जो लोकमें सम्भव नहीं है अर्थात् यदि शास्त्रके आधारपर यह स्वीकार किया जाय कि शरीरसे भिन्न कोई अजर-अमर आत्मा है, जो स्वर्ग आदि लोकोंमें दिव्य सुख भोगता है, तब तो बंदीलोग, जो राजाको अजर-अमर कहते हैं, उनकी वह बात भी ठीक माननी पड़ेगी। सारांश यह है कि जैसे बंदीलोग आशीर्वादमें उपचारतः राजाको अजर-अमर कहते हैं, उसी प्रकार शास्त्रका वह वचन भी औपचारिक ही है। नीरोग शरीरको ही अजर-अमर और यहाँके प्रत्यक्ष सुख-भोगको ही स्वर्गीय सुख कहा गया है। यदि आत्मा है या नहीं—यह संशय उपस्थित होनेपर अनुमानसे उसके अस्तित्वका साधन किया जाय तो इसके लिये कोई ऐसा ज्ञापक हेतु नहीं उपलब्ध होता, जो कहीं व्यभिचरित न होता हो; फिर किस अनुमानका आश्रय लेकर लोक-व्यवहारका निश्चय किया जा सकता है। अनुमान और आगम—इन दोनों प्रमाणोंका मूल्य प्रत्यक्ष प्रमाण है। आगम या अनुमान यदि प्रत्यक्ष अनुभवके विरुद्ध है तो वह कुछ भी नहीं है, उसकी प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की जा सकती। जिस किसी भी अनुमानमें ईश्वर, अदृष्ट अथवा नित्य आत्माकी सिद्धिके लिये की हुई भावना भी व्यर्थ है; अतः नास्तिकोंके मतमें शरीरसे भिन्न जीवका अस्तित्व

नहीं है, यह बात स्थिर हुई। जैसे वटवृक्षके बीजमें पत्र, पुष्प, फल, मूल तथा त्वचा आदि अन्तर्हित होते हैं, जैसे गायके द्वारा खायी हुई घासमेंसे धी, दूध आदि प्रकट हो जाते हैं तथा जिस प्रकार अनेक औषध-द्रव्योंका पाक एवं अधिवासन करनेसे उसमें नशा पैदा करनेवाली शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार वीर्यसे ही शरीर आदिके साथ चेतनता भी प्रकट होती है।'

(इस नास्तिक मतका खण्डन इस प्रकार समझना चाहिये) मरे हुए शरीरमें जो चेतनताका अतिक्रमण देखा जाता है, वही देहातिरिक्त आत्माके अस्तित्वमें प्रमाण है। यदि चेतनता देहका ही धर्म होता तो मृतक शरीरमें भी उसकी उपलब्धि होती। मृत्युके पश्चात् कुछ कालतक शरीर तो रहता है, पर उसमें चेतनता नहीं रहती। अतः चेतन आत्मा शरीरसे भिन्न है—यह सिद्ध होता है। नास्तिक भी रोग आदिकी निवृत्तिके लिये मन्त्रजप तथा तान्त्रिक-पद्धतिसे देवता आदिकी आराधना करते हैं। वह देवता क्या है? यदि पाञ्चभौतिक है तो घट आदिकी भाँति उसका दर्शन होना चाहिये और यदि वह भौतिक पदार्थोंसे भिन्न है तो चेतनकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो गयी। अतः देहसे भिन्न आत्मा है—यह प्रत्यक्ष अनुभवसे सिद्ध हो जाता है; और देह ही आत्मा है, यह प्रत्यक्ष अनुभवके विरुद्ध जान पड़ता है। यदि शरीरकी मृत्युके साथ आत्माकी भी मृत्यु मान ली जाय, तब तो उसके किये हुए कर्मोंका भी नाश मानना पड़ेगा; फिर तो उसके शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगनेवाला कोई नहीं रह जायगा और देहकी उत्पत्तिमें अकृताभ्यागम (बिना किये हुए कर्मका ही भोग प्राप्त हुआ ऐसा) माननेका प्रसङ्ग उपस्थित होगा। ये सब प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि देहातिरिक्त चेतन आत्माकी सत्ता

अवश्य है। नास्तिकोंकी ओरसे जो हेतुभूत दृष्टान्त दिये गये हैं, वे मूर्त पदार्थ हैं। मूर्त जड़-पदार्थसे मूर्त जड़-पदार्थकी ही उत्पत्ति होती है—यही उनके द्वारा सिद्ध होता है। जैसे काष्ठसे अग्निकी उत्पत्ति आदि।

पञ्चभूतोंसे आत्माकी उत्पत्तिकी भाँति यदि मूर्तसे अमूर्तकी उत्पत्ति मानी जाय तो पृथ्वी आदि मूर्त भूतोंसे अमूर्त आकाशकी भी उत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी, जो असम्भव है। अतः स्थूल भूतोंके संयोगसे अमूर्त चेतन आत्माकी उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है।

आत्माकी सत्ता न माननेपर लोकयात्राका निर्वाह नहीं होगा। दान, धर्मके फलकी प्राप्तिके लिये कोई आस्था नहीं रहेगी; क्योंकि वैदिक शब्द तथा लौकिक व्यवहार सब आत्माको ही सुख देनेके लिये हैं। इस प्रकार मनमें अनेक प्रकारके तर्क उठते हैं और उन तर्कों तथा युक्तियोंसे आत्माकी सत्ता या असत्ताका निर्धारण कुछ भी होता नहीं दिखायी देता। इस प्रकार विचार करते हुए भिन्न-भिन्न मतोंकी ओर दौड़नेवाले लोगोंकी बुद्धि कहीं एक जगह प्रवेश करती है और वहीं वृक्षकी भाँति जड़ जमाये जीर्ण हो जाती है। इस प्रकार अर्थ और अनर्थसे सभी प्राणी दुःखी रहते हैं। केवल शास्त्र ही उन्हें खींचकर राहपर लाते हैं, ठीक उसी तरह, जैसे महावत हाथीपर अङ्गुश रखकर उन्हें काबूमें किये रहते हैं। बहुत-से शुष्क हृदयवाले लोग ऐसे विषयोंकी लिप्सा रखते हैं, जो अत्यन्त सुखदायक हों; किंन्तु इस लिप्सामें उन्हें भारी-से-भारी दुःखोंका ही सामना करना पड़ता है और अन्तमें वे भोगोंको छोड़कर मृत्युके ग्रास बन जाते हैं। जो एक दिन नष्ट होनेवाला है, जिसके जीवनका कुछ ठिकाना नहीं, ऐसे अनित्य शरीरको पाकर इन बन्धु-बान्धवों तथा स्त्री-

पुत्रादिसे क्या लाभ है? यह सोचकर जो मनुष्य इन सबको क्षणभरमें वैराग्यपूर्वक त्यागकर चल देता है, उसे मृत्युके बाद फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। पृथ्वी, आकाश, जल, अग्नि और वायु—ये सदा शरीरकी रक्षा करते रहते हैं, इस बातको अच्छी तरह समझ लेनेपर इसके प्रति आसक्ति कैसे हो सकती है? जो एक दिन मृत्युके मुखमें पड़नेवाला है, ऐसे शरीरसे सुख कहाँ?

पञ्चशिखने फिर कहा—राजन्! अब मैं उस परम उत्तम सांख्यशात्रका वर्णन करता हूँ, जिसका नाम है—सम्यङ्गमन (मनको संदेहरहित करनेवाला), उसमें त्यागकी प्रधानता है। तुम ध्यान देकर सुनो। उसका उपदेश तुम्हारे मोक्षमें सहायक होगा। जो लोग मुक्तिके लिये प्रयत्नशील हों, उन सबको चाहिये कि सम्पूर्ण सकाम कर्मोंका और धन आदिका भी त्याग करें। जो त्याग किये बिना व्यर्थ ही विनीत (शम-दमादि साधनोंमें तत्पर) होनेका झूठा दावा करते हैं, उन्हें दुःख देनेवाले अविद्यारूप क्लेश प्राप्त होते रहते हैं। शास्त्रोंमें द्रव्यका त्याग करनेके लिये यज्ञ आदि कर्म, भोगका त्याग करनेके लिये व्रत, दैहिक सुखोंके त्यागके लिये तप और सब कुछ त्यागनेके लिये योगके अनुष्ठानकी आज्ञा दी गयी है। यही त्यागकी सीमा है। सर्वस्व-त्यागका यह एकमात्र मार्ग ही दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये उत्तम बताया गया है। इसका आश्रय न लेनेवालोंको दुर्गति भोगनी पड़ती है।

छठे मनसहित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बतायी हैं, जिनकी स्थिति बुद्धिमें है, इनका वर्णन करके पाँच कर्मेन्द्रियोंका निरूपण करता हूँ। दोनों हाथ काम करनेवाली इन्द्रिय हैं। दोनों पैर चलने-फिरनेका कार्य करनेवाली इन्द्रिय हैं। लिङ्ग मैथुन-जनक सुख और संतानोत्पादन आदिके

लिये है। गुदा नामक इन्द्रियका कार्य मलत्याग करना है। वाक्-इन्द्रिय शब्दविशेषका उच्चारण करनेके लिये है। मनको इन पाँचोंसे संयुक्त माना गया है। इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन—ये सब मिलकर ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। इन सबको मनरूप जानकर बुद्धिके द्वारा शीघ्र इनका त्याग कर देना चाहिये। श्रवणकालमें श्रोत्ररूपी इन्द्रिय, शब्दरूपी विषय और चित्तरूपी कर्ता—इन तीनका संयोग होता है। इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धके अनुभवकालमें भी इन्द्रिय, विषय एवं मनका संयोग अपेक्षित है। इस तरह तीन-तीनके पाँच समुदाय हैं। ये सब गुण कहे गये हैं। इनसे शब्दादि विषयोंका ग्रहण होता है और इसीके लिये ये कर्ता, कर्म और करणरूपी त्रिविधि भाव बारी-बारीसे उपस्थित होते हैं। इनमेंसे एक-एकसे सात्त्विक, राजस और तामस तीन-तीन भेद होते हैं। हर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख और चित्तकी शान्ति—ये सब भाव बिना किसी कारणके हों या किसी कारणवश हों^१, सात्त्विक गुण माने गये हैं। असंतोष, संताप,

शोक, लोभ तथा क्षमाका अभाव—ये किसी कारणसे हों या अकारण—रजोगुणके चिह्न हैं। अविवेक, मोह, प्रमाद, स्वप्न और आलस्य—ये किसी तरह भी क्यों न हों, तमोगुणके ही नाना रूप हैं^२।

जो इस मोक्ष-विद्याको जानकर सावधानीके साथ आत्मतत्त्वका अनुसंधान करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी भाँति कर्मके अनिष्ट फलोंसे कभी लिस नहीं होता। संतानोंके प्रति आसक्ति और भिन्न-भिन्न देवताओंके लिये सकाम यज्ञोंका अनुष्ठान—ये सब मनुष्यके लिये नाना प्रकारके दृढ़ बन्धन हैं। जब वह इन बन्धनोंसे छूटकर दुःख-सुखकी चिन्ता छोड़ देता है, उस समय सर्वश्रेष्ठ गति (मुक्ति) प्राप्त कर लेता है। श्रुतिके महावाक्योंका विचार और शास्त्रमें बताये हुए मङ्गलमय साधनोंका अनुष्ठान करनेसे मनुष्य जरा तथा मृत्युके भयसे रहित होकर सुखसे रहता है। जब पुण्य और पापका क्षय तथा उनसे मिलनेवाले सुख-दुःखादि फलोंका नाश हो जाता है, उस समय सब वस्तुओंकी आसक्तिसे रहित

१. मनमें हर्ष, प्रीति आदि भावोंका उदय जब किसी अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति आदिसे होता है तो उसे कारणवश हुआ कहा गया है और जब वैराग्य आदिसे स्वतः उक्त भावोंका उदय हो तो उसे अकारण माना गया है।

२. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २१८ और २१९ में भी यही प्रसङ्ग आया है। २१९ के २८ वें श्लोकतक यह प्रसङ्ग ज्यों-का-त्यों है। इसके आगे महाभारतमें पंद्रह श्लोक अधिक हैं, जो इस प्रसङ्गकी दृष्टिसे अत्यन्त आवश्यक हैं। नारदपुराणके श्लोक सतहत्तरके बाद ही उन श्लोकोंका भाव अपेक्षित है। अतः प्रसङ्गकी पूर्तिके लिये यहाँ उन श्लोकोंमेंसे कुछका संक्षिप्त भाव दिया जाता है।

‘शब्दका आधार श्रोत्रेन्द्रिय है और श्रोत्रेन्द्रियका आधार आकाश है, अतः वह आकाशरूप ही है। इसी प्रकार त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका भी क्रमशः स्पर्श, रूप, रस और गन्धका आश्रय तथा अपने आधारभूत महाभूतोंके स्वरूप हैं। इन सबका अधिष्ठान है मन; इसलिये सब-के-सब मनःस्वरूप हैं। क्योंकि जब सब इन्द्रियोंका कार्य एक समय प्रारम्भ होता है, तब उन सबके विषयोंको एक साथ अनुभव करनेके लिये मन ही सबमें अनुगतरूपसे उपस्थित रहता है; अतः मनको ग्यारहवीं इन्द्रिय कहा गया है और बुद्धि बारहवीं मानी गयी है। इस प्रकार समस्त प्राणी अनादि अविद्याके कारण स्वभावतः व्यवहारपरायण हो रहे हैं। ऐसी दशामें ज्ञानद्वारा अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है। तब केवल सनातन आत्मा ही रह जाता है। जैसे नद और नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपने नाम-रूपको त्याग देती हैं, उसी प्रकार समस्त प्राणी अपने नाम और रूपको त्यागकर महत्स्वरूपमें प्रतिष्ठित होते हैं। यही उनका मोक्ष है।

पुरुष आकाशके समान निर्लेप एवं निर्गुण आत्माका साक्षात्कार कर लेता है। जो शरीरमें आसक्ति न रखकर उसके प्रति अपनेपनका अभिमान त्याग देता है, वह दुःखसे छूट जाता है। जैसे वृक्षके प्रति आसक्ति न रखनेवाला पक्षी जलमें गिरते हुए वृक्षको छोड़कर उड़ जाता है, उसी प्रकार जो शरीरकी आसक्तिको छोड़ चुका है, वह मुक्त पुरुष सुख और दुःख दोनोंका त्याग करके उत्तम गतिको प्राप्त होता है।

आचार्य पञ्चशिखके बताये हुए इस अमृतमय ज्ञानको सुनकर राजा जनक उसे पूर्णरूपसे विचार करके एक निश्चित सिद्धान्तपर पहुँच गये और

शोकरहित हो बड़े सुखसे रहने लगे। फिर तो उनकी स्थिति ऐसी हो गयी कि एक बार मिथिलानगरीको आगसे जलती देखकर भूपालने स्वयं यह उद्गार प्रकट किया कि 'इस नगरके जलनेसे मेरा कुछ भी नहीं जलता।' महामुनि नारदजी! इस अध्यायमें मोक्षतत्त्वका निर्णय किया गया है। जो सदा इसका स्वाध्याय और चिन्तन करता रहता है, वह दुःख-शोकसे रहित हो कभी किसी प्रकारके उपद्रवका अनुभव नहीं करता तथा जिस प्रकार राजा जनक पञ्चशिखके समागमसे इस ज्ञानको पाकर मुक्त हो गये थे, उसी प्रकार वह भी मोक्ष प्राप्त करता है।

त्रिविधि तापोंसे छूटनेका उपाय, भगवान् तथा वासुदेव आदि शब्दोंकी व्याख्या, परा और अपरा विद्याका निरूपण, खाण्डिङ्क्य और केशिध्वजकी कथा,

केशिध्वजद्वारा अविद्याके बीजका प्रतिपादन

सूतजी कहते हैं—महर्षियो! उत्तम अध्यात्मज्ञान सुनकर उदारबुद्धि नारदजी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने पुनः प्रश्न किया।

नारदजी बोले—दयानिधे! मैं आपकी शरणमें हूँ। मुने! मनुष्यको आध्यात्मिक आदि तीनों तापोंका अनुभव न हो, वह उपाय मुझे बतलाइये।

सनन्दनजीने कहा—विद्वन्! गर्भमें, जन्मकालमें और बुढ़ापा आदि अवस्थाओंमें प्रकट होनेवाले जो तीन प्रकारके दुःख-समुदाय हैं, उनकी एकमात्र अमोघ एवं अनिवार्य ओषधि भगवान्‌की प्राप्ति ही मानी गयी है। जब भगवत्प्राप्ति होती है, उस समय ऐसे लोकोत्तर आनन्दकी अभिव्यक्ति होती है, जिससे बढ़कर सुख और आहाद कहीं ही नहीं। यही उस भगवत्प्राप्तिकी पहचान है। अतः विद्वान् मनुष्योंको भगवान्‌की प्राप्तिके लिये

अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। महामुने! भगवत्प्राप्तिके दो ही उपाय बताये गये हैं—ज्ञान और (निष्काम) कर्म। ज्ञान भी दो प्रकारका कहा जाता है। एक तो शास्त्रके अध्ययन और अनुशीलनसे प्राप्त होता है और दूसरा विवेकसे प्रकट होता है। शब्दब्रह्म अर्थात् वेदका ज्ञान शास्त्रज्ञान है और परब्रह्म परमात्माका बोध विवेकजन्य ज्ञान है। मुनिश्रेष्ठ! मनुजीने भी वेदार्थका स्मरण करके इस विषयमें जो कुछ कहा है, उसे मैं स्पष्ट बताता हूँ—सुनो। जानने योग्य ब्रह्म दो प्रकारका है—एक शब्दब्रह्म और दूसरा परब्रह्म। जो शब्दब्रह्म (शास्त्रज्ञान)-में पारञ्जत हो जाता है, वह विवेकजन्य ज्ञानद्वारा परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है*। अर्थवेदकी श्रुति कहती है कि दो प्रकारकी विद्याएँ जानने योग्य हैं—परा और अपरा। परासे निर्गुण-सगुणरूप

* द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ (ना० पूर्व० ४६ । ८)

परमात्माकी प्राप्ति होती है। जो अव्यक्त, अजर, चेष्टारहित, अजन्मा, अविनाशी, अनिर्देश्य (नाम आदिसे रहित), रूपहीन, हाथ-पैर आदि अङ्गोंसे शून्य, व्यापक, सर्वगत, नित्य, भूतोंका आदिकारण तथा स्वयं कारणहीन है, जिससे सम्पूर्ण व्याप्ति वस्तुएँ व्याप्ति हैं, समस्त जगत् जिससे प्रकट हुआ है एवं ज्ञानीजन ज्ञानदृष्टिसे जिसका साक्षात्कार करते हैं, वही परमधामस्वरूप ब्रह्म है। मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको उसीका ध्यान करना चाहिये। वही वेदवाक्योंद्वारा प्रतिपादित, अतिसूक्ष्म भगवान् विष्णुका परम पद है। परमात्माका वह स्वरूप ही 'भगवत्' शब्दका वाच्यार्थ है और 'भगवत्' शब्द उस अविनाशी परमात्माका वाचक कहा गया है। इस प्रकार जिसका स्वरूप बतलाया गया है, वही परमात्माका यथार्थ तत्त्व है। जिससे उसका ठीक-ठीक बोध होता है, वही परा विद्या अथवा परम ज्ञान है। इससे भिन्न जो तीनों वेद हैं उन्हें अपर ज्ञान या अपरा विद्या कहा गया है।

ब्रह्मन्! यद्यपि वह ब्रह्म किसी शब्द या वाणीका विषय नहीं है, तथापि उपासनाके लिये 'भगवान्' इस नामसे उसका कथन किया जाता है। देवर्षे! जो समस्त कारणोंका भी कारण है, उस परम शुद्ध महाभूति नामवाले परब्रह्मके लिये ही भगवत् शब्दका प्रयोग हुआ है। 'भगवत्' शब्दके 'भ' कारके दो अर्थ हैं—सम्भर्ता (भरण-पोषण करनेवाला) तथा भर्ता (धारण करनेवाला)।

मुने! 'ग' कारके तीन अर्थ हैं—गमयिता (प्रेरक), नेता (सञ्चालक) तथा स्त्रष्टा (जगत्की सृष्टि करनेवाला)। 'भ' और 'ग' के योगसे 'भग' शब्द बनता है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान तथा सम्पूर्ण वैराग्य—इन छःका नाम 'भग' है^१। उस सर्वात्मा परमेश्वरमें सम्पूर्ण भूत-प्राणी निवास करते हैं तथा वह स्वयं भी सब भूतोंमें वास करता है, इसलिये वह अव्यय परमात्मा ही 'व' कारका अर्थ है। साधुशिरोमणे! इस प्रकार 'भगवान्' यह महान् शब्द परब्रह्मस्वरूप भगवान् वासुदेवका ही बोध करनेवाला है। पूज्यपदका जो अर्थ है, उसको सूचित करनेकी परिभाषासे युक्त यह भगवत्-शब्द परमात्माके लिये तो प्रधानरूपसे प्रयुक्त होता है और दूसरोंके लिये गौणरूपसे। जो सब प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयको, आवागमनको तथा विद्या और अविद्याको जानता है, वही भगवान् कहलाने योग्य है। त्याग करने योग्य अवगुण आदिको छोड़कर जो अलौकिक ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदि सद्गुण हैं, वे सभी भगवत् शब्दके वाच्यार्थ हैं। उन परमात्मामें सम्पूर्ण भूत वास करते हैं और वह भी समस्त भूतोंमें निवास करता है, इसीलिये उसे 'वासुदेव' कहा गया है^२। पूर्वकालमें खाण्डिक्य जनकसे उनके पूछनेपर केशिध्वजने भगवान् अनन्तके वासुदेव नामकी यथार्थ व्याख्या इस प्रकार की थी। परमात्मा सम्पूर्ण भूतोंमें वास

१. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥
(ना० पूर्व० ४६ । १७)
२. उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥
सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि । भूतेषु वसनादेव वासुदेवस्ततः स्मृतः ॥
(ना० पूर्व० ४६ । २१—२३)

करते हैं और वे भूतप्राणी भी उनके भीतर रहते हैं तथा वे परमात्मा ही जगत्‌के धारण-पोषण करनेवाले और स्रष्टा हैं; अतः उन सर्वशक्तिमान्‌ प्रभुको 'वासुदेव' कहा गया है*। मुने! जो सम्पूर्ण जगत्‌के आत्मा तथा समस्त आवरणोंसे परे हैं, वे परमात्मा सम्पूर्ण भूतोंकी प्रकृति, प्राकृत विकार तथा गुण और दोषोंसे ऊपर उठे हुए हैं। पृथ्वी और आकाशके बीचमें जो कुछ स्थित है, वह सब उन्हींसे व्याप्त है। सम्पूर्ण कल्पाणमय गुण उनके स्वरूप हैं। उन्होंने अपनी शक्तिके लेशमात्रसे सम्पूर्ण भूतसमुदायको व्याप्त कर रखा है। वे अपनी इच्छामात्रसे मनके अनुकूल अनेक शरीर धारण करते हैं और सारे जगत्‌का हित-साधन करते रहते हैं। वे तेज, बल, ऐश्वर्य, महान्‌ ज्ञान, उत्तम वीर्य और शक्ति आदि गुणोंकी एकमात्र राशि हैं। प्रकृति आदिसे भी परे हैं और उन समस्त कार्य-कारणोंके स्वामी परमेश्वरमें समस्त क्लेशोंका सर्वथा अभाव है। वे सबका शासन करनेवाले ईश्वर हैं। व्यष्टि और समष्टि जगत्‌ उन्हींका स्वरूप है। वे ही व्यक्त हैं और वे ही अव्यक्त। वे सबके स्वामी, सम्पूर्ण सृष्टिके ज्ञाता, सर्वशक्तिमान्‌ तथा परमेश्वर नामसे प्रसिद्ध हैं। जिसके द्वारा निर्दोष, विशुद्ध निर्मल तथा एकरूप परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार अथवा बोध होता है, उसीका नाम ज्ञान है और इसके विपरीत जो कुछ है, वह अज्ञान कहा गया है। भगवान्‌ पुरुषोत्तमका दर्शन स्वाध्याय और संयमसे होता है। ब्रह्मकी प्राप्तिका कारण होनेसे वेदका भी नाम ब्रह्म ही है। इसीलिये वेदोंका स्वाध्याय किया जाता है। स्वाध्यायसे योगका

अनुष्ठान करे और योगसे स्वाध्यायका अभ्यास करे। इस प्रकार स्वाध्याय और योग—दोनों साधनोंका सम्पादन होनेसे परमात्मा प्रकाशित होते हैं। उनका दर्शन करनेके लिये स्वाध्याय और योग दोनों नेत्र हैं।

नारदजीने पूछा—भगवन्‌! जिसके जान लेनेपर मैं सर्वाधार परमेश्वरका दर्शन कर सकूँ, उस योगको मैं जानना चाहता हूँ। कृपा करके उसका वर्णन कीजिये।

सनन्दनजीने कहा—पूर्वकालमें केशिध्वजने महात्मा खाण्डिक्य जनकको जिस प्रकार योगका उपदेश दिया था, वही मैं तुम्हें बतलाता हूँ।

नारदजीने पूछा—ब्रह्मन्‌! खाण्डिक्य और केशिध्वज कौन थे? तथा उनमें योगसम्बन्धी बातचीत किस प्रकार हुई थी?

सनन्दनजीने कहा—नारदजी! पूर्वकालमें धर्मध्वज जनक नामक एक राजा हो गये हैं। उनके बड़े पुत्रका नाम अमितध्वज था। उसके छोटे भाई कृतध्वजके नामसे विख्यात थे। राजा कृतध्वज सदा अध्यात्मचिन्तनमें ही अनुरक्त रहते थे। कृतध्वजके पुत्र केशिध्वज हुए। ब्रह्मन्‌! वे अपने सद्ज्ञानके कारण धन्य हो गये थे। अमितध्वजके पुत्रका नाम खाण्डिक्य जनक था। खाण्डिक्य कर्मकाण्डमें निपुण थे। एक समय केशिध्वजने खाण्डिक्यको परास्त करके उन्हें राज्यसिंहासनसे उतार दिया। राज्यसे भ्रष्ट होनेपर खाण्डिक्य थोड़ी-सी साधन-सामग्री लेकर पुरोहित और मन्त्रियोंके साथ एक दुर्गम वनमें चले गये। इधर केशिध्वजने ज्ञाननिष्ठ होते हुए भी निष्कामभावसे अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान

* भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत्। धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः॥

(ना० पूर्व० ४६। २५)

किया। योगवेत्ताओंमें श्रेष्ठ नारदजी! एक समय केशिध्वज जब यज्ञमें लगे हुए थे, उनकी दूध देनेवाली गायको निर्जन वनमें किसी भयङ्कर व्याघ्रने मार डाला। व्याघ्रद्वारा गौको मारी गयी जानकर राजाने ऋत्विजोंसे इसका प्रायश्चित्त पूछा—‘इस विषयमें क्या करना चाहिये?’ ऋत्विज् बोले—‘महाराज! हम नहीं जानते। आप कशेरुसे पूछिये।’ नारदजी! जब राजाने कशेरुसे यह बात पूछी तो उन्होंने भी वैसा ही उत्तर देते हुए कहा—‘राजेन्द्र! मैं इस विषयमें कुछ नहीं जानता। आप शुनकसे पूछिये, वे जानते होंगे।’ तब राजाने शुनकके पास जाकर यही प्रश्न किया। मुने! प्रश्न सुनकर शुनकने भी वैसा ही उत्तर दिया—‘राजन्! इस विषयमें न तो कशेरु कुछ जानते हैं और न मैं। इस समय पृथ्वीपर दूसरा कोई भी इसका ज्ञाता नहीं है। एक ही व्यक्ति इस बातको जानता है, वह है तुम्हारा शत्रु ‘खाण्डक्य’, जिसे तुमने परास्त किया है।’ मुने! शुनककी यह बात सुनकर राजाने कहा—अच्छा तो अब मैं अपने शत्रुसे ही यह बात पूछनेके लिये जाता हूँ। यदि वह मुझे मार देगा तो भी इस यज्ञका फल तो प्राप्त ही हो जायगा। मुनिश्रेष्ठ! यदि मेरा वह शत्रु पूछनेपर मुझे प्रायश्चित्त बतला देगा तब तो यह यज्ञ साङ्घोपाङ्घ पूर्ण होगा ही।’ ऐसा कहकर राजा केशिध्वज काला मृगचर्म धारण किये रथपर बैठे और जहाँ महाराज खाण्डक्य रहते थे, उस वनमें गये। खाण्डक्यने अपने उस शत्रुको आते देख धनुष चढ़ा लिया और क्रोधसे आँखें लाल करके कहा।

खाण्डक्य बोले— अरे! क्या तू काले मृगचर्मको कवचके रूपमें धारण करके हमें मारेगा?

केशिध्वजने कहा— खाण्डक्यजी! मैं आपसे एक संदेह पूछनेके लिये आया हूँ। आपको

मारनेके लिये नहीं आया हूँ।



तदनन्तर परम बुद्धिमान् खाण्डक्यने अपने समस्त मन्त्रियों और पुरोहितके साथ एकान्तमें सलाह की। मन्त्रियोंने कहा—‘यह शत्रु इस समय हमारे वशमें है, अतः इसे मार डालना चाहिये। इसके मारे जानेपर यह सारी पृथ्वी आपके अधीन हो जायगी।’ यह सुनकर खाण्डक्य उन सबसे बोले—‘निःसंदेह ऐसी ही बात है। इसके मारे जानेपर यह सारी पृथ्वी अवश्य मेरे अधीन हो जायगी। परंतु इसे पारलौकिक विजय प्राप्त होगी और मुझे सम्पूर्ण पृथ्वी। यदि इसे न मारूँ तो पारलौकिक विजय मेरी होगी और इसे सारी पृथ्वी मिलेगी। पारलौकिक विजय अनन्तकालके लिये होती है तथा पृथ्वीकी जीत थोड़े ही दिन रहती है। इसलिये मैं तो इसे मारूँगा नहीं। यह जो कुछ पूछेगा उसे बतलाऊँगा।’ ऐसा निश्चय करके खाण्डक्य जनक अपने शत्रुके समीप गये और इस प्रकार बोले—‘तुम्हें जो कुछ पूछना हो वह सब पूछ लो, मैं बताऊँगा।’ नारदजी! खाण्डक्यके ऐसा कहनेपर केशिध्वजने

होमसम्बन्धी गायके मारे जानेका सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया और उसके लिये कोई व्रतरूप प्रायश्चित्त पूछा! खाण्डक्यने भी वह सम्पूर्ण प्रायश्चित्त जिसका कि उसके लिये विधान था, केशिध्वजको विधिपूर्वक बता दिया। सब बातें जान लेनेपर महात्मा खाण्डक्यकी आज्ञा ले केशिध्वजने यज्ञभूमिको प्रस्थान किया और वहाँ पहुँचकर क्रमशः प्रायश्चित्तका सारा कार्य पूर्ण किया। फिर धीरे-धीरे यज्ञ समाप्त होनेपर राजाने अवधृथस्नान किया। तत्पश्चात् कृतकार्य होकर राजा केशिध्वजने मन-ही-मन सोचा—‘मैंने सम्पूर्ण ऋत्विजोंका पूजन तथा सब सदस्योंका सम्मान किया। साथ ही याचकोंको भी उनकी मनोवाञ्छित वस्तुएँ दीं। इस लोकके अनुसार जो कुछ कर्तव्य था, वह सब मैंने पूरा किया। तथापि न जाने क्यों मेरे मनमें ऐसा अनुभव होता है कि मेरा कोई कर्तव्य अधूरा रह गया है।’ इस प्रकार सोचते-सोचते राजाके ध्यानमें यह बात आयी कि मैंने अभीतक खाण्डक्यजीको गुरुदक्षिणा नहीं दी है। नारदजी! तब वे रथपर बैठकर फिर उसी दुर्गम वनमें गये, जहाँ खाण्डक्य रहते थे। खाण्डक्यने पुनः उन्हें आते देख हथियार उठा लिया। यह देख राजा केशिध्वजने कहा—‘खाण्डक्यजी! क्रोध न कीजिये। मैं आपका अहित करनेके लिये नहीं, गुरुदक्षिणा देनेके लिये आया हूँ। आपके उपदेशके अनुसार मैंने अपना यज्ञ भलीभाँति पूरा कर लिया है। अतः अब मैं आपको गुरुदक्षिणा देना चाहता हूँ। आपकी जो इच्छा हो, माँग लीजिये।’

उनके ऐसा कहनेपर खाण्डक्यने पुनः अपने मन्त्रियोंसे सलाह ली और कहा—‘यह मुझे गुरुदक्षिणा देना चाहता है, मैं इससे क्या माँगूँ?’ मन्त्रियोंने कहा—‘आप इससे सम्पूर्ण राज्य माँग

लीजिये।’ तब राजा खाण्डक्यने उन मन्त्रियोंसे हँसकर कहा—‘पृथ्वीका राज्य तो थोड़े ही समयतक रहनेवाला है, उसे मेरे-जैसे लोग कैसे माँग सकते हैं? आपका कथन भी ठीक ही है, क्योंकि आपलोग स्वार्थ-साधनके मन्त्री हैं। परमार्थ क्या और कैसा है? इस विषयमें आपलोगोंको विशेष ज्ञान नहीं है।’ ऐसा कहकर वे राजा केशिध्वजके पास आये और इस प्रकार बोले—‘क्या तुम निश्चय ही गुरुदक्षिणा दोगे?’ उन्होंने कहा—‘जी हाँ।’ उनके ऐसा कहनेपर खाण्डक्यने कहा—‘आप अध्यात्मज्ञानरूप परमार्थविद्याके ज्ञाता हैं। यदि मुझे अवश्य ही गुरुदक्षिणा देना चाहते हैं तो जो कर्म सम्पूर्ण वलेशोंका नाश करनेमें समर्थ हो, उसका उपदेश कीजिये।’

केशिध्वजने पूछा—राजन! आपने मेरा निष्कण्टक राज्य क्यों नहीं माँगा? क्योंकि क्षत्रियोंके लिये राज्य मिलनेसे बढ़कर प्रिय वस्तु और कोई नहीं है।

खाण्डक्य बोले—केशिध्वजजी! मैंने आपका सम्पूर्ण राज्य क्यों नहीं माँगा, इसका कारण सुनिये। विद्वान् पुरुष राज्यकी इच्छा नहीं करते। क्षत्रियोंका यह धर्म है कि वे प्रजाकी रक्षा करें और अपने राज्यके विरोधियोंका धर्मयुद्धके द्वारा वध करें। मैं इस कर्तव्यके पालनमें असमर्थ हो गया था, इसलिये यदि आपने मेरे राज्यका अपहरण कर लिया है तो इसमें कोई दोषकी बात नहीं है। यह राजकार्य अविद्या ही है। यदि समझपूर्वक इसका त्याग न किया जाय तो यह बन्धनका ही कारण होती है। यह राज्यकी चाह जन्मान्तरके कर्मोद्वारा प्राप्त सुख-भोगके लिये होती है। अतः मुझे राज्य लेनेका अधिकार नहीं है। इसके सिवा क्षत्रियोंका किसीसे याचना करना धर्म नहीं है। यह साधु पुरुषोंका मत है।

इसलिये अविद्याके अन्तर्गत जो आपका यह राज्य है उसकी याचना मैंने नहीं की है। जिनका चित्त ममतासे आकृष्ट है और जो अहंकाररूपी मदिराका पान करके उन्मत्त हो रहे हैं, वे अज्ञानी पुरुष ही राज्यकी अभिलाषा करते हैं।

केशिध्वजने कहा—मैं भी विद्यासे मृत्युके पार जानेकी इच्छा रखकर कर्तव्यबुद्धिसे राज्यकी रक्षा और निष्कामभावसे अनेक प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करता हूँ। कुलनन्दन! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपका मन विवेकरूपी धनसे सम्पन्न हुआ है, अतः आप अविद्याका स्वरूप सुनें— अविद्यारूपी वृक्षकी उत्पत्तिका जो बीज है, यह दो प्रकारका है—अनात्मामें आत्मबुद्धि और जो अपना नहीं है उसे अपना मानना अर्थात् अहंता और ममता।

जिसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है तथा जो मोहरूपी अन्धकारसे आवृत हो रहा है, वह देहाभिमानी जीव इस पाञ्चभौतिक शरीरमें 'मैं' और 'मेरे' पनकी दृढ़ भावना कर लेता है, परंतु जब आत्मा आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदिसे सर्वथा पृथक् हैं तो कौन बुद्धिमान् पुरुष शरीरमें आत्मबुद्धि करेगा? जब आत्मा देहसे परे है तो देहके उपभोगमें आनेवाले गृह और क्षेत्र आदिको कौन बुद्धिमान् पुरुष 'यह मेरा है' ऐसा कहकर अपना मान सकता है? इस

प्रकार इस शरीरके अनात्मा होनेसे इसके द्वारा उत्पन्न किये हुए पुत्र, पौत्र आदिमें भी कौन विद्वान् अपनापन करेगा? मनुष्य सारे कर्म शरीरके उपभोगके लिये ही करता है; किंतु जब यह देह पुरुषसे भिन्न है तो वे कर्म केवल बन्धनके ही कारण होते हैं। जैसे मिट्टीके घरको मनुष्य मिट्टी और जलसे ही लीपते-पोतते हैं, उसी प्रकार यह पार्थिव शरीर भी अन्न और जलकी सहायतासे ही स्थिर रहता है। यदि पञ्चभूतोंका बना हुआ यह शरीर पाञ्चभौतिक पदार्थोंसे ही पुष्ट होता है तो इसमें पुरुषके लिये कौन-सी गर्व करनेकी बात है। यह जीव अनेक सहस्र जन्मोंसे संसाररूपी मार्गपर चल रहा है और वासनारूपी धूलसे आच्छादित होकर केवल मोहरूपी श्रमको प्राप्त होता है। सौम्य! जिस समय ज्ञानरूपी गरम जलसे इसकी वह वासनारूपी धूल धो दी जाती है, उसी समय इस संसारमार्गके पथिकका मोहरूपी श्रम शान्त हो जाता है। उस मोहरूपी श्रमके शान्त होनेपर पुरुषका अन्तःकरण निर्मल होता है और वह निरतिशय परम निर्वाणपदको प्राप्त कर लेता है। यह ज्ञानमय विशुद्ध आत्मा निर्वाणस्वरूप ही है। इस प्रकार मैंने आपको अविद्याका बीज बतलाया है। अविद्याजनित क्लेशोंको नष्ट करनेके लिये योगके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

मुक्तिप्रद योगका वर्णन

सनन्दनजी कहते हैं—नारदजी! केशिध्वजके इस अध्यात्मज्ञानसे युक्त अमृतमय वचनको सुनकर खाण्डक्यने पुनः उन्हें प्रेरित करते हुए कहा।

खाण्डक्य बोले—योगवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महाभाग केशिध्वज! आप निमिवंशमें योगशास्त्रके विशेषज्ञ हैं, अतः आप उस योगका वर्णन कीजिये।

केशिध्वजने कहा—खाण्डक्यजी! मैं योगका स्वरूप बतलाता हूँ, सुनिये। उस योगमें स्थित होनेपर मुनि ब्रह्ममें लीन होकर फिर अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता। मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है। विषयोंमें आसक्त होनेपर वह बन्धनका कारण होता है और

विषयोंसे दूर हटकर वही मोक्षका साधक बन जाता है^१। अतः विवेकज्ञानसम्पन्न विद्वान् पुरुष मनको विषयोंसे हटाकर परमेश्वरका चिन्तन करे। जैसे चुम्बक अपनी शक्तिसे लोहेको खींचकर अपनेमें संयुक्त कर लेता है, उसी प्रकार ब्रह्मचिन्तन करनेवाले मुनिके चित्तको परमात्मा अपने स्वरूपमें लीन कर लेता है। आत्मज्ञानके उपायभूत जो यम-नियम आदि साधन हैं, उनकी अपेक्षा रखनेवाली जो मनकी विशिष्ट गति है, उसका ब्रह्मके साथ संयोग होना ही 'योग' कहलाता है। जिसका योग इस प्रकारकी विशेषतावाले धर्मसे युक्त होता है, वह योगी 'मुमुक्षु' कहलाता है। पहले-पहल योगका अभ्यास करनेवाला योगी 'युज्ञान' कहलाता है। और जब उसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तब वह 'विनिष्पत्तसमाधि' (युक्त) कहलाता है। यदि किसी विघ्नदोषसे उस पूर्वोक्त योगी (युज्ञान)-का चित्त दूषित हो जाता है तो दूसरे जन्मोंमें उस योगभ्रष्टकी अभ्यास करते रहनेसे मुक्ति हो जाती है। 'विनिष्पत्तसमाधि' योगी योगकी अग्रिसे अपनी सम्पूर्ण कर्मराशिको भस्म कर डालता है। इसलिये उसी जन्ममें शीघ्र मुक्ति प्राप्त कर लेता है। योगीको चाहिये कि वह अपने चित्तको योगसाधनके योग्य बनाते हुए ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रहका निष्कामभावसे

सेवन करे। ये पाँच यम हैं। इनके साथ शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा परब्रह्म परमात्मामें मनको लगाना—इन पाँच नियमोंका पालन करे। इस प्रकार ये पाँच यम और पाँच नियम बताये गये हैं। सकामभावसे इनका सेवन किया जाय तो ये विशिष्ट फल देनेवाले होते हैं और निष्कामभावसे किया जाय तो मोक्ष प्रदान करते हैं।

यत्नशील साधकको उचित है कि स्वस्तिक, सिद्ध, पद्म आदि आसनोंमेंसे किसी एकका आश्रय ले यम और नियम नामक गुणोंसे सम्पन्न हो नियमपूर्वक योगाभ्यास करे। अभ्याससे साधक जो प्राणवायुको वशमें करता है, उस क्रियाको प्राणायाम समझना चाहिये। उसके दो भेद हैं—सबीज और निर्बीज (जिसमें भगवान्के नाम और रूपका आलम्बन हो, वह सबीज प्राणायाम है और जिसमें ऐसा कोई आलम्बन नहीं है, वह निर्बीज प्राणायाम कहलाता है)। साधु पुरुषोंके उपदेशसे प्राणायामका साधन करते समय जब योगीके प्राण और अपान एक दूसरेका पराभव करते (दबाते) हैं, तब क्रमशः रेचक और पूरक नामक दो प्राणायाम होते हैं और इन दोनोंका एक ही समय संयम (निरोध) करनेसे कुम्भक नामक तीसरा प्राणायाम होता है^२। राजन्! जब योगी सबीज प्राणायामका अभ्यास करता है, तब उसका आलम्बन सर्वव्यापी अनन्तस्वरूप भगवान्

१. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धस्य विषयासङ्गि मुक्तेर्निर्विषयं तथा ।

(ना० पूर्व० ४७ । ४)

२. प्राणायामके तीन अङ्ग हैं—पूरक, रेचक और कुम्भक। नासिकाके एक छिद्रको बंद करके दूसरेसे जो वायुको भीतर भग जाता है, इस क्रियाको पूरक कहते हैं, इससे प्राणवायुका दबाव पड़नेसे अपानवायु नीचेकी ओर दबती है; यही प्राणके द्वारा अपानका पराभव है। जब नासिकाके दूसरे छिद्रको बंद करके पहलेसे वायुको बाहर निकाला जाता है, उसे रेचक कहते हैं। इसमें प्राणवायुके बाहर निकलनेसे अपानवायु ऊपरको उठती है, यही अपानद्वारा प्राणका पराभव है। भीतर भरी हुई वायुको जब नासिकाके दोनों छिद्र बंद करके कुछ कालतक रोका जाता है, उस समय प्राण और अपान दोनों नियत स्थान और सीमामें अवरुद्ध रहते हैं। यही इन दोनोंका संयम या निरोध है। इसीका नाम कुम्भक है।

विष्णुका साकाररूप होता है। योगवेत्ता पुरुष प्रत्याहारका अभ्यास (इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे समेटकर अपने भीतर लानेका प्रयत्न) करते हुए शब्दादि विषयोंमें अनुरक्त हुई इन्द्रियोंको रोककर उन्हें अपने चित्तकी अनुगामिनी बनावे। ऐसा करनेसे अत्यन्त चञ्चल इन्द्रियाँ भलीभाँति वशमें हो जाती हैं। यदि इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं तो कोई योगी उसके द्वारा योगका साधन नहीं कर सकता। प्राणायामसे प्राण-अपानरूप वायु और प्रत्याहारसे इन्द्रियोंको अपने वशमें करके चित्तको उसके शुभ आश्रयमें स्थिर करे।

खण्डक्यने पूछा—महाभाग! बताइये, चित्तका वह शुभ आश्रय क्या है, जिसका अवलम्बन करके वह सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्तिको नष्ट कर देता है।

केशिध्वजने कहा—राजन्! चित्तका आश्रय ब्रह्म है। उसके दो स्वरूप हैं—मूर्त और अमूर्त अथवा अपर और पर। भूपाल! संसारमें तीन प्रकारकी भावनाएँ हैं और उन भावनाओंके कारण यह जगत् तीन प्रकारका कहा जाता है। पहली भावनाका नाम ‘कर्मभावना’ है, दूसरीका ‘ब्रह्मभावना’ है और तीसरीका ‘उभयात्मिका भावना’ है। इनमेंसे पहलीमें कर्मकी भावना होनेके कारण वह ‘ब्रह्मभावात्मिका’ है, दूसरीमें ब्रह्मकी भावना होनेसे वह ‘ब्रह्मभावात्मिका’ कहलाती है और तीसरीमें दोनों प्रकारकी भावना होनेसे उसको ‘उभयात्मिका’ कहते हैं। इस तरह तीन प्रकारकी भावात्मक भावनाएँ हैं। ज्ञानी नरेश! सनक आदि सिद्ध पुरुष सदा ब्रह्मभावनासे युक्त होते हैं। उनसे भिन्न जो देवताओंसे लेकर

स्थावर-जड़मपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणी हैं, वे कर्मभावनासे युक्त होते हैं। हिरण्यगर्भ, प्रजापति आदि सच्चिदानन्द ब्रह्मका बोध और सृष्टिरचनादि कर्मोंका अधिकार—दोनोंसे युक्त हैं; अतः उनमें ब्रह्मभावना एवं कर्मभावना दोनोंकी ही उपलब्धि होती है।

राजन्! जबतक विशेष भेदज्ञानके हेतुभूत सम्पूर्ण कर्म क्षीण नहीं हो जाते, तभीतक भेददर्शी मनुष्योंकी दृष्टिमें यह विश्व तथा परब्रह्म भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। जहाँ सम्पूर्ण भेदोंका अभाव हो जाता है, जो केवल सत् है और वाणीका अविषय है तथा जो स्वयं ही अनुभवस्वरूप है, वही ब्रह्मज्ञान कहा गया है*। वही अजन्मा एवं निराकार विष्णुका परम स्वरूप है, जो उनके विश्वरूपसे सर्वथा विलक्षण है। राजन्! योगका साधक पहले उस निर्विशेष स्वरूपका चिन्तन नहीं कर सकता, इसलिये उसे श्रीहरिके विश्वमय स्थूलरूपका ही चिन्तन करना चाहिये। भगवान् हिरण्यगर्भ, इन्द्र, प्रजापति, मरुदण, वसु, रुद्र, सूर्य, तारे, ग्रह, गन्धर्व, यक्ष और दैत्य आदि समस्त देव-योनियाँ; मनुष्य, पशु, पर्वत, समुद्र, नदी, वृक्ष, सम्पूर्ण भूत तथा प्रधानसे लेकर विशेषपर्यन्त उन भूतोंके कारण तथा चेतन-अचेतन, एक पैर, दो पैर और अनेक पैरवाले जीव तथा बिना पैरवाले प्राणी—ये सब भगवान् विष्णुके त्रिविध भावनात्मक मूर्तरूप हैं। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् परब्रह्मस्वरूप भगवान् विष्णुका उनकी शक्तिसे सम्पन्न ‘विश्व’ नामक रूप है।

शक्ति तीन प्रकारकी बतलायी गयी है—परा, अपरा और कर्मशक्ति। भगवान् विष्णुको ‘पराशक्ति’

* अक्षीणेषु समस्तेषु विशेषज्ञानकर्मसु। विश्वमेतत्परं चान्यद् भेदभिन्नदृशां नृप॥
प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्। वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्॥

(ना० पूर्व० ४७। २७-२८)

कहा गया है। 'क्षेत्रज्ञ' अपराशक्ति है तथा अविद्याको कर्मनामक तीसरी शक्ति माना गया है। राजन्! क्षेत्रज्ञ शक्ति सब शरीरोंमें व्याप्त है; परंतु वह इस असार संसारमें अविद्या नामक शक्तिसे आवृत हो अत्यन्त विस्तारसे प्राप्त होनेवाले सम्पूर्ण सांसारिक क्लेश भोगा करती है। परम बुद्धिमान् नरेश! उस अविद्या-शक्तिसे तिरोहित होनेके कारण वह श्रेत्रज्ञ-शक्ति सम्पूर्ण प्राणियोंमें तारतम्यसे दिखायी देती है। वह प्राणहीन जड़ पदार्थोंमें बहुत कम है। उनसे अधिक वृक्ष-पर्वत आदि स्थावरोंमें स्थित है। स्थावरोंसे अधिक सर्प आदि जीवोंमें और उनसे भी अधिक पक्षियोंमें अभिव्यक्त हुई है। पक्षियोंकी अपेक्षा उस शक्तिमें मृग बढ़े-चढ़े हैं और मृगोंसे अधिक पशु हैं। पशुओंकी अपेक्षा मनुष्य परम पुरुष भगवान्‌की उस क्षेत्रज्ञ-शक्तिसे अधिक प्रभावित हैं। मनुष्योंसे भी बढ़े हुए नाग, गन्धर्व, यक्ष आदि देवता हैं। देवताओंसे भी इन्द्र और इन्द्रसे भी प्रजापति उस शक्तिमें बढ़े हैं। प्रजापतिकी अपेक्षा भी हिरण्यगर्भ ब्रह्माजीमें भगवान्‌की उस शक्तिका विशेष प्रकाश हुआ है। राजन्! ये सम्पूर्ण रूप उस परमेश्वरके ही शरीर हैं। क्योंकि ये सब आकाशकी भाँति उनकी शक्तिसे व्याप्त हैं। महामते! विष्णु नामक ब्रह्मका दूसरा अमूर्त (निराकार) रूप है, जिसका योगीलोग ध्यान करते हैं और विद्वान् पुरुष जिसे 'सत्' कहते हैं। जनेश्वर! भगवान्‌का वही रूप अपनी लीलासे देव, तिर्यक् और मनुष्य आदि चेष्टाओंसे युक्त सर्वशक्तिमय रूप धारण करता है। इन रूपोंमें अप्रमेय भगवान्‌की जो व्यापक एवं अव्याहत चेष्टा होती है, वह सम्पूर्ण जगत्के उपकारके लिये ही होती है, कर्मजन्य नहीं होती। राजन्! योगके साधकको आत्मशुद्धिके लिये विश्वरूपभगवान्‌के उस सर्वपापनाशक स्वरूपका

ही चिन्तन करना चाहिये। जैसे वायुका सहयोग पाकर प्रज्वलित हुई अग्नि ऊँची लपटें उठाकर तृणसमूहको भस्म कर डालती है, उसी प्रकार योगियोंके चित्तमें विराजमान भगवान् विष्णु उनके समस्त पापोंको जला डालते हैं। इसलिये सम्पूर्ण शक्तियोंके आधारभूत भगवान् विष्णुमें चित्तको स्थिर करे—यही शुद्ध धारणा है।

राजन्! तीनों भावनाओंसे अतीत भगवान् विष्णु ही योगियोंकी मुक्तिके लिये इनके सब ओर जानेवाले चञ्चल चित्तके शुभ आश्रय हैं। पुरुषसिंह! भगवान्‌के अतिरिक्त जो मनके दूसरे आश्रय सम्पूर्ण देवता आदि हैं, वे सब अशुद्ध हैं। भगवान्‌का मूर्तरूप चित्तको दूसरे सम्पूर्ण आश्रयोंसे निःस्पृह कर देता है—चित्तको जो भगवान्‌में धारण करना—स्थिरतापूर्वक लगाना है, इसे ही 'धारणा' समझना चाहिये। नरेश! बिना किसी आधारके धारणा नहीं हो सकती; अतः भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपका जिस प्रकार चिन्तन करना चाहिये, वह बतलाता हूँ, सुनो। भगवान्‌का मुख प्रसन्न एवं मनोहर है। उनके नेत्र विकसित कमलदलके समान विशाल एवं सुन्दर हैं। दोनों कपोल बड़े ही सुहावने और चिकने हैं। ललाट चौड़ा और प्रकाशसे उद्घासित है। उनके दोनों कान बराबर हैं और उनमें धारण किये हुए मनोहर कुण्डल कंधेके समीपतक लटक रहे हैं। ग्रीवा शङ्खकी-सी शोभा धारण करती है। विशाल वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न सुशोभित है। उनके उदरमें तिरङ्गाकार त्रिवली तथा गहरी नाभि है। भगवान् विष्णु बड़ी-बड़ी चार अथवा आठ भुजाएँ धारण करते हैं। उनके दोनों ऊरु तथा जंघे समानभावसे स्थित हैं और मनोहर चरणारविन्द हमारे समुख स्थिरभावसे खड़े हैं। उन्होंने स्वच्छ पीताम्बर धारण कर रखा है। इस

प्रकार उन ब्रह्मस्वरूप भगवान् विष्णुका चिन्तन करना चाहिये। उनके मस्तकपर किरीट, गलेमें हार, भुजाओंमें केयूर और हाथोंमें कड़े आदि आभूषण उनकी शोभा बढ़ा रहे हैं। शार्ङ्गधनुष, पाञ्चजन्य शङ्ख, कौमोदकी गदा, नन्दक खड्ग, सुदर्शन चक्र, अक्षमाला तथा वरद और



अभयकी मुद्रा—ये सब भगवान्‌के करकमलोंकी शोभा बढ़ाते हैं। उनकी अंगुलियोंमें रत्नमयी मुद्रिकाएँ शोभा दे रही हैं। राजन्! इस प्रकार योगी भगवान्‌के मनोहर स्वरूपमें अपना चित्त लगाकर तबतक उसका चिन्तन करता रहे, जबतक उसी स्वरूपमें उसकी धारणा दृढ़ न हो जाय। चलते-फिरते, उठते-बैठते अथवा अपनी इच्छाके अनुसार दूसरा कोई कार्य करते समय भी जब वह धारणा चित्तसे अलग न हो, तब उसे सिद्ध हुई मानना चाहिये।

इसके दृढ़ होनेपर बुद्धिमान् पुरुष भगवान्‌के

ऐसे स्वरूपका चिन्तन करे, जिसमें शङ्ख, चक्र, गदा तथा शार्ङ्गधनुष आदि आयुध न हों। वह स्वरूप परम शान्त तथा अक्षमाला एवं यज्ञोपवीतसे विभूषित हो। जब यह धारणा भी पूर्ववत् स्थिर हो जाय तो भगवान्‌के किरीट, केयूर आदि आभूषणोंसे रहित स्वरूपका चिन्तन करे। तत्पश्चात् विद्वान् साधक अपने चित्तसे भगवान्‌के किसी एक अवयव (चरण या मुखारविन्द)-का ध्यान करे। तदनन्तर अवयवोंका चिन्तन छोड़कर केवल अवयवी भगवान्‌के ध्यानमें तत्पर हो जाय। राजन्! जिसमें भगवान्‌के स्वरूपकी ही प्रतीति होती है, ऐसी जो अन्य वस्तुओंकी इच्छासे रहित ध्येयाकार चित्तकी एक अनवरत धारा है, उसीको 'ध्यान' कहते हैं। वह अपने पूर्व यमनियम आदि छः अङ्गोंसे निष्पत्र होता है। उस ध्येय पदार्थका ही जो मनके द्वारा सिद्ध होनेयोग्य कल्पनाहीन (ध्याता, ध्येय और ध्यानकी विपुटीसे रहित) स्वरूप ग्रहण किया जाता है, उसे ही 'समाधि' कहते हैं^१। राजन्! प्राप्त करनेयोग्य वस्तु है परब्रह्म परमात्मा और उसके समीप पहुँचानेवाला सहायक है पूर्वोक्त समाधिजनित विज्ञान तथा उस परमात्मातक पहुँचनेका पात्र है सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित आत्मा। क्षेत्रज्ञ कर्ता है और ज्ञान करण है; अतः उस ज्ञानरूपी करणके द्वारा वह प्रापक विज्ञान उस क्षेत्रज्ञका मुक्तिरूप कार्य सिद्ध करके कृतकृत्य होकर निवृत्त हो जाता है। उस समय वह भगवद्वावमयी भावनासे पूर्ण हो परमात्मासे अभिन्न हो जाता है। वास्तवमें क्षेत्रज्ञ और परमात्माका भेद तो अज्ञानजनित ही है। भेद उत्पन्न करनेवाले अज्ञानके

१. तद्रूपप्रत्यया

चैकसंततिश्चान्यनिःस्पृहा। तदध्यानं प्रथमैरङ्गः चहर्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥

तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्। मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते ॥

(ना० पूर्व० ४७। ६६-६७)

सर्वथा नष्ट हो जानेपर आत्मा और ब्रह्ममें भेद नहीं रह जाता। उस दशामें भेदबुद्धि कौन करेगा। खाण्डिक्यजी! इस प्रकार आपके प्रश्नके अनुसार मैंने संक्षेप और विस्तारसे योगका वर्णन किया। अब मैं आपका दूसरा कौन कार्य करूँ?

खाण्डिक्य बोले—राजन्! आपने योगद्वारा परमात्मभावको प्राप्त करनेके उपायका वर्णन किया। इससे मेरा सभी कार्य सम्पन्न हो गया। आज आपके उपदेशसे मेरे मनकी सारी मलिनता नष्ट हो गयी। मैंने जो 'मेरे' शब्दका प्रयोग किया, यह भी असत्य ही है, अन्यथा ज्ञेय तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुष तो यह भी नहीं कह सकते। 'मैं' और 'मेरा' यह बुद्धि तथा अहंता-ममताका व्यवहार भी अविद्या ही है। परमार्थ वस्तु तो अनिर्वचनीय है, क्योंकि वह वाणीका विषय नहीं है*। केशिध्वजजी! आपने

जो इस अविनाशी मोक्षदायक योगका वर्णन किया है, इसके द्वारा मेरे कल्याणके लिये आपने सब कुछ कर दिया।

सनन्दनजी कहते हैं—**ब्रह्मन्!** तदनन्तर राजा खाण्डिक्यने यथोचितरूपसे महाराज केशिध्वजका पूजन किया और वे उनसे सम्मानित होकर पुनः अपनी राजधानीमें लौट आये। खाण्डिक्य भगवान् विष्णुमें चित्त लगाये हुए योगसिद्धिके लिये विशालापुरी (बदरिकाश्रम)-को चले गये। वहाँ यम-नियम आदि गुणोंसे युक्त हो उन्होंने भगवान्की अनन्यभावसे उपासना की और अन्तमें वे अत्यन्त निर्मल परब्रह्म परमात्मा भगवान् विष्णुमें लीन हो गये। नारदजी! तुमने आध्यात्मिक आदि तीनों तापोंकी चिकित्साके लिये जो उपाय पूछा था, वह सब मैंने बताया।

राजा भरतका मृगशरीरमें आसक्तिके कारण मृग होना, फिर ज्ञानसम्पन्न ब्रह्मण होकर जडवृत्तिसे रहना, जडभरत और सौवीरनरेशका संवाद

नारदजी बोले—महाभाग! मैंने आध्यात्मिक आदि तीनों तापोंकी चिकित्साका उपाय सुन लिया तथापि मेरा मन अभी भ्रममें भटक रहा है। वह शीघ्रतापूर्वक स्थिर नहीं हो पाता। ब्रह्मन्! आप दूसरोंको मान देनेवाले हैं। बताइये, यदि दुष्टलोग किसीके मनके विपरीत बर्ताव करें तो मनुष्य उसे कैसे सह सकता है?

सूतजी कहते हैं—नारदजीका यह कथन सुनकर ब्रह्मपुत्र सनन्दनजीको बड़ा हर्ष हुआ। उन्हें राजा भरतके चरित्रका स्मरण हो आया और वे इस प्रकार बोले।

सनन्दनजीने कहा—**नारदजी!** मैं इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास कहूँगा, जिसे सुनकर तुम्हरे भ्रान्त मनको बड़ी स्थिरता प्राप्त होगी। मुनिश्रेष्ठ! प्राचीन कालमें भरतनामसे प्रसिद्ध एक राजा हुए थे, जो ऋषभदेवजीके पुत्र थे और जिनके नामपर इस देशको 'भारतवर्ष' कहते हैं। राजा भरतने बाप-दादोंके क्रमसे चले आते हुए राज्यको पाकर उसका धर्मपूर्वक पालन किया। जैसे पिता अपने पुत्रको संतुष्ट करता है, उसी प्रकार वे प्रजाको प्रसन्न रखते थे। उन्होंने नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करके सर्वदेवस्वरूप भगवान्

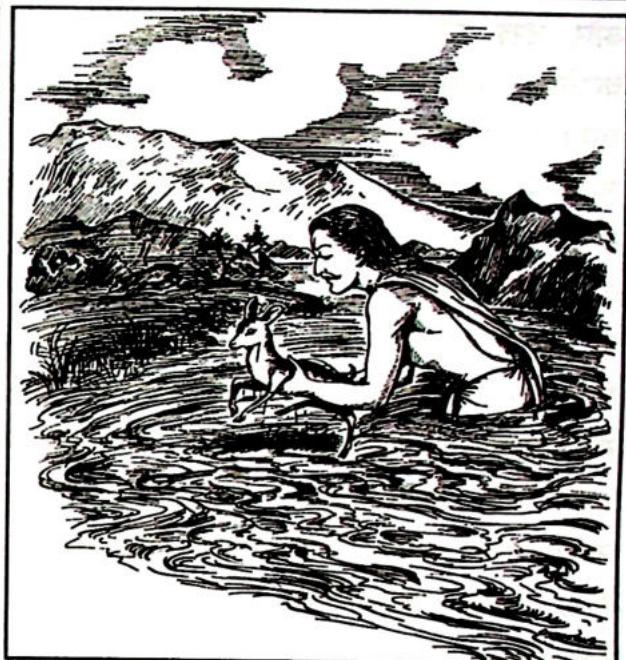
* अहं ममेत्यविद्येयं

व्यवहारस्तथानयोः। परमार्थस्त्वसंलाप्यो वचसां गोचरो न यः॥

(ना० पूर्व० ४७। ४५)

विष्णुका यजन किया। वे सदा भगवान्‌का ही चिन्तन करते और उन्हींमें मन लगाकर नाना सत्कर्मोंमें लगे रहते थे। तदनन्तर पुत्रोंको जन्म देकर विद्वान् राजा भरत विषयोंसे विरक्त हो गये और राज्य त्यागकर पुलस्त्य एवं पुलह मुनिके आश्रमको चले गये। उन महर्षियोंका आश्रम शालग्राम नामक महाक्षेत्रमें था। मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले बहुत-से साधक उस तीर्थका सेवन करते थे। मुने! वहीं राजा भरत तपस्यामें संलग्न हो यथाशक्ति पूजनसामग्री जुटाकर उसके द्वारा भक्तिभावसे भगवान् महाविष्णुकी आराधना करने लगे। नारदजी! वे प्रतिदिन प्रातःकाल निर्मल जलमें स्नान करते तथा अविनाशी परब्रह्मकी स्तुति एवं प्रणवसहित वेद-मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए भक्तिपूर्वक सूर्यदेवका उपस्थान करते थे। तदनन्तर आश्रमपर लौटते और अपने ही लाये हुए समिधा, कुशा तथा मिट्टी आदि द्रव्योंसे और फल, फूल, तुलसीदल एवं स्वच्छ जलसे एकाग्रतापूर्वक जगदीश्वर भगवान् वासुदेवकी पूजा करते थे। भगवान्‌की पूजाके समय वे भक्तिके प्रवाहमें डूब जाते थे।

एक दिनकी बात है, महाभाग राजा भरत प्रातःकाल स्नान करके एकाग्रचित्त हो जप करते हुए तीन मुहूर्त (छः घड़ी)-तक शालग्रामीके जलमें खड़े रहे। ब्रह्मन्! इसी समय एक प्यासी हरिणी जल पीनेके लिये अकेली ही वनसे नदीके तटपर आयी। उसका प्रसवकाल निकट था। वह प्रायः जल पी चुकी थी, इतनेमें ही सब प्राणियोंको भय देनेवाली सिंहकी गर्जना उच्चस्वरसे सुनायी पड़ी। फिर तो वह उस सिंहनादसे भयभीत हो नदीके तटकी ओर उछल पड़ी। बहुत ऊँचाईकी ओर उछलनेसे उसका गर्भ नदीमें ही गिर पड़ा और तरङ्गमालाओंमें डूबता-उतराता



हुआ वेगसे बहने लगा। राजा भरतने गर्भसे गिरे हुए उस मृगके बच्चेको दयावश उठा लिया। मुनीश्वर! उधर वह हरिणी गर्भ गिरनेके अत्यन्त दुःखसे और बहुत ऊँचे चढ़नेके परिश्रमसे थककर एक स्थानपर गिर पड़ी और वहीं मर गयी। उस हरिणीको मरी हुई देख तपस्वी राजा भरत मृगके बच्चेको लिये हुए अपने आश्रमपर आये और प्रतिदिन उसका पालन-पोषण करने लगे। मुने! उनसे पोषित होकर वह मृगका बच्चा बढ़ने लगा। उस मृगमें राजाका चित्त जैसा आसक्त हो गया था, वैसा भगवान्‌में भी नहीं हुआ। उन्होंने अपने राज्य और पुत्रोंको छोड़ा, समस्त भाई-बन्धुओंको भी त्याग दिया, परंतु इस हरिनके बच्चेमें ममता पैदा कर ली। उनका चित्त मृगकी ममताके वशीभूत हो गया था; इसलिये उनकी समाधि भङ्ग हो गयी। तदनन्तर कुछ समय बीतनेपर राजा भरत मृत्युको प्राप्त हुए। उस समय जैसे पुत्र पिताको देखता है, उसी प्रकार वह मृगका बच्चा आँसू बहाते हुए उनकी ओर देख रहा था। राजा भी प्राणोंका त्याग करते समय उस मृगकी ही

ओर देख रहे थे। द्विजश्रेष्ठ! मृगकी भावना करनेके कारण राजा भरत दूसरे जन्ममें मृग हो गये। किंतु पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण होनेसे उनके मनमें संसारकी ओरसे वैराग्य हो गया। वे अपनी माँको त्यागकर पुनः शालग्राम-तीर्थमें आये और सूखे घास तथा सूखे पत्ते खाकर शरीरका पोषण करने लगे। ऐसा करनेसे मृगशरीरकी प्राप्ति करनेवाले कर्मका प्रायश्चित्त हो गया; अतः वहीं अपने शरीरका त्याग करके वे जातिस्मर (पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण करनेवाले) ब्राह्मणके रूपमें उत्पन्न हुए। सदाचारी योगियोंके श्रेष्ठ एवं शुद्ध कुलमें उनका जन्म हुआ। वे सम्पूर्ण विज्ञानसे सम्पन्न तथा समस्त शास्त्रोंके तत्त्वज्ञ हुए।

मुनिश्रेष्ठ! उन्होंने आत्माको प्रकृतिसे परे देखा। महामुने! वे आत्मज्ञानसम्पन्न होनेके कारण देवता आदि सम्पूर्ण भूतोंको अपनेसे अभिन्न देखते थे। उपनयनसंस्कार हो जानेपर वे गुरुके पढ़ाये हुए वेद-शास्त्रका अध्ययन नहीं करते थे। किन्हीं वैदिक कर्मोंकी ओर ध्यान नहीं देते और न शास्त्रोंका उपदेश ही ग्रहण करते थे। जब कोई उनसे बहुत पूछ-ताछ करता तो वे जड़के समान गँवारोंकी-सी बोलीमें कोई बात कह देते थे। उनका शरीर मैला-कुचैला होनेसे निन्दित प्रतीत होता था। मुने! वे सदा मलिन वस्त्र पहना करते थे। इन सब कारणोंसे वहाँके समस्त नागरिक उनका अपमान किया करते थे। सम्मान योगसम्पत्तिकी अधिक हानि करता है और दूसरे लोगोंसे अपमानित होनेवाला योगी योगमार्गमें शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है—ऐसा विचार करके वे परम बुद्धिमान् ब्राह्मण जन-साधारणमें अपने-आपको जड और उन्मत्त-सा ही प्रकट करते थे, भीगे हुए चने और उड़द, बड़े, साग,

जंगली फल और अन्नके दाने आदि जो-जो सामयिक खाद्य वस्तु मिल जाती, उसीको बहुत मानकर खा लेते थे। पिताकी मृत्यु होनेपर भाई-भतीजे और बन्धु-बान्धवोंने उनसे खेतीबारीका काम कराना आरम्भ किया। उन्होंके दिये हुए सड़े-गले अन्नसे उनके शरीरका पोषण होने लगा। उनका एक-एक अङ्ग बैलके समान मोटा था और काम-काजमें वे जड़की भाँति जुते रहते थे। भोजनमात्र ही उनका वेतन था; इसलिये सब लोग उनसे अपना काम निकाल लिया करते थे।

ब्रह्मन्! एक समय सौवीर-राजने शिविकापर आरूढ हो इक्षुमती नदीके किनारे महर्षि कपिलके श्रेष्ठ आश्रमपर जानेका निश्चय किया था। वे मोक्षधर्मके ज्ञाता महामुनि कपिलसे यह पूछना चाहते थे कि इस दुःखमय संसारमें मनुष्योंके लिये कल्याणकारी साधन क्या है? उस दिन राजाकी बेगारमें बहुत-से दूसरे मनुष्य भी पकड़े गये थे। उन्होंके बीच भरतमुनि भी बेगारमें पकड़कर लाये गये। नारदजी! वे सम्पूर्ण ज्ञानके एकमात्र भाजन थे। उन्हें पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण था; अतः वे अपने पापमय प्रारब्धका क्षय करनेके लिये उस शिविकाको कंधेपर उठाकर ढोने लगे। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ जडभरतजी (क्षुद्र जीवोंको बचानेके लिये) चार हाथ आगेकी भूमि देखते हुए मन्दगतिसे चलने लगे; किंतु उनके सिवा दूसरे कहार जल्दी-जल्दी चल रहे थे। राजाने देखा कि पालकी समान गतिसे नहीं चल रही है, तो उन्होंने कहा—‘अरे पालकी ढोनेवाले कहारो! यह क्या करते हो? सब लोग एक साथ समान गतिसे चलो।’ किंतु इतना कहनेपर भी जब शिविकाकी गति पुनः वैसी ही विषम दिखायी दी, तब राजाने डाँटकर पूछा—‘अरे! यह क्या है? तुमलोग मेरी आज्ञाके विपरीत

चलते हो ?' राजा के बार-बार ऐसे वचन सुनकर पालकी ढोनेवाले कहारोंने जडभरतकी ओर संकेत करके कहा—'यही धीरे-धीरे चलता है।'

राजाने पूछा—अरे ! क्या तू थक गया ? अभी तो थोड़ी ही दूरतक तूने मेरी पालकी ढोयी है। क्या तुझसे यह परिश्रम सहन नहीं होता ? वैसे तो तू बड़ा मोटा-ताजा दिखायी देता है।

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! न मैं मोटा हूँ और न मैंने आपकी पालकी ही ढोयी है। न तो मैं थका हूँ और न मुझे कोई परिश्रम ही होता है। इस पालकीको ढोनेवाला कोई दूसरा ही है।

राजा बोले—मोटा तो तू प्रत्यक्ष दिखायी देता है और पालकी तेरे ऊपर अब भी मौजूद है और बोझ ढोनेमें देहधारियोंको परिश्रम तो होता ही है।

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! इस विषयमें मेरी बात सुनो। 'सबसे नीचे पृथ्वी है, पृथ्वीपर दो पैर हैं, दोनों पैरोंपर दो जड़े हैं, उन जड़ोंपर दो ऊरु हैं तथा उनके ऊपर उदर है। फिर उदरके ऊपर छाती, भुजाएँ और कंधे हैं और कंधोंपर यह पालकी रखी गयी है। ऐसी दशामें मेरे ऊपर भार कैसे रहा ? पालकीमें भी जिसे तुम्हारा कहा जाता है, वह शरीर रखा हुआ है। राजन् ! मैं तुम और अन्य सब जीव पञ्चभूतोंद्वारा ही ढोये जाते हैं तथा यह भूतवर्ग भी गुणोंके प्रवाहमें पड़कर ही बहा जा रहा है। पृथ्वीपते ! ये सत्त्व आदि गुण भी कर्मोंके वशीभूत हैं और वह कर्म समस्त जीवोंमें अविद्याद्वारा ही संचित है। आत्मा तो शुद्ध, अक्षर, शान्त, निर्गुण और प्रकृतिसे परे है। वह एक ही सम्पूर्ण जीवोंमें व्याप्त है। उसकी वृद्धि अथवा हास कभी नहीं होता। जब आत्मामें न तो वृद्धि होती है और न हास ही, तब तुमने किस युक्तिसे यह बात कही है कि तू मोटा है।

यदि क्रमशः पृथ्वी, पैर, जड़ा, ऊरु, कटि तथा उदर आदि अङ्गोंपर स्थित हुए कंधेके ऊपर रखी हुई यह शिविका मेरे लिये भाररूप हो सकती है तो उसी प्रकार तुम्हारे लिये भी तो हो सकती है। राजन् ! इस युक्तिसे तो अन्य समस्त जीवोंने भी न केवल पालकी उठा रखी है, बल्कि सम्पूर्ण पर्वत, वृक्ष, गृह और पृथ्वी आदिका भार भी अपने ऊपर ले रखा है। राजन् ! जिस द्रव्यसे यह पालकी बनी हुई है, उसीसे यह तुम्हारा, मेरा अथवा अन्य सबका शरीर भी बना है, जिसमें सबने ममता बढ़ा रखी है।

सनन्दनजी कहते हैं—ऐसा कहकर वे ब्राह्मणदेवता कंधेपर पालकी लिये मौन हो गये। तब राजाने भी तुरंत पृथ्वीपर उत्तरकर उनके दोनों चरण पकड़ लिये।

राजाने कहा—हे विप्रवर ! यह पालकी छोड़कर आप मेरे ऊपर कृपा कीजिये और बताइये, यह छद्मवेश धारण किये हुए आप कौन हैं ? किसके पुत्र हैं ? अथवा आपके यहाँ आगमनका क्या कारण है ? यह सब आप मुझसे कहिये।

ब्राह्मण बोले—भूपाल ! सुनो—मैं कौन हूँ, यह बात बतायी नहीं जा सकती और तुमने जो यहाँ आनेका कारण पूछा, उसके उत्तरमें यह निवेदन है कि कहीं भी आने-जानेका कर्म कर्मफलके उपभोगके लिये ही हुआ करता है। धर्माधर्मजनित सुख-दुःखोंका उपभोग करनेके लिये ही जीव देह आदि धारण करता है। भूपाल ! सब जीवोंकी सम्पूर्ण अवस्थाओंके कारण केवल उनके धर्म और अधर्म ही हैं।

राजाने कहा—इसमें संदेह नहीं कि सब कर्मोंके धर्म और अधर्म ही कारण हैं और कर्मफलके उपभोगके लिये एक देहसे दूसरी

देहमें जाना होता है, किंतु आपने जो यह कहा कि 'मैं कौन हूँ' यह बात बतायी नहीं जा सकती, इसी बातको सुननेकी मुझे इच्छा हो रही है।

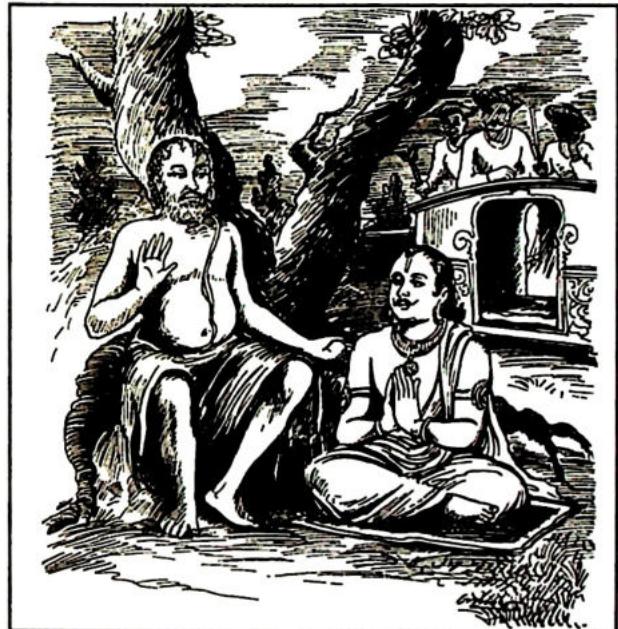
ब्राह्मण बोले—राजन्! 'अहं' शब्दका उच्चारण जिह्वा, दन्त, ओठ और तालु ही करते हैं, किंतु ये सब 'अहं' नहीं हैं; क्योंकि ये सब उस शब्दके उच्चारणमात्रमें हेतु हैं। तो क्या इन जिह्वा आदि कारणोंके द्वारा यह वाणी ही स्वयं अपनेको 'अहं' कहती है? नहीं; अतः ऐसी स्थितिमें 'तू मोटा है' ऐसा कहना कदापि उचित नहीं। राजन्! सिर और हाथ—पैर आदि लक्षणोंवाला यह शरीर आत्मासे पृथक् ही है; अतः इस 'अहं' शब्दका प्रयोग मैं कहाँ और किसके लिये करूँ? नृपश्रेष्ठ! यदि मुझसे भिन्न कोई और भी सजातीय आत्मा हो तो भी 'यह मैं हूँ और यह अन्य है'—ऐसा कहना उचित हो सकता था। जब सम्पूर्ण शरीरोंमें एक ही आत्मा विराजमान है, तब 'आप कौन हैं और मैं कौन हूँ' इत्यादि प्रश्नवाक्य व्यर्थ ही हैं। नरेश! 'तुम राजा हो, यह पालकी है और ये सामने पालकी ढोनेवाले खड़े हैं तथा यह जगत् आपके अधिकारमें है'—ऐसा जो कहा जाता है, वह वास्तवमें सत्य नहीं है। वृक्षसे लकड़ी पैदा हुई और उससे यह पालकी बनी, जिसपर तुम बैठते हो। यदि इसे पालकी ही कहा जाय तो इसका 'वृक्ष' नाम अथवा 'लकड़ी' नाम कहाँ चला गया? यह तुम्हारे सेवकगण ऐसा नहीं कहते कि महाराज ऐड़पर चढ़े हुए हैं और न कोई तुम्हें लकड़ीपर ही चढ़ा हुआ बतलाता है। सब लोग पालकीमें ही बैठा हुआ बतलाते हैं; किंतु पालकी क्या है—लकड़ियोंका समुदाय। वही अपने लिये एक

विशेष नामका आश्रय लेकर स्थित है। नृपश्रेष्ठ! इसमेंसे लकड़ियोंके समूहको अलग कर दो और फिर खोजो—तुम्हारी पालकी कहाँ है? इसी प्रकार छातेकी शलाकाओं-(तिलियों-) को पृथक् करके विचार करो, छाता नामकी वस्तु कहाँ चली गयी? यही न्याय तुम्हारे और मेरे ऊपर लागू होता है (अर्थात् मेरे और तुम्हारे शरीर भी पञ्चभूतसे अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं हैं)। पुरुष, स्त्री, गाय, बकरी, घोड़ा, हाथी, पक्षी और वृक्ष आदि लौकिक नाम कर्मजनित विभिन्न शरीरोंके लिये ही रखे गये हैं—ऐसा जानना चाहिये। भूपाल! आत्मा न देवता है, न मनुष्य है, न पशु है और न वृक्ष ही है। ये सब तो शरीरोंकी आकृतियोंके भेद हैं, जो भिन्न-भिन्न कर्मोंके अनुसार उत्पन्न हुए हैं। राजन्! लोकमें जो राजा, राजाके सिपाही तथा और भी जो-जो ऐसी वस्तुएँ हैं, वे सब काल्पनिक हैं, सत्य नहीं हैं। नरेश! जो वस्तु परिणाम आदिके कारण होनेवाली किसी नयी संज्ञाको कालान्तरमें भी नहीं प्राप्त होती, वही पारमार्थिक वस्तु है। विचार करो, वह क्या है? तुम समस्त प्रजाके लिये राजा हो, अपने पिताके पुत्र हो, शत्रुके लिये शत्रु हो, पत्नीके लिये पति और पुत्रके लिये पिता हो। भूपाल! बताओ, मैं तुम्हें क्या कहूँ? महीपते! तुम क्या हो? यह सिर हो या ग्रीवा अथवा पेट या पैर आदिमेंसे कोई हो तथा ये सिर आदि भी तुम्हारे क्या हैं? पृथ्वीपते! तुम सम्पूर्ण अवयवोंसे पृथक् स्थित होकर भलीभाँति विचार करो कि मैं कौन हूँ। नरेश! आत्म-तत्त्व जब इस प्रकार स्थित है, जब सबसे पृथक् करके ही उसका प्रतिपादन किया जा सकता है, तो मैं उसे 'अहं' इस नामसे कैसे बता सकता हूँ?

जडभरत और सौवीरनरेशका संवाद—परमार्थका निरूपण तथा ऋभुका निदाघको अद्वैतज्ञानका उपदेश

सनन्दनजी कहते हैं—नारदजी! ब्राह्मणका परमार्थयुक्त वचन सुनकर सौवीर-नरेशने विनयसे नम्र होकर कहा।

राजा बोले—विप्रवर! आपने सम्पूर्ण जीवोंमें व्यास जिस विवेक-विज्ञानका दर्शन कराया है, वह प्रकृतिसे परे ब्रह्मका ही स्वरूप है। परंतु



आपने जो यह कहा कि मैं पालकी नहीं ढोता हूँ और न मुझपर पालकीका भार ही है। जिसने यह पालकी उठा रखी है, वह शरीर मुझसे भिन्न है। जीवोंकी प्रवृत्ति गुणोंकी प्रेरणासे होती है और ये गुण कर्मोंसे प्रेरित होकर प्रवृत्त होते हैं। इसमें मेरा कर्तृत्व क्या है? परमार्थके ज्ञाता द्विजश्रेष्ठ! आपकी वह बात कानमें पड़ते ही मेरा मन परमार्थका जिज्ञासु होकर उसे प्राप्त करनेके लिये विह्वल हो उठा है। महाभाग द्विज! मैं पहलेसे ही महर्षि कपिलके पास जाकर यह पूछनेके लिये उद्यत हुआ था कि इस जगत्में श्रेय क्या है, यह मुझे बताइये। किंतु इसके बीचमें ही आपने जो

ये बातें कही हैं, उन्हें सुनकर मेरा मन परमार्थत्रिवणके लिये आपकी ओर दौड़ रहा है। महर्षि कपिलजी सर्वभूतस्वरूप भगवान् विष्णुके अंश हैं और संसारके मोहका नाश करनेके लिये इस पृथ्वीपर उनका आगमन हुआ है—ऐसा मुझे जान पड़ता है। वे ही भगवान् कपिल मेरे हितकी कामनासे यहाँ आपके रूपमें प्रत्यक्ष प्रकट हुए हैं, तभी तो आप ऐसा भाषण कर रहे हैं। अतः ब्रह्मन्! मेरे मोहका नाश करनेके लिये जो परम श्रेय हो, वह मुझे बताइये; क्योंकि आप सम्पूर्ण विज्ञानमय जलकी तरंगोंके समुद्र जान पड़ते हैं।

ब्राह्मणने कहा—भूपाल! क्या तुम श्रेयकी ही बात पूछते हो? या परमार्थ जाननेके लिये प्रश्न करते हो? राजन्! जो मनुष्य देवताकी आराधना करके धन-सम्पत्ति चाहता है, पुत्र तथा राज्य (एवं स्वर्ग)-की अभिलाषा करता है, उसके लिये तो वे ही वस्तुएँ श्रेय हैं; परंतु विवेकी पुरुषके लिये परमात्माकी प्राप्ति ही श्रेय है। स्वर्गलोकरूप फल देनेवाला जो यज्ञ आदि कर्म है, वह भी श्रेय ही है; परंतु प्रधान श्रेय तो उसके फलकी इच्छा न करनेमें ही है। भूपाल! योगयुक्त तथा अन्य पुरुषोंको भी सदा परमात्माका चिन्तन करना चाहिये; क्योंकि परमात्माका संयोगरूप जो श्रेय है, वही वास्तविक श्रेय है। इस प्रकार श्रेय तो अनेक हैं, सैकड़ों और हजारों प्रकारके हैं; किंतु वे सब परमार्थ नहीं हैं। परमार्थ मैं बतलाता हूँ सुनो—यदि धन ही परमार्थ होता तो धर्मके लिये उसका त्याग क्यों किया जाता तथा भोगोंकी प्राप्तिके लिये उसका व्यय क्यों किया जाता? नरेश्वर! यदि इस संसारमें राज्य आदिकी प्राप्तिको परमार्थ कहा जाय तो वे कभी रहते हैं और कभी

नहीं रहते हैं; इसलिये परमार्थको भी आगमापायी मानना पड़ेगा। यदि ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्रोंसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञकर्मको तुम परमार्थ मानो तो उसके विषयमें मैं जो कहता हूँ उसे सुनो। राजन्! कारणभूत मृत्तिकासे जो कर्म उत्पन्न होता है, वह कारणका अनुगमन करनेसे मृत्तिकास्वरूप ही समझा जाता है। इस न्यायसे समिधा, घृत और कुशा आदि विनाशशील द्रव्योंद्वारा जो क्रिया सम्पादित होती है, वह भी अवश्य ही विनाशशील होगी; परंतु विद्वान् पुरुष परमार्थको अविनाशी मानते हैं। जो क्रिया नाशवान् पदार्थोंसे सम्पन्न होती है, वह और उसका फल दोनों निस्संदेह नाशवान् होते हैं। यदि निष्काम-भावसे किया जानेवाला कर्म स्वर्गादि फल न देनेके कारण परमार्थ माना जाय तो मेरे विचारसे वह परमार्थभूत मोक्षका साधनमात्र है और साधन कभी परमार्थ हो नहीं सकता (क्योंकि वह साध्य माना गया है)। राजन्! यदि आत्माके ध्यानको ही परमार्थ नाम दिया जाय तो वह दूसरोंसे आत्माका भेद करनेवाला है; किंतु परमार्थमें भेद नहीं होता। अतः राजन्! निस्संदेह ये सब श्रेय ही हैं, परमार्थ नहीं। भूपाल! अब मैं संक्षेपसे परमार्थका वर्णन करता हूँ सुनो—

नरेश्वर! आत्मा एक, व्यापक, सम, शुद्ध, निर्गुण और प्रकृतिसे परे है, उसमें जन्म और वृद्धि आदि विकार नहीं हैं। वह सर्वत्र व्यापक तथा परम ज्ञानमय है। असत् नाम और जाति आदिसे उस सर्वव्यापक परमात्माका न कभी संयोग हुआ, न है और न होगा ही। वह अपने और दूसरेके शरीरोंमें विद्यमान रहते हुए भी एक ही है। इस प्रकारका जो विशेष ज्ञान है, वही परमार्थ है। द्वैतभावना रखनेवाले पुरुष तो अपरमार्थदर्शी ही हैं। जैसे बाँसुरीमें एक ही वायु

अभेदभावसे व्याप्त है; किंतु उसके छिद्रोंके भेदसे उसमें षड्ज, ऋषभ आदि स्वरोंका भेद हो जाता है, उसी प्रकार उस एक ही परमात्माके देव, मनुष्य आदि अनेक भेद प्रतीत होते हैं। उस भेदकी स्थिति तो अविद्याके आवरणतक ही सीमित है। राजन्! इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास सुनो—

निदाघ नामक ब्राह्मणको उपदेश देते हुए महामुनि ऋभुने जो कुछ कहा था, उसीका इसमें वर्णन है। परमेष्ठी ब्रह्माजीके एक ऋभु नामक पुत्र हुए। भूपते! वे स्वभावसे ही परमार्थतत्त्वके ज्ञाता थे। पूर्वकालमें पुलस्त्यमुनिके पुत्र निदाघ उनके शिष्य हुए थे। ऋभुने बड़ी प्रसन्नताके साथ निदाघको सम्पूर्ण तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया था। समस्त ज्ञानप्रधान शास्त्रोंका उपदेश प्राप्त कर लेनेपर भी निदाघकी अद्वैतमें निष्ठा नहीं हुई। नरेश्वर! ऋभुने निदाघकी इस स्थितिको ताड़ लिया था। देविका नदीके तटपर वीरनागर नामक एक अत्यन्त समृद्धिशाली और परम रमणीय नगर था, उसे महर्षि पुलस्त्यने बसाया था। उसी नगरमें पहले महर्षि ऋभुके शिष्य योगवेत्ता निदाघ निवास करते थे। उनके वहाँ रहते हुए जब एक हजार दिव्य वर्ष व्यतीत हो गये, तब महर्षि ऋभु अपने शिष्य निदाघको देखनेके लिये उनके नगरमें गये। निदाघ बलिवैश्वदेवके अन्तमें द्वारपर बैठकर अतिथियोंकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे ऋभुको पाद्य और अर्घ्य देकर अपने घरमें ले गये और हाथ-पैर धुलाकर उन्हें आसनपर बिठाया। तत्पश्चात् द्विजश्रेष्ठ निदाघने आदरपूर्वक कहा—‘विप्रवर! अब भोजन कीजिये।’

ऋभु बोले—द्विजश्रेष्ठ! आपके घरमें भोजन करने योग्य जो-जो अन्न प्रस्तुत हो, उसका नाम बतलाइये।

निदाघने कहा—द्विजश्रेष्ठ! मेरे घरमें सत्तू जौकी लपसी और बाटी बनी हैं। आपको इनमेंसे जो कुछ रुचे, वही इच्छानुसार भोजन कीजिये।

ऋभु बोले—ब्रह्मन्! इन सबमें मेरी रुचि नहीं है। मुझे तो मीठा अन्न दो। हलुआ, खीर और खाँड़के बने हुए पदार्थ भोजन कराओ।

निदाघने अपनी स्त्रीसे कहा—शोभने! हमारे घरमें जो अच्छी-से-अच्छी भोजन-सामग्री उपलब्ध हो, उसके द्वारा इन अतिथि-देवताके लिये मिष्टान्न बनाओ।

पतिके ऐसा कहनेपर ब्राह्मणपत्नीने स्वामीकी आज्ञाका आदर करते हुए ब्राह्मण देवताके लिये मीठा भोजन तैयार किया। राजन्! महामुनि ऋभुके इच्छानुसार मिष्टान्न भोजन कर लेनेपर निदाघने विनीतभावसे खड़े होकर पूछा।

निदाघ बोले—ब्रह्मन्! कहिये, भोजनसे आपको भलीभाँति तृसि हुई? आप संतुष्ट हो गये न? अब आपका चित्त पूर्णतः स्वस्थ है न? विप्रवर! आप कहाँके रहनेवाले हैं, कहाँ जानेको उद्यत हैं और कहाँसे आपका आगमन हुआ है? यह सब बताइये।

ऋभुने कहा—ब्रह्मन्! जिसे भूख लगती है, उसीको अन्न भोजन करनेपर तृसि भी होती है। मुझे तो न कभी भूख लगी और न तृसि हुई। फिर मुझसे क्यों पूछते हो? जठराग्रिसे पार्थिव धातु (पहलेके खाये हुए पदार्थ)-के पच जानेपर क्षुधाकी प्रतीति होती है। इसी प्रकार पिये हुए जलके क्षीण हो जानेपर मनुष्योंको प्यासका अनुभव होता है। द्विज! ये भूख और प्यास देहके ही धर्म हैं, मेरे नहीं। अतः मुझे कभी भूख लगनेकी सम्भावना ही नहीं है। इसलिये मुझे तो सर्वदा तृसि रहती ही है। ब्रह्मन्! मनकी स्वस्थता और संतोष—ये दोनों चित्तके धर्म (विकार) हैं।

अतः आत्मा इन धर्मोंसे संयुक्त नहीं होता और तुमने जो यह पूछा है कि आपका निवास कहाँ है, आप कहाँ जायेंगे और आप कहाँसे आते हैं—इन तीनों प्रश्नोंके विषयमें मेरा मत सुनो। आत्मा सबमें व्यास है। यह आकाशकी भाँति सर्वव्यापक है, अतः इसके विषयमें कहाँसे आये, कहाँ रहते हैं और कहाँ जायेंगे—यह प्रश्न कैसे सार्थक हो सकता है? इसलिये मैं न जानेवाला हूँ और न आनेवाला। (तूँ मैं और अन्यका भेद भी शरीरको लेकर ही है) वास्तवमें न तू तू है, न अन्य अन्य है और न मैं मैं हूँ (केवल विशुद्ध आत्मा ही सर्वत्र विराजमान है)। इसी प्रकार मीठा भी मीठा नहीं है। मैंने जो तुमसे मिष्टान्नके लिये पूछा था उसमें भी मेरा यही भाव था कि देखँ, ये क्या कहते हैं। द्विजश्रेष्ठ! इस विषयमें मेरा विचार सुनो। मीठा अन्न भी तृप्त हो जानेके बाद मीठा नहीं लगता तो वही उद्देगजनक हो जाता है। कभी-कभी जो मीठा नहीं है, वह भी मीठा लगता है अर्थात् अधिक भूख होनेपर फीका अन्न भी मीठा (अमृतके समान) लगता है। ऐसा कौन-सा अन्न है, जो आदि, मध्य और अन्त—तीनों कालमें रुचिकर ही हो। जैसे मिट्टीका घर मिट्टीसे लिपनेपर स्थिर होता है, उसी प्रकार यह पार्थिव शरीर पार्थिव परमाणुओंसे पृष्ठ होता है। जौ, गेहूँ, मूँग, धी, तेल, दूध, दही, गुड़ और फल आदि सभी भोज्य-पदार्थ पार्थिव परमाणु ही तो हैं (इनमेंसे कौन स्वादिष्ट है और कौन नहीं)। अतः ऐसा समझकर जो मीठे और बे-मीठेका विचार करनेवाला है, उस मनको तुम्हें समदर्शी बनाना चाहिये; क्योंकि समता ही मोक्षका उपाय है।

राजन्! ऋभुके ये परमार्थयुक्त वचन सुनकर महाभाग निदाघने उन्हें प्रणाम करके कहा—

‘ब्रह्मन्! आप प्रसन्न होइये और बताइये, मेरा हितसाधन करनेके लिये यहाँ पधारे हुए आप कौन हैं? आपके इन वचनोंको सुनकर मेरा सम्पूर्ण मोह नष्ट हो गया है।’

ऋभु बोले—द्विजश्रेष्ठ! मैं तुम्हारा आचार्य ऋभु हूँ और तुम्हें तत्त्वको समझनेवाली बुद्धि देनेके लिये यहाँ आया था। अब मैं जाता हूँ। जो कुछ परमार्थ है, वह सब मैंने तुम्हें बता दिया। इस प्रकार परमार्थ-तत्त्वका विचार करते हुए तुम इस सम्पूर्ण जगत्को एकमात्र वासुदेवसंज्ञक परमात्माका स्वरूप समझो। इसमें भेदका सर्वथा अभाव है।

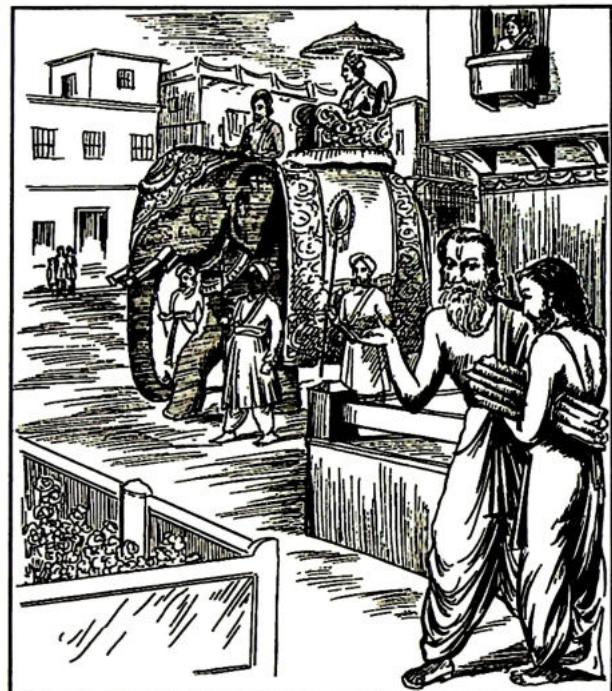
ब्राह्मण जडभरत कहते हैं—तदनन्तर निदाघने ‘बहुत अच्छा’ कहकर गुरुदेवको प्रणाम किया और बड़ी भक्तिसे उनकी पूजा की। तत्पश्चात् वे निदाघकी इच्छा न होनेपर भी वहाँसे चले गये। नरेश्वर! तदनन्तर एक सहस्र दिव्य वर्ष बीतनेके बाद गुरुदेव महर्षि ऋभु निदाघको ज्ञानोपदेश करनेके लिये पुनः उसी नगरमें आये। उन्होंने नगरसे बाहर ही निदाघको देखा। वहाँका राजा बहुत बड़ी सेना आदिके साथ धूम-धामसे नगरमें प्रवेश कर रहा था और निदाघ मनुष्योंकी भीड़-भाड़से दूर हटकर खड़े थे। वे जंगलसे समिधा और कुशा लेकर आये थे और भूख-प्याससे उनका गला सूख रहा था। निदाघको देखकर ऋभु उनके समीप गये और अभिवादन करके बोले—‘बाबाजी! आप यहाँ एकान्तमें कैसे खड़े हैं?’

निदाघ बोले—विप्रवर! आज इस रमणीय नगरमें यहाँके राजा प्रवेश करना चाहते हैं। अतः यहाँ मनुष्योंकी यह बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी है। इसीलिये मैं यहाँ खड़ा हूँ।

ऋभुने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! आप यहाँकी बातोंके

जानकार मालूम होते हैं। अतः बताइये, यहाँ राजा कौन है और दूसरे लोग कौन हैं?

निदाघ बोले—यह जो पर्वतशिखरके समान ऊँचे और मतवाले गजराजपर चढ़ा हुआ है, वही राजा है और दूसरे लोग उसके परिजन हैं।



ऋभुने पूछा—महाभाग! मैंने हाथी तथा राजाको एक ही साथ देखा है। आपने विशेषरूपसे इनका पृथक्-पृथक् चिह्न नहीं बताया; इसलिये मैं पहचान न सका। अतः आप इनकी विशेषता बतलाइये। मैं जानना चाहता हूँ कि इनमें कौन राजा है और कौन हाथी?

निदाघ बोले—ब्रह्मन्! इनमें यह जो नीचे है, वह हाथी है और इसके ऊपर ये राजा बैठे हैं। इन दोनोंमें एक वाहन है और दूसरा सवार। भला, वाह्य-वाहक-सम्बन्धको कौन नहीं जानता?

ऋभुने पूछा—ब्रह्मन्! जिस प्रकार मैं अच्छी तरह समझ सकूँ, उस तरह मुझे समझाइये। ‘नीचे’ इस शब्दका क्या अभिप्राय है और ‘ऊपर’ किसे कहते हैं?

ब्राह्मण जडभरत कहते हैं—ऋभुके ऐसा कहनेपर निदाघ सहसा उनके ऊपर चढ़ गये और इस प्रकार बोले—‘सुनिये, आप मुझसे जो कुछ पूछ रहे हैं, वह अब समझाकर कहता हूँ। इस समय मैं राजाकी भाँति ऊपर हूँ और श्रीमान् गजराजकी भाँति नीचे। ब्राह्मणदेव! आपको भलीभाँति समझानेके लिये ही मैंने यह दृष्टान्त दिखाया है।

ऋभुने कहा—द्विजश्रेष्ठ! यदि आप राजाके समान हैं और मैं हाथीके समान हूँ तो यह बताइये कि आप कौन हैं और मैं कौन हूँ?

ब्राह्मण कहते हैं—ऋभुके ऐसा कहनेपर निदाघने तुरंत ही उनके दोनों चरणोंमें मस्तक नवाया और कहा—‘भगवन्! आप निश्चय ही मेरे आचार्यपाद महर्षि ऋभु हैं; क्योंकि दूसरेका हृदय इस प्रकार अद्वैत-संस्कारसे सम्पन्न नहीं है, जैसा कि मेरे आचार्यका। अतः मेरा विश्वास है, आप मेरे गुरुजी ही यहाँ पधारे हुए हैं।

ऋभुने कहा—निदाघ! पहले तुमने मेरी बड़ी सेवा-शुश्रूषा की है। इसलिये अत्यन्त स्वेहवश मैं तुम्हें उपदेश देनेके लिये तुम्हारा

आचार्य ऋभु ही यहाँ आया हूँ। महामते! समस्त पदार्थोंमें अद्वैत आत्मबुद्धि होना ही परमार्थका सार है। मैंने तुम्हें संक्षेपसे उसका उपदेश कर दिया।

ब्राह्मण जडभरत कहते हैं—विद्वान् गुरु महर्षि ऋभु निदाघसे ऐसा कहकर चले गये। निदाघ भी उनके उपदेशसे अद्वैतपरायण हो गये और सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनेसे अभिन्न देखने लगे। ब्रह्मर्षि निदाघने इस प्रकार ब्रह्मपरायण होकर परम मोक्ष प्राप्त कर लिया। धर्मज्ञ नरेश! इसी प्रकार तुम भी आत्माको सबमें व्याप्त जानते हुए अपनेमें तथा शत्रु और मित्रमें समान भाव रखो।

सनन्दनजी कहते हैं—ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर राजाओंमें श्रेष्ठ सौवीर-नरेशने परमार्थकी ओर दृष्टि रखकर भेदबुद्धि त्याग दी और वे ब्राह्मण भी पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण करके बोधयुक्त हो उसी जन्ममें मुक्त हो गये। मुनीश्वर नारद! इस प्रकार मैंने तुम्हें परमार्थरूप यह अध्यात्मज्ञान बताया है। इसे सुननेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको भी यह मुक्ति प्रदान करनेवाला है।

शिक्षा-निरूपण

सूतजी कहते हैं—सनन्दनजीका ऐसा वचन सुनकर नारदजी अतृप्त-से रह गये। वे और भी सुननेके लिये उत्सुक होकर भाई सनन्दनजीसे बोले।

नारदजीने कहा—भगवन्! मैंने आपसे जो कुछ पूछा है, वह सब आपने बता दिया। तथापि भगवत्सम्बन्धी चर्चाको बारंबार सुनकर भी मेरा मन तृप्त नहीं होता—अधिकाधिक सुननेके लिये उत्कण्ठित हो रहा है। सुना जाता है, परम धर्मज्ञ व्यास-पुत्र शुकदेवजीने आन्तरिक और बाह्य-

सभी भोगोंसे पूर्णतः विरक्त होकर बड़ी भारी सिद्धि प्राप्त कर ली। ब्रह्मन्! महात्माओंकी सेवा (सत्सङ्ग) किये बिना प्रायः पुरुषको विज्ञान (तत्त्व-ज्ञान) नहीं प्राप्त होता, किंतु व्यासनन्दन शुकदेवने बाल्यावस्थामें ही ज्ञान पा लिया; यह कैसे सम्भव हुआ? महाभाग! आप मोक्षशास्त्रके तत्त्वको जाननेवाले हैं। मैं सुनना चाहता हूँ, आप मुझसे शुकदेवजीका रहस्यमय जन्म और कर्म कहिये।

सनन्दनजी बोले—नारद! सुनो, मैं शुकदेवजीकी

उत्पत्तिका वृत्तान्त संक्षेपसे कहूँगा। मुने! इस वृत्तान्तको सुनकर मनुष्य ब्रह्मतत्त्वका ज्ञाता हो सकता है। अधिक आयु हो जानेसे, बाल पक जानेसे, धनसे अथवा बन्धु-बान्धवोंसे कोई बड़ा नहीं होता। ऋषि-मुनियोंने यह धर्मपूर्ण निश्चय किया है कि हमलोगोंमें जो 'अनूचान' हो, वही महान् है।

नारदजीने पूछा—सबको मान देनेवाले विप्रवर! पुरुष 'अनूचान' कैसे होता है? वह उपाय मुझे बताइये; क्योंकि उसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है।

सनन्दनजी बोले—नारद! सुनो, मैं अनूचानका लक्षण बताता हूँ जिसे जानकर मनुष्य अङ्गोंसहित वेदोंका ज्ञाता होता है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष तथा छन्दःशास्त्र—इन छःको विद्वान् पुरुष वेदाङ्ग कहते हैं। धर्मका प्रतिपादन करनेमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चार वेद ही प्रमाण बताये गये हैं। जो श्रेष्ठ द्विज गुरुसे छहों अङ्गोंसहित वेदोंका अध्ययन भलीभाँति करता है, वह 'अनूचान' होता है; अन्यथा करोड़ों ग्रन्थ बाँच लेनेसे भी कोई 'अनूचान' नहीं कहला सकता।

नारदजीने कहा—मानद! आप अङ्गोंसहित इन सम्पूर्ण वेदोंके महापण्डित हैं। अतः मुझे अङ्गों और वेदोंका लक्षण विस्तारपूर्वक बताइये।

सनन्दनजी बोले—ब्रह्मन्! तुमने मुझपर प्रश्नका यह अनुपम भार रख दिया। मैं संक्षेपसे इन

सबके सुनिश्चित सार-सिद्धान्तका वर्णन करूँगा। वेदवेत्ता ब्रह्मर्षियोंने वेदोंकी शिक्षामें स्वरको प्रधान कहा है; अतः स्वरका वर्णन करता हूँ, सुनो—स्वर-शास्त्रोंके निश्चयके अनुसार विशेषरूपसे आर्चिक (ऋक्सम्बन्धी), गाथिक (गाथा-सम्बन्धी) और सामिक (साम-सम्बन्धी) स्वर-व्यवधानका प्रयोग करना चाहिये। ऋचाओंमें एकका अन्तर देकर स्वर होता है। गाथाओंमें दोके व्यवधानसे और साम-मन्त्रोंमें तीनके व्यवधानसे स्वर होता है। स्वरोंका इतना ही व्यवधान सर्वत्र जानना चाहिये। ऋक्, साम और यजुर्वेदके अङ्गभूत जो याज्य-स्तोत्र, करण और मन्त्र आदि यज्ञिकोंद्वारा यज्ञोंमें प्रयुक्त होते हैं, शिक्षा-शास्त्रका ज्ञान न होनेसे उनमें विस्वर (विरुद्ध स्वरका उच्चारण) हो जाता है। मन्त्र यदि यथार्थ स्वर और वर्णसे हीन हो तो मिथ्या-प्रयुक्त होनेके कारण वह उस अभीष्ट अर्थका बोध नहीं कराता; इतना ही नहीं, वह वाकरूपी वज्र यजमानकी हिंसा कर देता है—जैसे 'इन्द्रशत्रु' यह पद स्वरभेदजनित अपराधके कारण यजमानके लिये ही अनिष्टकारी हो गया*। सम्पूर्ण वाद्यमयके उच्चारणके लिये वक्षःस्थल, कण्ठ और सिर—ये तीन स्थान हैं। इन तीनोंको सवन कहते हैं, अर्थात् वक्षःस्थानमें नीचे स्वरसे जो शब्दोच्चारण होता है, उसे प्रातःसवन कहते हैं; कण्ठस्थानमें मध्यम स्वरसे किये हुए शब्दोच्चारणका नाम माध्यन्दिनसवन है तथा मस्तकरूप स्थानमें उच्च स्वरसे जो शब्दोच्चारण होता है, उसे तृतीयसवन

*तैत्तिरीय शाखाकी कृष्णायजुःसंहिताके द्वितीय काण्डमें पञ्चम प्रपाठकके द्वितीय अनुवाककी प्रथम पञ्चशतीमें मन्त्र आया है—'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व।' पौराणिक कथाके अनुसार त्वष्टा प्रजापतिने 'इन्द्रके शत्रु' वृत्रके अभ्युदयके लिये इस मन्त्रका उच्चारण किया था। 'इन्द्रस्य शत्रुः' इस विग्रहके अनुसार षष्ठी-समासमें समासान्तप्रयुक्त अनोदात्तका उच्चारण अभीष्ट था; परंतु प्रयोगमें पूर्वपदप्रकृतिस्वर—आद्युदात्त बोला गया; अतः वह बहुत्रीहिके अर्थका प्रकाशक हो गया। इसलिये 'इन्द्र है शत्रु (संहारक) जिसका वह' ऐसा अर्थ निकलनेके कारण वृत्रासुर ही इन्द्रके हाथसे मारा गया।

कहते हैं। अधरोत्तरभेदसे सप्तस्वरात्मक सामके भी पूर्वोक्त तीन ही स्थान हैं। उरोभाग, कण्ठ तथा सिर—ये सातों स्वरोंके विचरण-स्थान हैं। किंतु उरःस्थलमें मन्द्र और अतिस्वारकी ठीक अभिव्यक्ति न होनेसे उसे सातों स्वरोंका विचरण-स्थल नहीं कहा जा सकता; तथापि अध्ययनाध्यापनके लिये वैसा विधान किया गया है। (ठीक अभिव्यक्ति न होनेपर भी उपांशु या मानस प्रयोगमें वर्ण तथा स्वरका सूक्ष्म उच्चारण तो होता ही है।) कठ, कलाप, तैत्तिरीय तथा आह्वारक शाखाओंमें और ऋग्वेद तथा सामवेदमें प्रथम स्वरका उच्चारण करना चाहिये। ऋग्वेदकी प्रवृत्ति दूसरे और तीसरे स्वरके द्वारा होती है। लौकिक व्यवहारमें उच्च और मध्यमका संघात-स्वर होता है। आह्वारक शाखावाले तृतीय तथा प्रथममें उच्चारित स्वरोंका प्रयोग करते हैं। तैत्तिरीय शाखावाले द्वितीयसे लेकर पञ्चमतक चार स्वरोंका उच्चारण करते हैं। सामगान करनेवाले विद्वान् प्रथम (षड्ज), द्वितीय (ऋषभ), तृतीय (गान्धार), चतुर्थ (मध्यम), मन्द्र (पञ्चम), क्रुष्ण (धैवत) तथा अतिस्वार (निषाद)—इन सातों स्वरोंका प्रयोग करते हैं। द्वितीय और प्रथम—ये ताण्डी (ताण्ड्यपञ्चविंशादि ब्राह्मणके अध्येता कौथुम आदि शाखावाले) तथा भाल्लवी (छन्दोग शाखावाले) विद्वानोंके स्वर हैं तथा शतपथ ब्राह्मणमें आये हुए ये दोनों स्वर वाजसनेयी शाखावालोंके द्वारा भी प्रत्युक्त होते हैं। ये सब वेदोंमें प्रयुक्त होनेवाले स्वर विशेषरूपसे बताये गये हैं। इस प्रकार सार्ववैदिक स्वर-संचार कहा गया है।

अब मैं सामवेदके स्वर-संचारका वर्णन करूँगा। अर्थात् छन्दोग विद्वान् सामगानमें तथा ऋक्याठमें जिन स्वरोंका उपयोग करते हैं, उनका यहाँ विशेषरूपसे निरूपण किया जाता है। यहाँ

श्लोक थोड़े होंगे; किंतु उनमें अर्थ-विस्तार अधिक होगा। यह उत्तम वेदाङ्गका विषय सावधानीसे श्रवण करनेयोग्य है। नारद! मैंने तुम्हें पहले भी कभी तान, राग, स्वर, ग्राम तथा मूर्च्छनाओंका लक्षण बताया है, जो परम पवित्र, पावन तथा पुण्यमय है। द्विजातियोंको ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके स्वरूपका परिचय कराना—इसे ही शिक्षा कहते हैं। सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छना और उनचास तान—इन सबको स्वर-मण्डल कहा गया है। षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा सातवाँ निषाद—ये सात स्वर हैं। षड्ज, मध्यम और गान्धार—ये तीन ग्राम कहे गये हैं। भूलोंकसे षड्ज उत्पन्न होता है, भुवलोंकसे मध्यम प्रकट होता है तथा स्वर्ग एवं मेघलोकसे गान्धारका प्राकट्य होता है। ये तीन ही ग्राम-स्थान हैं। स्वरोंके राग-विशेषसे ग्रामोंके विविध राग कहे गये हैं। साम-गान करनेवाले विद्वान् मध्यम-ग्राममें बीस, षड्जग्राममें चौदह तथा गान्धारग्राममें पंद्रह तान स्वीकार करते हैं। नन्दी, विशाला, सुमुखी, चित्रा, चित्रवती, सुखा तथा बला—ये देवताओंकी सात मूर्च्छनाएँ जाननी चाहिये। आप्यायिनी, विश्वभूता, चन्द्रा, हेमा, कपर्दिनी, मैत्री तथा बार्हती—ये पितरोंकी सात मूर्च्छनाएँ हैं। षड्जस्वरमें उत्तर मन्द्रा, ऋषभमें अभिरूढता (या अभिरूद्धता) तथा गान्धारमें अश्वक्रान्ता नामवाली तीसरी मूर्च्छना मानी गयी है। मध्यमस्वरमें सौबीरा, पञ्चममें हृषिका तथा धैवतमें उत्तरायता नामकी मूर्च्छना जाननी चाहिये। निषादस्वरमें रजनी नामक मूर्च्छनाको जाने। ये ऋषियोंकी सात मूर्च्छनाएँ हैं। गन्धर्वगण देवताओंकी सात मूर्च्छनाओंका आश्रय लेते हैं। यक्षलोग पितरोंकी सात मूर्च्छनाएँ अपनाते हैं, इसमें संशय नहीं है। ऋषियोंकी जो सात मूर्च्छनाएँ हैं, उन्हें

लौकिक कहा गया है—उनका अनुसरण मनुष्य करते हैं। षड्जस्वर देवताओंको और ऋषभस्वर ऋषि-मुनियोंको त्रृप्त करता है। गान्धारस्वर पितरोंको, मध्यमस्वर गन्धर्वोंको तथा पञ्चमस्वर देवताओं, पितरों एवं महर्षियोंको भी संतुष्ट करता है। निषादस्वर यक्षोंको तथा धैवत सम्पूर्ण भूत-समुदायको त्रृप्त करता है। गानकी गुणवृत्ति दस प्रकारकी है अर्थात् लौकिक-वैदिक गान दस गुणोंसे युक्त हैं। रक्त, पूर्ण, अलंकृत, प्रसन्न, व्यक्त, विकृष्ट, श्लक्षण, सम, सुकुमार तथा मधुर—ये ही वे दसों गुण हैं। वेणु, वीणा तथा पुरुषके स्वर जहाँ एकमें मिलकर अभिन्न-से प्रतीत होते हैं और उससे जो रञ्जन होता है, उसका नाम ‘रक्त’ है। स्वर तथा श्रुतिकी पूर्ति करनेसे तथा छन्द एवं पादाक्षरोंके संयोग (स्पष्ट उच्चारण)-से जो गुण प्रकट होता है, उसे ‘पूर्ण’ कहते हैं। कण्ठ अर्थात् प्रथम स्थानमें जो स्वर स्थित है, उसे नीचे करके हृदयमें स्थापित करना और ऊँचे करके सिरमें ले जाना—यह ‘अलंकृत’ कहलाता है। जिसमें कण्ठका गदगदभाव निकल गया है और किसी प्रकारकी शङ्खा नहीं रह गयी है, वह ‘प्रसन्न’ नामक गुण है। जिसमें पद, पदार्थ, प्रकृति, विकार, आगम, लोप, कृदन्त, तद्वित्त, समास, धातु, निपात, उपसर्ग, स्वर, लिङ्ग, वृत्ति, वार्तिक, विभक्त्यर्थ तथा एकवचन, बहुवचन आदिका भलीभाँति उपपादन हो, उसे ‘व्यक्त’ कहते हैं। जिसके पद और अक्षर स्पष्ट हों तथा जो उच्च स्वरसे बोला गया हो, उसका नाम ‘विकृष्ट’ है। द्रुत (जल्दबाजी) और विलम्बित—दोनों दोषोंसे रहित, उच्च, नीच, प्लृत, समाहार, हेल, ताल और उपनय आदि उपपत्तियोंसे युक्त गीतको ‘श्लक्षण’ कहते हैं। स्वरोंके अवाप-निर्वाप (चढ़ाव-उतार)-के जो

प्रदेश हैं, उनका व्यवहित स्थानोंमें जो समावेश होता है, उसीका नाम ‘सम’ है। पद, वर्ण, स्वर तथा कुहरण (अव्यक्त अक्षरोंको कण्ठ दबाकर बोलना)—ये सभी जिसमें मृदु—कोमल हों, उस गीतको ‘सुकुमार’ कहा गया है। स्वभावसे ही मुखसे निकले हुए ललित पद एवं अक्षरोंके गुणसे सम्पन्न गीत ‘मधुर’ कहलाता है। इस प्रकार गान इन दस गुणोंसे युक्त होता है।

इसके विपरीत गीतके दोष बताये जाते हैं—इस विषयमें ये श्लोक कहे गये हैं। शङ्खित, भीषण, भीत, उद्धुष्ट, आनुनासिक, काकस्वर, मूर्धगत (अत्यन्त उच्च स्वरसे सिरतक चढ़ाया हुआ अपूर्णगान), स्थान-विवर्जित, विस्वर, विरस, विश्लिष्ट, विषमाहत, व्याकुल तथा तालहीन—ये चौदह गीतके दोष हैं। आचार्यलोग समगानकी इच्छा करते हैं। पण्डितलोग पदच्छेद (प्रत्येक पदका विभाग) चाहते हैं। स्त्रियाँ मधुर गीतकी अभिलाषा करती हैं और दूसरे लोग विकृष्ट (पद और अक्षरके विभागपूर्वक उच्च स्वरसे उच्चारित) गीत सुनना चाहते हैं। षड्जस्वरका रंग कमलपत्रके समान हरा है। ऋषभस्वर तोतेके समान कुछ पीलापन लिये हरे रंगका है। गान्धार सुवर्णके समान कान्तिवाला है। मध्यमस्वर कुन्दके सदृश श्वेतवर्णका है। पञ्चमस्वरका रंग श्याम है। धैवतको पीले रंगका माना गया है। निषादस्वरमें सभी रंग मिले हुए हैं। इस प्रकार ये स्वरोंके वर्ण कहे गये हैं। पञ्चम, मध्यम और षड्ज—ये तीनों स्वर ब्राह्मण माने गये हैं। ऋषभ और धैवत—ये दोनों ही क्षत्रिय हैं। गान्धार तथा निषाद—ये दोनों स्वर आधे वैश्य कहे गये हैं और पतित होनेके कारण ये आधे शूद्र हैं। इसमें संशय नहीं है। जहाँ ऋषभके अनन्तर प्रकट हुए षड्जके साथ धैवतसहित पञ्चमस्वर मध्यमरागमें प्राप्त होता है, उस निषादसहित

स्वरग्रामको 'षाडव' या 'षाडजव' जानना चाहिये। यदि मध्यमस्वरमें पञ्चमका विराम हो और अन्तरस्वर गान्धार हो जाय तथा उसके बाद क्रमसे ऋषभ, निषाद एवं पञ्चमका उदय हो तो उस पञ्चमको भी ऐसा ही (षाडव या षाडजव) समझे। यदि मध्यमस्वरका आरम्भ होनेपर गान्धारका आधिपत्य (वृद्धि) हो जाय, निषादस्वर बारंबार जाता-आता रहे, धैवतका एक ही बार उच्चारण होनेके कारण वह दुर्बलावस्थामें रहे तथा षड्ज और ऋषभकी अन्य पाँचोंके समान ही स्थिति हो तो उसे 'मध्यम ग्राम' कहते हैं। जहाँ आरम्भमें षड्ज हो और निषादका थोड़ा-सा स्पर्श किया गया हो तथा गान्धारका अधिक उच्चारण हुआ हो, साथ ही धैवतस्वरका कम्पन—पातन देखा जाता हो तथा उसके बाद दूसरे स्वरोंका यथारुचि गान किया गया हो, उसे 'षड्जग्राम' कहा गया है। जहाँ आरम्भमें षड्ज हो और इसके बाद अन्तरस्वर-संयुक्त काकली देखी जाती हो अर्थात् चार बार केवल निषादका ही श्रवण होता हो, पञ्चम स्वरमें स्थित उस आधारयुक्त गीतको 'श्रुति कैशिक' जानना चाहिये। जब पूर्वोक्त कैशिक नामक गीतको सब स्वरोंसे संयुक्त करके मध्यमसे उसका आरम्भ किया जाय और मध्यममें ही उसकी स्थापना हो तो वह 'कैशिक मध्यम' नामक ग्रामराग होता है। जहाँ पूर्वोक्त काकली देखी जाती हो और प्रधानता पञ्चम स्वरकी हो तथा शेष दूसरे-दूसरे स्वर सामान्य स्थितिमें हों तो कश्यप ऋषि उसे मध्यम ग्रामजनित 'कैशिक राग' कहते हैं। विद्वान् पुरुष 'ग' का अर्थ गेय मानते हैं और 'ध' का अर्थ कलापूर्वक बाजा बजाना कहते हैं और रेफसहित 'व' का अर्थ वाद्य-सामग्री कहते हैं। यही 'गान्धर्व' शब्दका लक्ष्यार्थ है। जो सामग्रान करनेवाले विद्वानोंका

प्रथम स्वर है, वही वेणुका मध्यम स्वर कहा गया है। जो उनका द्वितीय स्वर है, वही वेणुका गान्धार स्वर है और जो उनका तृतीय है, वही वेणुका ऋषभ स्वर माना गया है। सामग विद्वानोंके चौथे स्वरको वेणुका षट्ज कहा गया है। उनका पञ्चम वेणुका धैवत होता है। उनके छठेको वेणुका निषाद समझना चाहिये और उनका सातवाँ ही वेणुका पञ्चम माना गया है। मोर षट्ज स्वरमें बोलता है। गायें ऋषभ स्वरमें रँभाती हैं, भेड़ और बकरियाँ गान्धार स्वरमें बोलती हैं। तथा क्रौञ्च (कुरर) पक्षी मध्यम स्वरमें बोलता है। जब साधारणरूपसे सब प्रकारके फूल खिलने लगते हैं, उस वसन्त-ऋतुमें कोयल पञ्चम स्वरमें बोलती है। घोड़ा धैवत स्वरमें हिनहिनाता है और हाथी निषाद स्वरमें चिंघाड़ता है। षट्ज स्वर कण्ठसे प्रकट होता है। ऋषभ मस्तकसे उत्पन्न होता है, गान्धारका उच्चारण मुखसहित नासिकासे होता है और मध्यम स्वर हृदयसे प्रकट होता है। पञ्चम स्वरका उत्थान छाती, सिर और कण्ठसे होता है। धैवतको ललाटसे उत्पन्न जानना चाहिये तथा निषादका प्राकट्य सम्पूर्ण संधियोंसे होता है। षट्ज स्वर नासिका, कण्ठ, वक्षःस्थल, तालु, जिह्वा तथा दाँतोंके आश्रित है। इन छः अङ्गोंसे उसका जन्म होता है। इसलिये उसे 'षट्ज' कहा गया है। नाभिसे उठी हुई वायु कण्ठ और मस्तकसे टकराकर वृषभके समान गर्जना करती है। इसलिये उससे प्रकट हुए स्वरका नाम 'ऋषभ' है। नाभिसे उठी हुई वायु कण्ठ और सिरसे टकराकर पवित्र गन्ध लिये हुए बहती है। इस कारण उसे 'गान्धार' कहते हैं। नाभिसे उठी हुई वायु ऊरु तथा हृदयसे टकराकर नाभिस्थानमें आकर मध्यवर्ती होती है। अतः उससे निकले

हुए स्वरका नाम 'मध्यम' होता है। नाभिसे उठी हुई वायु वक्ष, हृदय, कण्ठ और सिरसे टकराकर इन पाँचों स्थानोंसे स्वरके साथ प्रकट होती है। इसलिये उस स्वरका नाम 'पञ्चम' रखा जाता है। अन्य विद्वान् धैवत और निषाद—इन दो स्वरोंको छोड़कर शेष पाँच स्वरोंको पाँचों स्थानोंसे प्रकट मानते हैं। पाँचों स्थानोंमें स्थित होनेके कारण इन्हें सब स्थानोंमें धारण किया जाता है। षड्ज स्वर अग्निके द्वारा गाया गया है। ऋषभ ब्रह्माजीके द्वारा गाया कहा जाता है। गान्धारका गान सोमने और मध्यम स्वरका गान विष्णुने किया है। नारदजी! पञ्चम स्वरका गान तो तुम्हींने किया है, इस बातको स्मरण करो। धैवत और निषाद—इन दो स्वरोंको तुम्हुरुने गाया है। विद्वान् पुरुषोंने ब्रह्माजीको आदि—षड्ज स्वरका देवता कहा है। ऋषभका प्रकाश तीखा और उद्दीप है, इसलिये अग्निदेव ही उसके देवता हैं। जिसके गान करनेपर गौएँ संतुष्ट होती हैं, वह गान्धार है और इसी कारण गौएँ ही उसकी अधिष्ठात्री देवी हैं। गान्धारको सुनकर गौएँ पास आती हैं, इसमें संदेह नहीं है। पञ्चम स्वरके देवता सोम हैं, जिन्हें ब्राह्मणोंका राजा कहा गया है। जैसे चन्द्रमा शुक्लपक्षमें बढ़ता है और कृष्णपक्षमें घटता है, उसी प्रकार स्वरग्राममें प्राप्त होनेपर जिस स्वरका हास होता और वृद्धि होती है तथा इन पूर्वोत्पन्न स्वरोंकी जहाँ अतिसंधि होती है, वह धैवत है। इसीसे उसके धैवतत्वका विधान किया गया है। निषादमें सब स्वरोंका निषादन (अन्तर्भाव) होता है, इसीलिये वह निषाद कहलाता है। यह सब स्वरोंको अभिभूत कर लेता है—ठीक उसी तरह, जैसे सूर्य सब नक्षत्रोंको अभिभूत करता है; क्योंकि सूर्य ही इसके अधिदेवता हैं।

काठकी वीणा तथा गात्रवीणा—ये गान-

जातिमें दो प्रकारकी वीणाएँ होती हैं। नारद! सामगानके लिये गात्रवीणा होती है, उसका लक्षण सुनो। गात्रवीणा उसे कहते हैं, जिसपर सामगान करनेवाले विद्वान् गाते हैं। वह अंगुलि और अङ्गुष्ठसे रञ्जित तथा स्वर-व्यञ्जनसे संयुक्त होती है। उसमें अपने दोनों हाथोंको संयममें रखकर उन्हें घुटनोंपर रखे और गुरुका अनुकरण करे, जिससे भिन्न बुद्धि न हो। पहले प्रणवका उच्चारण करे, फिर व्याहतियोंका। तदनन्तर गायत्री मन्त्रका उच्चारण करके सामगान प्रारम्भ करे। सब अंगुलियोंको फैलाकर स्वरमण्डलका आरोपण करे। अंगुलियोंसे अङ्गुष्ठका और अङ्गुष्ठसे अंगुलियोंका स्पर्श कदापि न करे। अंगुलियोंको बिलगाकर न रखे और उनके मूलभागका भी स्पर्श न करे, सदा उन अंगुलियोंके मध्यपर्वमें अँगूठेके अग्रभागसे स्पर्श करना चाहिये। विभागके जाता पुरुषको चाहिये कि मात्रा-द्विमात्रा-वृद्धिके विभागके लिये बायें हाथकी अंगुलियोंसे द्विमात्रका दर्शन कराता रहे। जहाँ त्रिरेखा देखी जाय, वहाँ संधिका निर्देश करे; वह पर्व है, ऐसा जानना चाहिये। शेष अन्तर-अन्तर है। साममन्त्रमें (प्रथम और द्वितीय स्वरके बीच) जौके बराबर अन्तर करे तथा ऋचाओंमें तिलके बराबर अन्तर करे। मध्यम पर्वोंमें भलीभाँति निविष्ट किये हुए स्वरोंका ही निवेश करे। विद्वान् पुरुष यहाँ शरीरके किसी अवयवको कँपाये नहीं। नीचेके अङ्ग—ऊर, जङ्घा आदिको सुखपूर्वक रखकर उनपर दोनों हाथोंको प्रचलित परिपाटीके अनुसार रखे (अर्थात् दाहिने हाथको गायके कानके समान रखे और बायेंको उत्तानभावसे रखे)। जैसे बादलोंमें बिजली मणिमय सूत्रकी भाँति चमकती दिखायी देती है, यही विवृत्तियों (पदादि विभागों) के छेद—बिलगाव—स्पष्ट निर्देशका दृष्टान्त है।

जैसे सिरके बालोंपर कैंची चलती है और बालोंको पृथक् कर देती है, उसी प्रकार पद और स्वर आदिका पृथक्-पृथक् विभागपूर्वक बोध कराना चाहिये। जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको समेट लेता है, उसी प्रकार अन्य सब चेष्टाओंको विलीन करके मन और दृष्टि देकर विद्वान् पुरुष, स्वस्थ, शान्त तथा निर्भीक होकर वर्णोंका उच्चारण करे। मन्त्रका उच्चारण करते समय नाककी सीधमें पूर्व दिशाकी ओर गोकर्णके समान आकृतिमें हाथको उठाये रखे और हाथके अग्रभागपर दृष्टि रखते हुए शास्त्रके अर्थका निरन्तर चिन्तन करता रहे। मन्त्र-वाक्यको हाथ और मुख दोनोंसे साथ-साथ भलीभाँति प्रचारित करे। वर्णोंका जिस प्रकार द्रुतादि वृत्तिसे आरम्भमें उच्चारण करे, उसी प्रकार उन्हें समाप्त भी करे। (एक ही मन्त्रमें दो वृत्तियोंकी योजना न करे।) अभ्याघात, निर्धात, प्रगान तथा कम्पन न करे, समभावसे साममन्त्रोंका गान करे। जैसे आकाशमें श्येन पक्षी सम गतिसे उड़ता है, जैसे जलमें विचरती हुई मछलियों अथवा आकाशमें उड़ते हुए पक्षियोंके मार्गिका विशेष रूपसे पता नहीं चलता, उसी प्रकार सामगानमें स्वरगत श्रुतिके विशेष स्वरूपका अवधारण नहीं होता। सामान्यतः गीतमात्रकी उपलब्धि होती है। जैसे दहीमें धी अथवा काठके भीतर अग्नि छिपी रहती है और प्रयत्नसे उसकी उपलब्धि भी होती है, उसी प्रकार स्वरगत श्रुति भी गीतमें छिपी रहती है, प्रयत्नसे उसके विशेष स्वरूपकी भी उपलब्धि होती है। प्रथम स्वरसे दूसरे स्वरपर जो स्वर-संक्रमण होता है, उसे प्रथम स्वरसे संधि रखते हुए ही करे, विच्छेद करके न करे और न वेगसे ही करे। जैसे छाया एवं धूप सूक्ष्म गतिसे धीरे-धीरे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाते हैं—न तो

पूर्वस्थानसे सहसा सम्बन्ध तोड़ते हैं और न नये स्थानपर ही वेगसे जाते हैं, उसी प्रकार स्वर-संक्रमण भी सम तथा अविच्छिन्न भावसे करे। जब प्रथम स्वरको खींचते हुए द्वितीय स्वर होता है, तब उसे 'कर्षण' कहते हैं। विद्वान् पुरुष निम्नाङ्कित छः दोषोंसे युक्त कर्षणका त्याग करे, अनागत तथा अतिक्रान्त अवस्थामें कर्षण न करे। द्वितीय स्वरके आरम्भसे पहले उसकी अनागत अवस्था है, प्रथम स्वरका सर्वथा व्यतीत हो जाना उसकी अतिक्रान्तावस्था है; इन दोनों स्थितियोंमें प्रथम स्वरका कर्षण न करे। प्रथम मात्राका विच्छेद करके भी कर्षण न करे। उसे विषमाहत—कम्पित करके भी द्वितीय स्वरपर न जाय। कर्षणकालमें तीन मात्रासे अधिक स्वरका विस्तार न करे। अस्थितान्तका त्याग करे अर्थात् द्वितीय स्वरमें भी त्रिमात्रायुक्त स्थिति करनी चाहिये, न कि दो मात्रासे ही युक्त। जो स्वर स्थानसे च्युत होकर अपने स्थानका अतिवर्तन (लङ्घन) करता है, उसे सामगान करनेवाले विद्वान् 'विस्वर' कहते हैं और वीणा बजाकर गानेवाले गायक उसे 'विरक्त' नाम देते हैं। स्वयं अभ्यास करनेके लिये द्रुतवृत्तिसे मन्त्रोच्चारण करे। प्रयोगके लिये मध्यम वृत्तिका आश्रय ले और शिष्योंके उपदेशके लिये विलम्बित वृत्तिका अवलम्बन करे। इस प्रकार शिक्षाशास्त्रोक्त विधिसे जिसने ग्रन्थ (सामगान) को ग्रहण किया है, वह विद्वान् द्विज ग्रन्थोच्चारणकी शिक्षा लेनेवाले शिष्योंको हाथसे ही अध्ययन कराये।

कुष्ट (सप्तम एवं पञ्चम) स्वरका स्थान मस्तकमें है। प्रथम (षष्ठि) स्वरका स्थान ललाटमें है। द्वितीय (ऋषभ) स्वरका स्थान दोनों भौंहोंके मध्यमें है। तृतीय (गान्धार) स्वरका स्थान दोनों कानोंमें है। चतुर्थ (मध्यम) स्वरका

स्थान कण्ठ है। मन्द्र (पञ्चम)-का स्थान रसना बतायी जाती है। (मन्द्रस्योरसि तूच्यते—इस पाठके अनुसार उसका स्थान वक्षःस्थल भी है।) अतिस्वार नामवाले नीच स्वर (निषाद) का स्थान हृदयमें बताया जाता है। अङ्गुष्ठके शिरोभागमें क्रृष्ट (सप्तम-पञ्चम) का न्यास करना चाहिये। अङ्गुष्ठमें ही प्रथम स्वरका भी स्थान बताया गया है। तर्जनीमें गान्धार तथा मध्यमामें ऋषभकी स्थिति है। अनामिकामें षड्ज और कनिष्ठिकामें धैवत हैं। कनिष्ठाके नीचे मूल भागमें निषाद स्वरकी स्थिति बताये। मन्द्र स्वरसे सर्वथा पृथक् न होनेसे निषाद 'अपर्व' है। उसका पृथक् ज्ञान न होनेके कारण उसे 'असंज्ञ' कहा गया है तथा उसमें लिङ्ग, वचन आदिका सम्बन्ध न होनेसे उसे 'अव्यय' भी कहते हैं। अतः मन्द्र ही मन्दीभूत होकर 'परिस्वार' (निषाद) कहा गया है। क्रृष्ट स्वरसे देवता जीवन धारण करते हैं और प्रथमसे मनुष्य; द्वितीय स्वरसे पशु तथा तृतीयसे गन्धर्व और अप्सराएँ जीवन धारण करती हैं। अण्डज (पक्षी) तथा पितृगण चतुर्थ-स्वरजीवी होते हैं। पिशाच, असुर तथा राक्षस मन्दस्वरसे जीवन-निर्वाह करते हैं। नीच अतिस्वार (निषाद)-से स्थावर-जङ्गमरूप जगत् जीवन धारण करता है। इस प्रकार सामिक स्वरसे सभी प्राणी जीवन धारण करते हैं।

जो दीसा, आयता, करुणा, मृदु तथा मध्यम श्रुतियोंका विशेषज्ञ नहीं है, वह आचार्य कहलानेका अधिकारी नहीं है। मन्द्र (पञ्चम), द्वितीय, चतुर्थ, अतिस्वार (षष्ठ) और तृतीय—इन पाँच स्वरोंकी श्रुति 'दीसा' कही गयी है। (प्रथमकी श्रुति मृदु है) और सप्तमकी श्रुति 'करुणा' है। अन्य जो 'मृदु', 'मध्यमा' और 'आयता' नामवाली श्रुतियाँ हैं, वे द्वितीय स्वरमें होती हैं। मैं उन

सबके पृथक्-पृथक् लक्षण बताता हूँ। नीच अर्थात् तृतीय स्वर परे रहते द्वितीय स्वरकी आयता श्रुति होती है, विपर्यय अर्थात् चतुर्थ स्वर परे रहनेपर उक्त स्वरकी मृदुभूता श्रुति होती है। अपना स्वर परे हो और स्वरान्तर परे न हो तो उसकी मध्यमा श्रुति होती है। यह सब विचारकर सामस्वरका प्रयोग करना चाहिये। क्रृष्ट स्वर परे होनेपर द्वितीय स्वरमें स्थित जो श्रुति है, उसे 'दीसा' समझे। प्रथम स्वरमें हो तो वह 'मृदु' श्रुति मानी गयी है। यदि चतुर्थ स्वरमें हो तो वही श्रुति मृदु कहलाती है। तथा मन्द्र स्वरमें हो तो दीसा होती है। सामकी समास होनेपर जिस किसी भी स्वरमें स्थित श्रुति दीसा ही होती है। स्वरके समास होनेसे पहले आयतादि श्रुतिका प्रयोग न करे। स्वर समास होनेपर भी जबतक गानका विच्छेद न हो जाय, दो स्वरोंके मध्यमें भी श्रुतिका प्रयोग न करे। हस्त तथा दीर्घ अक्षरका गान होते समय भी श्रुति नहीं करनी चाहिये (केवल प्लुतमें ही श्रुति कर्तव्य है) तथा जहाँ घुट-संज्ञक स्वर हो, वहाँ भी श्रुतिका प्रयोग न करे। तालव्य इकारका 'आ' 'इ' भाव होता है और 'आ उ' भाव होता है; ये दो प्रकारकी गतियाँ हैं और ऊष्म वर्ण 'श ष स' के साथ जो त्रिविध पदान्त सन्धि है—ये सब मिलकर पाँच स्थान हैं; इन स्थानोंमें घुट-संज्ञक स्वर जानना चाहिये (इनमें श्रुति नहीं करनी चाहिये)। श्रुतिस्थानोंमें जहाँ स्वर और स्वरान्तर समास न हुए हों तथा जो हस्त, दीर्घ एवं 'घुट' संज्ञाके स्थल हैं, वे सब श्रुतिसे रहित हैं, उनमें श्रुति नहीं करनी चाहिये। वहाँ स्वरसे ही श्रुतिवत् कार्य होता है।

(सामव्यतिरिक्त स्थलोंमें) उदात्त स्वरमें 'दीसा' नामवाली श्रुतिको जाने। स्वरितमें भी विद्वान्

लोग 'दीसा' की ही स्थिति मानते हैं। अनुदात्तमें 'मृदु' श्रुति जाननी चाहिये। गान्धर्व गानमें श्रुतिका अभाव होनेपर भी स्वरको ही श्रुतिके समान करना चाहिये, वहाँ स्वरमें ही श्रुतिका वैभव निहित है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय^१ तथा निघात^२—ये पाँच स्वरभेद होते हैं।

इसके बाद मैं आर्चिकके तीन स्वरोंका प्रतिपादन करता हूँ। पहला उदात्त, दूसरा अनुदात्त और तीसरा स्वरित है। जिसको उदात्त कहा गया है, वही स्वरितसे परे हो तो विद्वान् पुरुष उसे प्रचय कहते हैं। वहाँ दूसरा कोई स्वरान्तर नहीं होता। स्वरितके दो भेद हैं—वर्ण-स्वार तथा अतीत-स्वार। इसी प्रकार वर्ण भी मात्रिक एवं उच्चरितके पश्चात् दीर्घ होता है। प्रत्यय-स्वाररूप प्रत्ययका दर्शन होनेसे उसे सात प्रकारका जानना चाहिये। वह क्या, कहाँ और कैसा है, इसका ज्ञान पदसे प्राप्त करना चाहिये। दाहिने कानमें सातों स्वरोंका श्रवण करावे। आचार्योंने पुत्रों और शिष्योंके हितकी इच्छासे ही इस शिक्षाशास्त्रका प्रणयन किया है। उच्च (उदात्त)-से कोई उच्चतर नहीं है और नीच (अनुदात्त)-से नीचतर नहीं है। फिर विशिष्ट स्वरके रूपमें जो 'स्वार' संज्ञादी जाती है, उसमें स्वारका क्या स्थान है? (इसके उत्तरमें कहते हैं—) उच्च (उदात्त) और नीच (अनुदात्त)-के मध्यमें जो 'साधारण' यह श्रुति है, उसीको शिक्षाशास्त्रके विद्वान् स्वार-संज्ञामें 'स्वार' नामसे जानते हैं। उदात्तमें निषाद और गान्धार स्वर हैं, अनुदात्तमें ऋषभ और धैवत स्वर हैं। और ये—षड्ज, मध्यम तथा पञ्चम—स्वरितमें प्रकट होते हैं। जिसके परे 'क'

और 'ख' हैं तथा जो जिद्धामूलीयरूप प्रयोजनको सिद्ध करनेवाली है, उस 'ऊष्मा' (ॐ ऊष्मा)-को 'मात्रा' जाने। वह अपने स्वरूपसे ही 'कला' है (किसी दूसरे वर्णका अवयव नहीं है। इसे उपधानीयका भी उपलक्षण मानना चाहिये)।

जात्य, क्षैप्र, अभिनिहित, तैरव्यञ्जन, तिरोविराम, प्रशिलष्ट तथा सातवाँ पादवृत्त—ये सात स्वार हैं। अब मैं इन सब स्वारोंका पृथक्-पृथक् लक्षण बतलाता हूँ। लक्षण कहकर उन सबके यथायोग्य उदाहरण भी बताऊँगा। जो अक्षर 'य' कार और 'व' कारके साथ स्वरित होता है तथा जिसके आगे उदात्त नहीं होता, वह 'जात्य' स्वार कहलाता है। जब उदात्त 'इ' वर्ण और 'उ' वर्ण कहीं पदादि अनुदात्त अकार परे रहते सन्धि होनेपर 'य' 'व' के रूपमें परिणत हो स्वरित होते हैं, तो वहाँ सदा 'क्षैप्र' स्वारका लक्षण समझना चाहिये। 'ए' और 'ओ' इन दो उदात्त स्वरोंसे परे जो वकारसहित अकार निहित (अनुदातरूपमें निपातित) हो और उसका जहाँ लोप ('ए' कार या 'उ' कार में अनुप्रवेश) होता है, उसे 'अभिनिहित' स्वार माना जाता है। छन्दमें जहाँ कहीं या जो कोई भी ऐसा स्वरित होता है, जिसके पूर्वमें उदात्त हो, तो वह सर्व बहुस्वार—(सर्वत्र बहुलतासे होनेवाला स्वर) 'तैरव्यञ्जन' कहलाता है। यदि उदात्त अवग्रह हो और अवग्रहसे परे अनन्तर स्वरित हो तो उसे 'तिरोविराम' समझना चाहिये। जहाँ उदात्त 'इ' कारको अनुदात्त 'इ' कारसे संयुक्त देखो, वहाँ विचार लो कि 'प्रशिलष्ट' स्वार है। जहाँ स्वर अकारादिमें स्वरित हो और पूर्वपदके साथ

१-स्वरितसे आगे स्वरित ही हों तो उनकी 'प्रचय' संज्ञा होती है। २- प्रचय परे हो तो स्वरितका आहनन होनेसे उसकी 'निघात' संज्ञा होती है। प्रचय न हो, तब तो शुद्ध 'स्वरित' ही रहता है।

संहिता विभक्त हो, उसे पादवृत्त स्वारका शास्त्रोक्त लक्षण समझना चाहिये।

‘जात्य’ स्वारका उदाहरण है—‘स जात्येन’ इत्यादि। श्रुष्टी+अग्रे=श्रुष्ट्यग्ने आदि स्थलोंमें ‘क्षैप्र’ स्वार है। ‘वे मन्वत्’ इत्यादिमें ‘अभिनिहित’ स्वार जानना चाहिये। उ+उतये=उतये, वि+ईतये=वीतये इत्यादिमें ‘तैरव्यञ्जन’ नामक स्वार है। ‘विस्कभिते विस्कभिते’ आदि स्थलोंमें ‘तिरोविराम’ है। ‘हि इन्द्र गिर्वणः’=‘हीन्द्र०’ इत्यादिमें ‘प्रश्लिष्ट’ स्वार है। ‘क ईम् कई वेद’ इत्यादिमें ‘पादवृत्त’ नामक स्वार है। इस प्रकार ये सब सात स्वार हैं।

जात्य स्वरोंको छोड़कर एक पूर्ववर्ती उदात्त अक्षरसे परे जो भी अक्षर हो, उसकी स्वरित संज्ञा होती है। यह स्वरितका सामान्य लक्षण बताया जाता है। पूर्वोक्त चार स्वार उदात्त अथवा एक अनुदात्त परे रहनेपर शास्त्रतः ‘कम्प’ उत्पन्न करते हैं। (जिसका स्वरूप चल हो, उस स्वारका नाम कम्प है) इसका उदाहरण है ‘जुह्गिः।’ ‘उप त्वा जुहू’, ‘उप त्वा जुह्वो मम’ इत्यादि। पूर्वपद ‘इ’कारान्त हो और परे ‘उ’कारकी स्थिति हो तो मेधावी पुरुष वहाँ ‘हस्त कम्प’ जाने—इसमें संशय नहीं है। यदि ‘उ’कारद्वययुक्त पद परे हो तो इकारान्त पदमें दीर्घ कम्प जानना चाहिये। इसका दृष्टान्त है—‘शग्ध्यृषु’ इत्यादि। तीन दीर्घ कम्प जानने चाहिये, जो संध्यक्षरोंमें होते हैं। उनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—मन्या। पथ्या। न इन्द्राभ्याम्। शेष हस्त कहे गये हैं। जब अनेक उदात्तोंके बाद कोई अनुदात्त प्रत्यय हो तो एक उदात्त परे रहते दूसरे-तीसरे उदात्तकी ‘शिवकम्प’ संज्ञा होती है अर्थात् वह शिवकम्पसंज्ञक आद्युदात्त होता है। किंतु वह उदात्त प्रत्यय होना चाहिये। जहाँ दो, तीन, चार आदि उदात्त अक्षर हों, नीच—अनुदात्त हो और उससे पूर्व उच्च

अर्थात् उदात्त हो और वह भी पूर्ववर्ती उदात्त या उदात्तोंसे परे हो तो वहाँ विद्वान् पुरुष ‘उदात्त’ मानते हैं। रेफ या ‘ह’कारमें कहीं द्वित्व नहीं होता—दो रेफ या दो ‘ह’कारका प्रयोग एक साथ नहीं होता। कवर्ग आदि वर्गोंके दूसरे और चौथे अक्षरोंमें भी कभी द्वित्व नहीं होता। वर्गके चौथे अक्षरको तीसरेके द्वारा और दूसरेको प्रथमके द्वारा पीडित न करे। आदि, मध्य और अन्त्य (क, ग, ड आदि)-को अपने ही अक्षरसे पीडित (संयुक्त) करे। यदि संयोगदशामें अनन्त्य (जो अन्तिम वर्ण नहीं है, वह ‘ग’कार आदि) वर्ण पहले हो और ‘न’कारादि अन्त्य वर्ण बादमें हो तो मध्यमें यम (य व र ल ज म ड ण न) अक्षर स्थित होता है, वह पूर्ववर्ती अक्षरका सर्वण हुआ करता है। पूर्ववर्ती श ष स तथा य र ल व—इन अक्षरोंसे संयुक्त वर्गान्त्य वर्णोंको देखकर यम निवृत्त हो जाते हैं—ठीक वैसे ही, जैसे चोर-डाकुओंको देखकर राही अपने मार्गसे लौट जाते हैं। संहितामें जब वर्गके तीसरे और चौथे अक्षर संयुक्त हों तो पदकालमें चतुर्थ अक्षरसे ही आरम्भ करके उत्तर पद होगा। दूसरे, तीसरे और ‘ह’कार—इन सबका संयोग हो तो उत्तरपद हकारादि ही होगा। अनुस्वार, उपध्मानीय तथा जिह्वामूलीयके अक्षर किसी पदमें नहीं जाते, उनका दो बार उच्चारण नहीं होता। यदि पूर्वमें र या ह अक्षरसे संयोग हो तो परवर्ती अक्षरका द्वित्व हो जाता है। जहाँ संयोगमें स्वरित हो तथा उद्धृत (नीचेसे ऊपर जाने)-में और पतन (ऊँचेसे नीचे जाने)-में स्वरित हो, वहाँ पूर्वाङ्गको आदिमें करके (नीचमें उच्चत्व लाकर) पराङ्गके आदिमें स्वरितका संनिवेश करे। संयोगके विरत (विभक्त) होनेपर जो उत्तरपदसे असंयुक्त व्यञ्जन दिखायी दे, उसे पूर्वाङ्ग जानना चाहिये तथा जिस

व्यञ्जनसे उत्तरपदका आरम्भ हो, उसे पराङ्म समझे। संयोगसे परवर्ती भागको स्वरयुक्त करना चाहिये, क्योंकि वह उत्तम एवं संयोगका नायक है, वहीं प्रधानतया स्वरकी विश्रान्ति होती है तथा व्यञ्जनसंयुक्त वर्णका पूर्व अक्षर स्वरित है; उसे बिना स्वरके ही बोलना चाहिये। अनुस्वार, पदान्त, प्रत्यय तथा सर्वर्णपद परे रहनेपर होनेवाला द्वित्व तथा रेफस्वरूप स्वरभक्ति—यह सब पूर्वाङ्ग कहलाता है। पादादिमें, पदादिमें, संयोग तथा अवग्रहोंमें भी 'य' कारके द्वित्वका प्रयोग करना चाहिये; उसे 'य्य' शब्द जानना चाहिये। अन्यत्र 'य' केवल 'य' के रूपमें ही रहता है। पदादिमें रहते हुए भी विच्छेद (विभाग) न होनेपर अथवा संयोगके अन्तमें स्थित होनेपर र् ह रेफविशिष्ट य—इनको छोड़कर अन्य वर्णोंका अयादेश (द्वित्वाभाव) देखा जाता है। स्वयं संयोगयुक्त अक्षरको गुरु जानना चाहिये। अनुस्वारयुक्त तथा विसर्गयुक्त वर्णका गुरु होना तो स्पष्ट ही है। शेष अणु (हस्व) है। 'हि' 'गो' इनमें प्रथम संयुक्त और दूसरा विसर्गयुक्त है। संयोग और विसर्ग दोनोंके आदि अक्षरका गुरुत्व भी स्पष्ट है। जो उदात्त है, वह उदात्त ही रहता है; जो स्वरित है, वह पदमें नीच (अनुदात्त) होता है। जो अनुदात्त है, वह तो अनुदात्त रहता ही है; जो प्रचयस्थ स्वर है, वह भी अनुदात्त हो जाता है। विभिन्न मन्त्रोंमें आये हुए 'अग्निः', 'सुतः' 'मित्रम्', 'इदम्', 'वयम्', 'अया', 'वहा', 'प्रियम्', 'दूतम्', 'घृतम्', 'चित्तम्' तथा 'अभि'—ये पद नीच (अर्थात् अनुदात्तसे आरम्भ) होते हैं। 'अर्क', 'सुत', 'यज्ञ', 'कलश', 'शत' तथा 'पवित्र'—इन शब्दोंमें अनुदात्तसे श्रुतिका उच्चारण प्रारम्भ किया जाता है। 'हरि', 'वरुण', 'वरेण्य', 'धारा' तथा 'पुरुष'—इन शब्दोंमें रेफयुक्त स्वर

ही स्वरित होता है। 'विश्वानर' शब्दमें नकारयुक्त और अन्यत्र 'नर' शब्दोंमें रेफयुक्त स्वर ही स्वरित होता है। परंतु 'उदुत्तमं त्वं वरुण' इत्यादि वरुण-सम्बन्धी दो मन्त्रोंमें 'व' कार ही स्वरित होता है, रेफ नहीं। 'उरु धारा मरं कृतम्', 'उरु धारेव दोहने' इत्यादि मन्त्रोंमें 'धारा'का 'धाकार' ही स्वरित होता है, रेफ नहीं। (यह पूर्व नियमका अपवाद है) हस्व या दीर्घ जो अक्षर यहाँ स्वरित होता है, उसकी पहली आधी मात्रा उदात्त होती है और शेष आधी मात्रा उससे परे अनुदात्त होती है (पाणिनिने भी यही कहा है—'तस्यादित उदात्तमर्धहस्वम्' [१। २। ३२]) कम्प, उत्स्वरित और अभिगीतके विषयमें जो द्विस्वरका प्रयोग होता है, वहाँ हस्वको दीर्घके समान करे और हस्व कर्षण करे। पलक मारनेमें जितना समय लगता है, वह एक मात्रा है। दूसरे आचार्य ऐसा मानते हैं कि बिजली चमककर जितने समयमें अदृश्य हो जाती है, वह एक 'मात्रा' का मान है। कुछ विद्वानोंका ऐसा मत है कि ऋ, छ अथवा श के उच्चारणमें जितना समय लगता है, उतने कालकी एक मात्रा होती है। समासमें यदि अवग्रह (विग्रह या पद-विच्छेद) करे तो उसमें समासपदको संहितायुक्त ही रखें; क्योंकि वहाँ जिससे अक्षरादिकरण होता है, उसी स्वरको उस समास-पदका अन्त मानते हैं। सर्वत्र, पुत्र, मित्र, सखि, अद्वि, शतक्रतु, आदित्य, प्रजातवेद, सत्पति, गोपति, वृत्रहा, समुद्र—ये सभी शब्द अवग्राह्य (अवग्रहके योग्य) हैं। 'स्वर्युवः', 'देवयुवः', 'अरतिम्', 'देवतातये', 'चिकितिः', 'चुक्रुधम्'—इन सबमें एक पद होनेके कारण पण्डितलोग अवग्रह नहीं करते। अक्षरोंके नियोगसे चार प्रकारकी विवृतियाँ जाननी चाहिये, ऐसा मेरा मत है। अब तुम मुझसे उनके

नाम सुनो—वत्सानुसृता, वत्सानुसारिणी, पाकवती और पिपीलिका। जिसके पूर्वपदमें हत्व और उत्तरपदमें दीर्घ है, वह हस्तादिरूप बछड़ोंसे अनुगत होनेके कारण 'वत्सानुसृता' विवृति कही गयी है। जिसमें पहले ही पदमें दीर्घ और उत्तर पदमें हस्त हो, वह 'वत्सानुसारिणी' विवृति है। जहाँ दोनों पदोंमें हस्त है, वह 'पाकवती' कहलाती है तथा जिसके दोनों पदोंमें दीर्घ है, वह 'पिपीलिका' कही गयी है। इन चारों विवृतियोंमें एक मात्राका अन्तर होता है। दूसरोंके मतमें यह अन्तर आधा मात्रा है और किन्हींके मतमें अणु मात्रा है। रेफ तथा श ष स—ये जिनके आदिमें हों, ऐसे प्रत्यय परे होनेपर 'मकार' अनुस्वारभावको प्राप्त होता है। य व ल परे हों तो वह परसर्वण होता है और स्पर्शर्वण परे हों तो उन-उन वर्गोंके पञ्चम वर्णको प्राप्त होता है। नकारान्त पद पूर्वमें हो और स्वर परे हो तो नकारके द्वारा पूर्ववर्ती आकार अनुरज्जित होता है, अतः उसे 'रक्त' कहते हैं (यथा 'महाँ३असि' इत्यादि)। यदि नकारान्त पद पूर्वमें हो और य व हि आदि व्यञ्जन परे हों तो पूर्वकी आधी मात्रा—अणु मात्रा अनुरज्जित होती है। पूर्वमें स्वरसे संयुक्त हलन्त नकार यदि पदान्तमें स्थित हो और उसके परे भी पद हो तो वह चार रूपोंसे युक्त होता है। कहीं वह रेफ होता है, कहीं रंग (या रक्त) बनता है, कहीं उसका लोप और कहीं अनुस्वार हो जाता है (यथा 'भवांश्चिनोति'में रेफ होता है। 'महाँ३ असि' में रंग है। 'महाँ३ इन्द्र' में 'न' का लोप हुआ है। पूर्वका अनुनासिक या अनुस्वार हुआ है)। 'रंग' हृदयसे उठता है, कांस्यके वाद्यकी भाँति उसकी ध्वनि होती है। वह मृदु तथा दो मात्राका (दीर्घ) होता है। दधन्वाँ॒ २ यह उदाहरण है। नारद! जैसे

सौराष्ट्र देशकी नारी 'अरां' बोलती है, उसी प्रकार 'रंग' का प्रयोग करना चाहिये—यह मेरा मत है। नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात—इन चार प्रकारके पदोंके अन्तमें स्वरपूर्वक ग ड द व डण न म ष स—ये दस अक्षर 'पदान्त' कहे गये हैं। उदात्त स्वर, अनुदात्त स्वर और स्वरित स्वर जहाँ भी स्थित हों, व्यञ्जन उनका अनुसरण करते हैं। आचार्यलोग तीनों स्वरोंकी ही प्रधानता बताते हैं। व्यञ्जनोंको तो मणियोंके समान समझे और स्वरको सूत्रके समान; जैसे बलवान् राजा दुर्बलके राज्यको हड़प लेता है, उसी प्रकार बलवान् दुर्बल व्यञ्जनको हर लेता है। ओभाव, विवृति, श, ष, स, र, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय—ये ऊष्माकी आठ गतियाँ हैं। ऊष्मा (सकार) इन आठ भावोंमें परिणत होता है। संहितामें जो स्वर-प्रत्यय विवृति होती है, वहाँ विसर्ग समझे अथवा उसका तालव्य होता है। जिसकी उपधामें संध्यक्षर (ए, ओ, ऐ, औ) हों ऐसी सन्धिमें यदि य और व लोपको प्राप्त हुए हों तो वहाँ व्यञ्जननामक विवृति और स्वरनामक प्रतिसंहिता होती है। जहाँ ऊष्मान्त विरत हो और सन्धिमें 'व' होता हो, वहाँ जो विवृति होती है, उसे 'स्वर विवृति' नामसे कहना चाहिये। यदि 'ओ' भावका प्रसंधान हो तो उत्तर पद ऋकारादि होता है; वैसे प्रसंधानको स्वरान्त जानना चाहिये। इससे भिन्न ऊष्माका प्रसंधान होता है (यथा 'वायो ऋॄ' इति। यहाँ ओभावका प्रसंधान है। 'क इह' यहाँ ऊष्माका प्रसंधान है)। जब श ष स आदि परे हों, उस समय यदि प्रथम (वर्गके पहले अक्षर) और उत्तम (वर्गके अन्तिम अक्षर) पदान्तमें स्थित हों तो वे द्वितीय स्थानको प्राप्त होते हैं। ऊष्मसंयुक्त होनेपर अर्थात् सकारादि परे होनेपर प्रथम जो तकार आदि अक्षर हैं, उनको

द्वितीय (थकार आदि)-की भाँति दिखाये— थकार आदिकी भाँति उच्चारण करे, उन्हें स्पष्टतः थकार आदिके रूपमें ही न समझ ले। उदाहरणके लिये—‘मत्स्यः’, ‘क्षुरः’ और ‘अप्सराः’ आदि उदाहरण हैं। लौकिक श्लोक आदिमें छन्दका ज्ञान करानेके लिये तीन हेतु हैं—छन्दोमान, वृत्त और पादस्थान (पदान्त)। परंतु ऋचाएँ स्वभावतः गायत्री आदि छन्दोंसे आवृत हैं। उनकी पाद-गणना या गुरु, लघु एवं अक्षरोंकी गणना तो छन्दोविभागको समझनेके लिये ही है; उन लक्षणोंके अनुसार ही ऋचाएँ हों, यह नियम नहीं है। लौकिक छन्द ही पाद और अक्षर-गणनाके अनुसार होते हैं। ऋवर्ण और स्वरभक्तिमें जो रेफ है, उसे अक्षरान्तर मानकर छन्दकी अक्षर-गणना या मात्रागणनामें सम्मिलित करे। किंतु स्वरभक्तियोंमें प्रत्ययके साथ रेफरहित अक्षरकी गणना करे। ऋवर्णमें रेफरूप व्यञ्जनकी प्रतीति पृथक् होती है और स्वररूप अक्षरकी प्रतीति अलग होती है। यदि ‘ऋ’ से ऊष्माका संयोग न हो तो उस ऋकारको लघु अक्षर जाने। जहाँ ऊष्मा (शकार आदि)-से संयुक्त होकर ऋकार पीड़ित होता है, उस ऋवर्णको ही स्वर होनेपर भी गुरु समझना चाहिये; यहाँ ‘तृचम्’ उदाहरण है। (यहाँ ऋकार लघु है।) ऋषभ, गृहीत, बृहस्पति, पृथिवी तथा निर्त्रिति—इन पाँच शब्दोंमें ऋकार स्वर ही है, इसमें संशय नहीं है। श, ष, स, ह, र—ये जिसके आदिमें हों, ऐसे पदमें द्विपद सन्धि होनेपर कहीं ‘इ’ और ‘उ’ से रहित एकपदा स्वरभक्ति होती है, वह क्रमवियुक्त होती है। स्वरभक्ति दो प्रकारकी कही गयी है—ऋकार तथा रेफ। उसे अक्षरचिन्तकोंने क्रमशः ‘स्वरोदा’ और ‘व्यञ्जनोदा’ नाम दिया है। श, ष, स के विषयमें स्वरोदया एवं विवृता स्वरभक्ति मानी

गयी है और हकारके विषयमें विद्वान् लोग व्यञ्जनोदया एवं संवृता स्वरभक्ति निश्चित करते हैं (दोनोंके क्रमशः उदाहरण हैं—‘ऊर्धति, अर्हति’)। स्वरभक्तिका प्रयोग करनेवाला पुरुष तीन दोषोंको त्याग दे—इकार, उकार तथा ग्रस्तदोष। जिससे परे संयोग हो और जिससे परे छ हो, जो विसर्गसे युक्त हो, द्विमात्रिक (दीर्घ) हो, अवसानमें हो, अनुस्वारयुक्त हो तथा घुडन्त हो—ये सब लघु नहीं माने जाते।

पथ्या (आर्या) छन्दके प्रथम और तृतीय पाद बारह मात्राके होते हैं। द्वितीय पाद अठारह मात्राका होता है और अन्तिम (चतुर्थ) पाद पंद्रह मात्राका होता है। यह पथ्याका लक्षण बताया गया; जो इससे भिन्न है, उसका नाम विपुला है। अक्षरमें जो हस्त है, उससे परे यदि संयोग न हो तो उसकी ‘लघु’ संज्ञा होती है। यदि हस्तसे परे संयोग हो तो उसे गुरु समझे तथा दीर्घ अक्षरोंको भी गुरु जाने। जहाँ स्वरके आते ही विवृति देखी जाती हो, वहाँ गुरु स्वर जानना चाहिये; वहाँ लघुकी सत्ता नहीं है। पदोंके जो स्वर हैं, उनके आठ प्रकार जानने चाहिये— अन्तोदात्त, आद्युदात्त, उदात्त, अनुदात्त, नीचस्वरित, मध्योदात्त, स्वरित तथा द्विरुदात्त—ये आठ पद-संज्ञाएँ हैं। ‘अग्निर्वृत्राणि’ इसमें ‘अग्निः’ अन्तोदात्त है। ‘सोमः पवते’ इसमें ‘सोमः’ आद्युदात्त है। ‘प्र वो यहम्’ इसमें ‘प्र’ उदात्त और ‘वः’ अनुदात्त है। ‘बलं न्युञ्जं वीर्यम्’ इसमें ‘वीर्यम्’ नीचस्वरित है। ‘हविषा विधेम’ इसमें ‘हविषा’ मध्योदात्त है। ‘भूर्भुवः स्वः’ इसमें ‘स्वः’ स्वरित है। ‘वनस्पतिः’ में ‘व’ कार और ‘स्प’ दो उदात्त होनेसे यह द्विरुदात्तका उदाहरण है। नाममें अन्तर एवं मध्यमें उदात्त होता है। निपातमें अनुदात्त होता है। उपसर्गमें आद्य स्वरसे परे

स्वरित होता है तथा आख्यातमें दो अनुदात्त होते हैं। स्वरितसे परे जो धार्य अक्षर हैं (यथा 'निहोता सत्सि' इसमें 'ता' स्वरित है, उससे परे 'सत्सि' ये धार्य अक्षर हैं), वे सब प्रचयस्थान हैं; क्योंकि 'स्वरित' प्रचित होता है। वहाँ आदिस्वरितका निघात स्वर होता है। जहाँ प्रचय देखा जाय, वहाँ विद्वान् पुरुष स्वरका निघात करे। जहाँ केवल मृदु स्वरित हो, वहाँ निघात न करे। आचार्य-कर्म पाँच प्रकारका होता है—मुख, न्यास, करण, प्रतिज्ञा तथा उच्चारण। इस विषयमें कहते हैं, सप्रतिज्ञ उच्चारण ही श्रेय है। जिस किसी भी वर्णका करण (शिक्षादि शास्त्र) नहीं उपलब्ध होता हो, वहाँ प्रतिज्ञा (गुरुपरम्परागत निश्चय)-का निर्वाह करना चाहिये; क्योंकि करण प्रतिज्ञारूप ही है। नारद! तुम, तुम्बुरु, वसिष्ठजी तथा विश्वावसु आदि गन्धर्व भी सामके विषयमें शिक्षाशास्त्रोक्त सम्पूर्ण लक्षणोंको स्वरकी सूक्ष्मताके कारण नहीं जान पाते।

जठराग्निकी सदा रक्षा करे। हितकर (पथ्य) भोजन करे। भोजन पच जानेपर उषःकालमें नींदसे उठ जाय और ब्रह्मका चिन्तन करे। शरत्कालमें जो विषुवद्योग (जिस समय दिन-रात बराबर होते हैं) आता है, उसके बीतनेके बाद जबतक वसन्त-ऋतुकी मध्यम रात्रि उपस्थित न हो जाय तबतक वेदोंके स्वाध्यायके लिये उषःकालमें उठना चाहिये। सबोरे उठकर मौनभावसे आम, पलाश, बिल्व, अपामार्ग अथवा शिरीष—इनमेंसे किसी वृक्षकी टहनी लेकर उससे दाँतुन करे। खैर, कदम्ब, करबीर तथा करंजकी भी दाँतुन ग्राह्य है। काँट तथा दूधवाले सभी वृक्ष पवित्र और यशस्वी माने गये हैं। उनकी दाँतुनसे इस पुरुषकी वाक्-इन्द्रियमें सूक्ष्मता (कफकी कमी होकर सरलतापूर्वक शब्दोच्चारणकी शक्ति)

तथा मधुरता (मीठी आवाज) आती है। वह व्यक्ति प्रत्येक वर्णका स्पष्ट उच्चारण कर लेता है, जैसी कि 'प्राचीनौदवज्ञि' नामक आचार्यकी मान्यता है। शिष्यको चाहिये वह नमकके साथ सदा त्रिफलाचूर्ण भक्षण करे। यह त्रिफला जठराग्निको प्रज्वलित करनेवाली तथा मेधा (धारणशक्ति)-को बढ़ानेवाली है। स्वर और वर्णके स्पष्ट उच्चारणमें भी सहयोग करनेवाली है। पहले जठरानलकी उपासना अर्थात्—मल-मूत्रादिका त्याग करके आवश्यक धर्मों (दाँतुन, स्नान, संध्योपासन) का अनुष्ठान करनेके अनन्तर मधु और घी पीकर शुद्ध हो वेदका पाठ करे। पहले सात मन्त्रोंको उपांशुभावसे (बिना स्पष्ट बोले) पढ़े, उसके बाद मन्द्रस्वरमें वेदपाठ आरम्भ करके यथेष्ट स्वरमें मन्त्रोच्चारण करे। यह सब शाखाओंके लिये विधि है। प्रातःकाल ऐसी वाणीका उच्चारण न करे, जो प्राणोंका उपरोध करती हो; क्योंकि प्राणोपरोधसे वैस्वर्य (विपरीत स्वरका उच्चारण) हो जाता है। इतना ही नहीं, उससे स्वर और व्यञ्जनका माधुर्य भी लुप्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है। कुतीर्थसे प्राप्त हुई दग्ध (अपवित्र) वस्तुको जो दुर्जन पुरुष खा लेते हैं, उनका उसके दोषसे उद्धार नहीं होता—ठीक उसी तरह, जैसे पापरूप सर्पके विषसे जीवनकी रक्षा नहीं हो पाती। इसी प्रकार कुतीर्थ (बुरे अध्यापक)—से प्राप्त हुआ जो दग्ध (निष्फल) अध्ययन है, उसे जो लोग अशुद्ध वर्णोंके उच्चारणपूर्वक भक्षण (ग्रहण) करते हैं, उनका पापरूपी सर्पके विषकी भाँति पापी उपाध्यायसे मिले हुए उस कुत्सित अध्ययनके दोषसे छुटकारा नहीं होता। उत्तम आचार्यसे प्राप्त अध्ययनको ग्रहण करके अच्छी तरह अभ्यासमें लाया जाय तो वह शिष्यमें सुप्रतिष्ठित होता है

और उसके द्वारा सुन्दर मुख एवं शोभन स्वरसे उच्चारित वेदकी बड़ी शोभा होती है। जो नाक, आँख, कान आदिके विकृत होनेसे विकराल दिखायी देता है, जिसके ओठ लंबे-लंबे हैं, जो सब बात नाकसे ही बोलता है, जो गद्द-कण्ठसे बोलता है अथवा जिसकी जीभ बँधी-सी रहती है अर्थात् जो रुक-रुककर बोलता है, वह वेदमन्त्रोंके प्रयोगका अधिकारी नहीं है। जिसका चित्त एकाग्र है, अन्तःकरण वशमें है और जिसके दाँत तथा ओष्ठ सुन्दर हैं, ऐसा व्यक्ति यदि स्नानसे शुद्ध हो गाना छोड़ दे तो वह मन्त्राक्षरोंका ठीक प्रयोग कर सकता है। जो अत्यन्त क्रोधी, स्तब्ध, आलसी तथा रोगी हैं और जिनका मन इधर-उधर फैला हुआ है, वे पाँच प्रकारके मनुष्य विद्या ग्रहण नहीं कर पाते। विद्या धीरे-धीरे पढ़ी जाती है। धन धीरे-धीरे कमाया जाता है, पर्वतपर धीरे-धीरे चढ़ना चाहिये। मार्गका अनुसरण भी धीरे-धीरे ही करे और एक दिनमें एक योजनसे अधिक न चले। चीटी धीरे-धीरे चलकर सहस्रों योजन चली जाती है। किंतु गरुड़ भी यदि चलना शुरू न करे तो वह एक पग भी आगे नहीं जा सकता। पापीकी पापदूषित वाणी प्रयोगों (वेदमन्त्रों)-का उच्चारण नहीं कर सकती—ठीक उसी तरह, जैसे बातचीतमें चतुर सुलोचना रमणी बहरेके आगे कुछ नहीं कह सकती*। जो उपांशु (सूक्ष्म) उच्चारण करता है, जो उच्चारणमें जल्दबाजी करता है तथा जो डरता हुआ-सा अध्ययन करता है, वह सहस्र रूपों (शब्दोच्चारण)-के विषयमें सदा संदेहमें ही पड़ा रहता है। जिसने केवल पुस्तकके भरोसे पढ़ा है, गुरुके

समीप अध्ययन नहीं किया है, वह सभामें सम्मानित नहीं होता—वैसे ही, जैसे जारपुरुषसे गर्भ धारण करनेवाली स्त्री समाजमें प्रतिष्ठा नहीं पाती। प्रतिदिन व्यय किये जानेपर अञ्जनकी पर्वतराशिका भी क्षय हो जाता है और दीमकोंके द्वारा थोड़ी-थोड़ी मिट्टीके संग्रहसे भी बहुत ऊँचा वल्मीक बन जाता है, इस दृष्टान्तको सामने रखते हुए दान और अध्ययनादि सत्कर्मोंमें लगे रहकर जीवनके प्रत्येक दिनको सफल बनावे—व्यर्थ न बीतने दे। कीड़े चिकने धूलकणोंसे जो बहुत ऊँचा वल्मीक बना लेते हैं, उसमें उनके बलका प्रभाव नहीं है, उद्योग ही कारण है। विद्याको सहस्रों बार अभ्यासमें लाया जाय और सैकड़ों बार शिष्योंको उसे पढ़ाया जाय, तब वह उसी प्रकार जिह्वाके अग्रभागपर आ जायगी, जैसे जल ऊँचे स्थानसे नीचे स्थानमें स्वयं बह आता है। अच्छी जातिके घोड़े आधी रातमें भी आधी ही नींद सोते हैं अथवा वे आधी रातमें सिर्फ एक पहर सोते हैं, उन्हींकी भाँति विद्यार्थियोंके नेत्रोंमें चिरकालतक निद्रा नहीं ठहरती। विद्यार्थी भोजनमें आसक्त होकर अध्ययनमें विलम्ब न करे। नारीके मोहमें न फँसे। विद्याकी अभिलाषा रखनेवाला छात्र आवश्यकता हो तो गरुड़ और हंसकी भाँति बहुत दूरतक भी चला जाय। विद्यार्थी जनसमूहसे उसी तरह डरे, जैसे सर्पसे डरता है। दोस्ती बढ़ानेके व्यसनको नरक समझकर उससे भी दूर रहे। स्त्रियोंसे उसी तरह बचकर रहे, जैसे राक्षसियोंसे। इस तरह करनेवाला पुरुष ही विद्या प्राप्त कर सकता है। शठ प्रकृतिके मनुष्य विद्यारूप अर्थकी सिद्धि नहीं कर पाते।

* शिक्षा-संग्रहमें जो नारदी-शिक्षा संकलित हुई है, उसमें इस श्लोकका पाठ इस प्रकार है—
न हि पाण्डिता वाणी प्रयोगान् वकुर्मर्हति । वधिरस्येव तल्पस्था विद्यधा वामलोचना ॥

कायर तथा अहंकारी भी विद्या एवं धनका उपार्जन नहीं कर पाते। लोकापवादसे डरनेवाले लोग भी विद्या और धनसे बच्चित रह जाते हैं तथा 'जो आज नहीं कल' करते हुए सदा आगामी दिनकी प्रतीक्षामें बैठे रहते हैं, वे भी न विद्या पढ़ पाते हैं न धन ही लाभ करते हैं। जैसे खनतीसे धरती खोदनेवाला पुरुष एक दिन अवश्य पानी प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार गुरुकी निरन्तर सेवा करनेवाला छात्र गुरुमें स्थित विद्याको अवश्य ग्रहण कर लेता है। गुरुसेवासे

विद्या प्राप्त होती है अथवा बहुत धन व्यय करनेसे उनकी प्राप्ति होती है। अथवा एक विद्या देनेसे दूसरी विद्या मिलती है; अन्यथा उसकी प्राप्ति नहीं होती। यद्यपि बुद्धिके गुणोंसे सेवा किये बिना भी विद्या प्राप्त हो जाती है; तथापि वन्ध्या युक्तीकी भाँति वह सफल नहीं होती। नारद! इस प्रकार मैंने तुमसे शिक्षाग्रन्थका संक्षेपसे वर्णन किया है। इस आदिवेदाङ्गको जानकर मनुष्य ब्रह्मभावकी प्राप्तिके योग्य हो जाता है। (पूर्वभाग—द्वितीय पाद, अध्याय ५०)

वेदके द्वितीय अङ्ग कल्पका वर्णन—गणेशपूजन, ग्रहशान्ति तथा श्राद्धका निरूपण

सनन्दनजी कहते हैं—मुनीश्वर! अब मैं कल्पग्रन्थका वर्णन करता हूँ; जिसके विज्ञानमात्रसे मनुष्य कर्ममें कुशल हो जाता है। कल्प पाँच प्रकारके माने गये हैं—नक्षत्रकल्प, वेदकल्प, संहिताकल्प, आङ्गिरसकल्प और शान्तिकल्प। नक्षत्रकल्पमें नक्षत्रोंके स्वामीका विस्तारपूर्वक यथार्थ वर्णन किया गया है; वह यहाँ भी जानने योग्य है। मुनीश्वर! वेदकल्पमें ऋगादि-विधानका विस्तारसे वर्णन है—जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धिके लिये कहा गया है। संहिताकल्पमें तत्त्वदर्शी मुनियोंने मन्त्रोंके ऋषि, छन्द और देवताओंका निर्देश किया है। आङ्गिरसकल्पमें स्वयं ब्रह्माजीने अभिचार-विधिसे विस्तारपूर्वक छः कर्मोंका वर्णन किया है। मुनिश्रेष्ठ! शान्तिकल्पमें दिव्य, भौम और अन्तरिक्ष-सम्बन्धी उत्पातोंकी पृथक्-पृथक् शान्ति बतायी गयी है। यह संक्षेपसे कल्पके स्वरूपका परिचय दिया गया है, अन्य शाखाओंमें इसका विशेष रूपसे पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया है। द्विजश्रेष्ठ! गृहकल्प

सबके लिये उपयोगी है, अतः इस समय उसीका वर्णन करूँगा। सावधान होकर सुनो। पूर्वकालमें 'अँकार' और 'अथ' शब्द—ये दोनों ब्रह्माजीके कण्ठका भेदन करके निकले थे, अतः ये मङ्गल-सूचक हैं। जो शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करके उन्हें ऊँचे उठाना चाहता है, वह 'अथ' शब्दका प्रयोग करे। इससे वह कर्म अक्षय होता है। परिसमूहनके लिये परिगणित शाखावाले कुश कहे गये हैं, न्यून या अधिक संख्यामें उन्हें ग्रहण करनेपर वे अभीष्ट कर्मको निष्फल कर देते हैं। पृथ्वीपर जो कृमि, कीट और पतंग आदि भ्रमण करते हैं, उनकी रक्षाके लिये परिसमूहन कहा गया है। ब्रह्मन्! वेदीपर जो तीन रेखाएँ कही गयी हैं, उनको बराबर बनाना चाहिये; उन्हें न्यूनाधिक नहीं करना चाहिये; ऐसा ही शास्त्रका कथन है। नारद! यह पृथ्वी मधु और कैटभ नामवाले दैत्योंके मेदेसे व्याप्त है, इसलिये इसे गोबरसे लीपना चाहिये। जो गाय वन्ध्या, दुष्टा, दीनाङ्गी और मृतवत्सा (जिसके बछड़े मर जाते

हों, ऐसी) हो, उसका गोबर यज्ञके कार्यमें नहीं लाना चाहिये, ऐसी शास्त्रकी आज्ञा है। विप्रवर ! जो पतङ्ग आदि भयंकर जीव सदा आकाशमें उड़ते रहते हैं, उनपर प्रहार करनेके लिये वेदीसे मिट्टी उठानेका विधान है। स्तुवाके मूलभागसे अथवा कुशसे वेदीपर रेखा करनी चाहिये। इसका उद्देश्य है अस्थि, कण्टक, तुष-केशादिसे शुद्धि। ऐसा ब्रह्माजीका कथन है। द्विजश्रेष्ठ ! सब देवता और पितर जलस्वरूप हैं, अतः विधिज्ञ ऋषि-मुनियोंने जलसे वेदीका प्रोक्षण करनेकी आज्ञा दी है। सौभाग्यवती स्त्रियोंके द्वारा ही अग्नि लानेका विधान है। शुभदायक मृण्मय पात्रको जलसे धोकर उसमें अग्नि रखकर लानी चाहिये। वेदीपर रखा हुआ अमृतकलश दैत्योंद्वारा हड्डप लिया गया, यह देखकर ब्रह्मा आदि सब देवताओंने वेदीकी रक्षाके लिये उसपर समिधासहित अग्निकी स्थापना की। नारद ! यज्ञसे दक्षिण दिशामें दानव आदि स्थित होते हैं; अतः उनसे यज्ञकी रक्षाके लिये ब्रह्माको यज्ञवेदीसे दक्षिण दिशामें स्थापित करना चाहिये। नारद ! उत्तर दिशामें प्रणीता-प्रोक्षणी आदि सब यज्ञपात्र रखे। पश्चिममें यजमान रहे और पूर्वदिशामें सब ब्राह्मणोंको रहना चाहिये। जुएमें, व्यापारमें और यज्ञकर्ममें यदि कर्ता उदासीनचित्त हो जाय तो उसका वह कर्म नष्ट हो जाता है—यही वास्तविक स्थिति है। यज्ञकर्ममें अपनी ही शाखाके विद्वान् ब्राह्मणोंको ब्रह्मा और आचार्य बनाना चाहिये। अन्य ऋत्विजोंके लिये कोई नियम नहीं है, यथालाभ उनका पूजन करना चाहिये। तीन-तीन अंगुलकी दो पवित्री होनी चाहिये। चार अंगुलकी एक प्रोक्षणी, तीन अंगुलकी एक आज्यस्थाली और छः अंगुलकी चरुस्थाली होनी चाहिये। दो अंगुलका एक उपयमन कुश और एक अंगुलका सम्मार्जन कुश

रखे। स्तुव छः अंगुलका और स्तुच साढ़े तीन अंगुलका बताया गया है। समिधाएँ प्रादेशमात्र (अँगूठेसे लेकर तर्जनीके शिरोभागतके नापकी) हों। पूर्णपात्र छः अंगुलका हो। प्रोक्षणीके उत्तर भागमें प्रणीता-पात्र रहे और वह आठ अंगुलका हो। जो कोई भी तीर्थ (सरोवर), समुद्र और सरिताएँ हैं, वे सब प्रणीता-पात्रमें स्थित होते हैं; अतः उसे जलसे भर दे। द्विजश्रेष्ठ ! वस्त्रहीन वेदी नग्न कही जाती है; अतः विद्वान् पुरुष उसके चारों ओर कुश बिछाकर उसके ऊपर अग्निस्थापन करे। इन्द्रका वत्र, विष्णुका चक्र और महादेवजीका त्रिशूल—ये तीनों कुशरूपसे तीन 'पवित्रच्छेदन' बनते हैं। पवित्रीसे ही प्रोक्षणीको प्रणीताके जलसे संयुक्त करना चाहिये। अतः पवित्र-निर्माण अत्यन्त पुण्यदायक कर्म कहा गया है। आज्यस्थाली पलमात्रकी बनानी चाहिये। कुम्हारके चाकपर गढ़ा हुआ मिट्टीका पात्र 'आसुर' कहा गया है। वही हाथसे बनाया हुआ—स्थालीपात्र आदि हो तो उसे 'दैविक' माना गया है। स्तुवसे शुभ और अशुभ सभी कर्म होते हैं। अतः उसकी पवित्रताके लिये उसे अग्निमें तपानेका विधान है। स्तुवको यदि अग्रभागकी ओरसे थाम लिया जाय तो स्वामीकी मृत्यु होती है। मध्यमें पकड़ा जाय तो प्रजा एवं संततिका नाश होता है और मूलभागमें उसे पकड़नेसे होताकी मृत्यु होती है; अतः विचार कर उसे हाथमें धारण करना चाहिये। अग्नि, सूर्य, सोम, विरञ्जि (ब्रह्माजी), वायु तथा यम—ये छः देवता स्तुवके एक-एक अंगुलमें स्थित हैं। अग्नि भोग और धनका नाश करनेवाले हैं, सूर्य रोगकारक होते हैं। चन्द्रमाका कोई फल नहीं है। ब्रह्माजी सब कामना देनेवाले हैं, वायुदेव वृद्धिदाता हैं और यमराज मृत्युदायक माने गये हैं (अतः स्तुवको मूलभागकी ओर तीन

अंगुल छोड़कर चौथे-पाँचवें अंगुलपर पकड़ना चाहिये)। सम्मार्जन और उपयमन नामक दो कुश बनाने चाहिये। इनमेंसे सम्मार्जन कुश सात शाखा (कुश)-का और उपयमन कुश पाँचका होता है। स्रुव तथा स्रुक्-निर्माण करनेके लिये श्रीपर्णी (गंभारी), शमी, खदिर, विकङ्कृत (कँटाई) और पलाश—ये पाँच प्रकारके काष्ठ शुभ जानने चाहिये। हाथभरका स्रुवा उत्तम माना गया है और तीस अंगुलका स्रुक्। यह ब्राह्मणोंके स्रुव और स्रुक्के विषयमें बताया गया है; अन्य वर्णवालोंके लिये एक अंगुल छोटा रखनेका विधान है। नारद! शूद्रों, पतितों तथा गर्दभ आदि जीवोंके दृष्टि-दोषका निवारण करनेके लिये सब पात्रोंके प्रोक्षणकी विधि है। विप्रवर! पूर्णपात्र-दान किये बिना यज्ञमें छिद्र उत्पन्न हो जाता है और पूर्णपात्रकी विधि कर देनेपर यज्ञकी पूर्ति हो जाती है। आठ मुद्गीका 'किञ्चित्' होता है, चार किञ्चित्का 'पुष्कल' होता है और चार पुष्कलका एक 'पूर्णपात्र' होता है, ऐसा विद्वानोंका मत है। होमकाल प्राप्त होनेपर अन्यत्र कहीं आसन नहीं देना चाहिये। दिया जाय तो अग्निदेव अतृप्त होते और दारुण शाप देते हैं। 'आधार' नामकी दो आहुतियाँ अग्निदेवकी नासिका कही गयी हैं। 'आज्यभाग' नामवाली दो आहुतियाँ उनके नेत्र हैं। 'प्राजापत्य' आहुतिको मुख कहा गया है और व्याहृति होमको कटिभाग बताया गया है। पञ्चवारुण होमको दो हाथ, दो पैर और मस्तक कहते हैं। विप्रवर! 'स्वष्टकृत्' होम तथा पूर्णाहुति—ये दो आहुतियाँ दोनों कान हैं। अग्निदेवके दो मुख, एक हृदय, चार कान, दो नाक, दो मस्तक, छः नेत्र, पिङ्गल वर्ण और सात जिह्वाएँ हैं। उनके वाम-भागमें तीन और दक्षिण-भागमें चार हाथ हैं। स्रुक्, स्रुवा, अक्षमाला और शक्ति—ये सब

उनके दाहिने हाथोंमें हैं। उनके तीन मेखला और तीन पैर हैं। वे घृतपात्र लिये हुए हैं। दो चँवर धारण करते हैं। भेड़पर चढ़े हुए हैं। उनके चार सींग हैं। बालसूर्यके समान उनकी अरुण कान्ति है। वे यज्ञोपवीत धारण करके जटा और कुण्डलोंसे सुशोभित हैं। इस प्रकार अग्निके स्वरूपका ध्यान करके होमकर्म प्रारम्भ करे। दूध, दही, घी और घृतपक्ष या तैलपक्ष पदार्थका जो हाथसे हवन करता है, वह ब्राह्मण ब्रह्महत्यारा होता है (इन सबका स्रुवासे होम करना चाहिये)। मनुष्य जो अन्न खाता है, उसके देवता भी वही अन्न खाते हैं। सप्पूर्ण कामनाओंकी सिद्धिके लिये हविष्यमें तिलका भाग अधिक रखना उत्तम माना गया है। होममें तीन प्रकारकी मुद्राएँ बतायी गयी हैं—मृगी, हंसी और सूकरी। अभिचार-कर्ममें सूकरी-मुद्राका उपयोग होता है और शुभकर्ममें मृगी तथा हंसी नामवाली मुद्राएँ उपयोगमें लायी जाती हैं। सब अंगुलियोंसे सुकरी-मुद्रा बनती है। हंसी-मुद्रामें कनिष्ठिका अंगुलि मुक्त रहती है और मृगी नामवाली मुद्रा केवल मध्यमा, अनामिका और अङ्गुष्ठद्वारा सम्पन्न होनेवाली कही गयी है। पूर्वोक्त प्रमाणवाली आहुतिको पाँचों अंगुलियोंसे लेकर उसके द्वारा अन्य ऋत्विजोंके साथ हवन करे। हवन-सामग्रीमें दही, मधु और घी मिलाया हुआ तिल होना चाहिये। पुण्यकर्मोंमें संलग्न होनेपर अपनी अनामिका अंगुलियमें कुशोंकी पवित्री अवश्य धारण करनी चाहिये।

भगवान् रुद्र और ब्रह्माजीने गणेशजीको 'गणपति' पदपर बिठाया और कर्मोंमें विष्व डालनेका कार्य उन्हें सौंप रखा है। वे विष्वेश विनायक जिसपर सवार होते हैं, उस पुरुषके लक्षण सुनो। वह स्वप्रमें बहुत अगाध जलमें

प्रवेश कर जाता है, मूँड़ मुड़ाये मनुष्योंको तथा गेरुआ वस्त्र धारण करनेवाले पुरुषोंको देखता है। कच्चा मांस खानेवाले गृध्र आदि पक्षियों तथा व्याघ्र आदि पशुओंपर चढ़ता है। एक स्थानपर चाण्डालों, गदहों और ऊँटोंके साथ उनसे धिरा हुआ बैठता है। चलते समय भी अपने-आपको शत्रुओंसे अनुगत मानता है—उसे ऐसा भान होता है कि शत्रु मेरा पीछा कर रहे हैं। (जाग्रत्-अवस्थामें भी) उसका चित्त विक्षिप्त रहता है। उसके द्वारा किये हुए प्रत्येक कार्यका आरम्भ निष्फल होता है। वह अकारण खिन्न रहता है। विघ्नराजका सताया हुआ मनुष्य राजाका पुत्र होकर भी राज्य नहीं पाता। कुमारी कन्या अनुकूल पति नहीं पाती, विवाहिता स्त्रीको अभीष्ट पुत्रकी प्राप्ति नहीं होती। श्रोत्रियको आचार्यपद नहीं मिलता, शिष्य स्वाध्याय नहीं कर पाता, वैश्यको व्यापारमें और किसानको खेतीमें लाभ नहीं हो पाता।

ऐसे पुरुषको किसी पवित्र दिन एवं शुभ मुहूर्तमें विधिपूर्वक स्नान कराना चाहिये। पीली सरसों पीसकर उसे धीसे ढीला करे और उस मनुष्यके शरीरमें उसीका उबटन लगाये। प्रियङ्कु, नागकेसर आदि सब प्रकारकी ओषधियों और चन्दन, अगुरु, कस्तूरी आदि सब प्रकारकी सुगन्धित वस्तुओंको उसके मस्तकमें लगाये। फिर उसे भद्रासनपर बिठाकर उसके लिये ब्राह्मणोंसे शुभ स्वस्तिवाचन (पुण्याहवाचन) कराये। अश्वशाला, गजशाला, वल्मीक (बाँबी), नदीसङ्गम

तथा जलाशयसे लायी हुई पाँच प्रकारकी मिट्टी, गोरोचन, गन्ध (चन्दन, कुंकुम, अगुरु आदि) और गुग्गुल—ये सब वस्तुएँ जलमें छोड़े और उसी जलमें छोड़े, जो गहरे और कभी न सूखनेवाले जलाशयसे एक रंगके चार नये कलशोंद्वारा लाया गया हो। तदनन्तर लाल रंगके वृषभचर्मपर भद्रासन* स्थापित करे। (इसी भद्रासनपर यजमानको बैठाकर ब्राह्मणोंसे पूर्वोक्त स्वस्तिवाचन कराना चाहिये। इसके सिवा स्वस्तिवाचनके अनन्तर जिनके पति और पुत्र जीवित हों, ऐसी सुवेशधारिणी स्त्रियोंद्वारा मङ्गल-गान कराते हुए पूर्वदिशावर्ती कलशको लेकर आचार्य निप्राङ्कित मन्त्रसे यजमानका अभिषेक करे—)

सहस्राक्षं शतधारमृषिभिः पावनं कृतम्।

तेन त्वामभिषिञ्चामि पावमान्यः पुनन्तु ते॥

‘जो सहस्रों नेत्रों (अनेक प्रकारकी शक्तियों)-से युक्त हैं, जिसकी सैकड़ों धाराएँ (बहुत-से प्रवाह) हैं और जिसे महर्षियोंने पावन बनाया है, उस पवित्र जलसे मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूँ। पावमानी ऋचाएँ तथा यह पवित्र जल तुम्हें पवित्र करें (और विनायकजनित विघ्नकी शान्ति हो)।’

(तदनन्तर दक्षिण दिशामें स्थित द्वितीय कलश लेकर नीचे लिखे मन्त्रको पढ़ते हुए अभिषेक करे—)

भगं ते वरुणो राजा भगं सूर्यो बृहस्पतिः।

भगमिन्दश्च वायुश्च भगं समर्थयो ददुः॥

‘राजा वरुण, सूर्य, बृहस्पति, इन्द्र, वायु तथा

*पूर्वोक्त गन्ध-औषधादिसहित चार कलशोंमें आग्र आदिके पल्लव रखकर उनके कण्ठमें माला पहनाये, उन्हें चन्दनसे चर्चित करे और नूतन वस्त्रसे विभूषित करके उन कलशोंको पूर्वादि चारों दिशाओंमें स्थापित कर दे। फिर पवित्र एवं लिपी-पुती वेदीपर पाँच रंगोंसे स्वस्तिक बनाकर लाल रंगका वृषभचर्म, जिसका लोम उत्तरकी ओर तथा ग्रीवा पूर्वकी ओर हो, बिछाये और उसके ऊपर श्वेत वस्त्रसे आच्छादित काष्ठनिर्मित आसन रखे। यही भद्रासन है।

सप्तर्षिगण तुम्हें कल्याण प्रदान करें।'

(फिर तीसरा पश्चिम कलश लेकर निम्नाङ्कित मन्त्रसे अभिषेक करे—)

यत्ते केशेषु दौर्भाग्यं सीमन्ते यच्च मूर्धनि।

ललाटे कर्णयोरक्षणोरापस्तद् घन्तु सर्वदा॥

'तुम्हारे केशोंमें, सीमन्तमें, मस्तकपर, ललाटमें, कानोंमें और नेत्रोंमें भी जो दुर्भाग्य (या अकल्याण) है, वह सब सदाके लिये जल शान्त कर दे।'

(तत्पश्चात् चौथा कलश लेकर पूर्वोक्त तीनों मन्त्र पढ़कर अभिषेक करे। इस प्रकार स्थान करनेवाले यजमानके मस्तकपर बायें हाथमें लिये हुए कुशोंको रखकर उसपर गूलरकी सुवासे सरसोंका तेल उठाकर डाले, उस समय निम्नाङ्कित मन्त्र पढ़े—) 'ॐ मिताय स्वाहा। ॐ संमिताय स्वाहा। ॐ शालाय स्वाहा। ॐ कटंकटाय स्वाहा। ॐ कूष्माण्डाय स्वाहा। ॐ राजपुत्राय स्वाहा।' मस्तकपर होमके पश्चात् लौकिक अग्निमें भी स्थालीपाककी विधिसे चरु तैयार करके उक्त छः मन्त्रोंसे ही उसी अग्निमें हवन करे। फिर होमशेष चरुद्वारा बलिमन्त्रोंको पढ़कर इन्द्रादि दिक्पालोंको बलि भी अर्पित करे। तत्पश्चात् कृताकृत आदि उपहार-द्रव्य भगवान् विनायकको अर्पित करके उनके समीप रहनेवाली माता पार्वतीको भी उपहार भेंट करे। फिर पृथ्वीपर मस्तक रखकर 'तत्पुरुषाय विद्धहे। वक्रतुण्डाय धीमहि। तत्रो दन्ती प्रचोदयात्।' इस मन्त्रसे गणेशजीको और 'सुभगायै विद्धहे। काममालिन्यै धीमहि। तत्रो गौरी प्रचोदयात्।' इस मन्त्रसे अम्बिकादेवीको नमस्कार करे। फिर गणेशजननी अम्बिकाका उपस्थान करे। उपस्थानसे पूर्व फूल और जलसे अर्ध्य देकर दूर्वा, सरसों और पुष्पसे पूर्ण अञ्जलि अर्पण करे। (उपस्थानका मन्त्र इस प्रकार है—)

रूपं देहि यशो देहि भगं भगवति देहि मे।

पुत्रान् देहि धनं देहि सर्वकामांशु देहि मे॥

'भगवति! मुझे रूप दो, यश दो, कल्याण प्रदान करो, पुत्र दो, धन दो और सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करो।'

पार्वतीजीका उपस्थान करके धूप, दीप, गन्ध, माल्य, अनुलेप और नैवेद्य आदिके द्वारा उमापति श्रीभगवान् शङ्करकी पूजा करे। तदनन्तर श्वेत वस्त्र धारण करके श्वेत चन्दन और मालासे अलंकृत हो ब्राह्मणोंको भोजन कराये और गुरुको भी दक्षिणासहित दो वस्त्र अर्पित करे।

इस प्रकार विनायककी पूजा करके लक्ष्मी, शान्ति, पुष्टि, वृद्धि तथा आयुकी इच्छा रखनेवाले वीर्यवान् पुरुषको ग्रहोंकी भी पूजा करनी चाहिये। सूर्य, सोम, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु—इन नवों ग्रहोंकी क्रमशः स्थापना करनी चाहिये। सूर्यकी प्रतिमा ताँबेसे, चन्द्रमाकी रजत (या स्फटिक)-से, मङ्गलकी लाल चन्दनसे, बुधकी सुवर्णसे, गुरुकी सुवर्णसे, शुक्रकी रजतसे, शनिकी लोहेसे तथा राहु-केतुकी सीसेसे बनाये, इससे शुभकी प्राप्ति होती है। अथवा वस्त्रपर उनके-उनके रंगके अनुसार वर्णकसे उनका चित्र अঙ्कित कर लेना चाहिये। अथवा मण्डल बनाकर उनमें गन्ध (चन्दन-कुंकुम आदि)-से ग्रहोंकी आकृति बना ले। ग्रहोंके रंगके अनुसार ही उन्हें फूल और वस्त्र भी देने चाहिये। सबके लिये गन्ध, बलि, धूप और गुग्गुल देना चाहिये। प्रत्येक ग्रहके लिये (अग्निस्थापनपूर्वक) समन्त्रक चरुका होम करना चाहिये। 'आ कृष्णेन रजसा०' इत्यादि सूर्य देवताके, 'इमं देवाः०' इत्यादि चन्द्रमाके, 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत०' इत्यादि मङ्गलके, 'उद्बुध्यस्व०' इत्यादि मन्त्र बुधके, 'बृहस्पते अति यदर्यः०' इत्यादि मन्त्र बृहस्पतिके,

‘अन्नात् परिस्तुतो०’ इत्यादि मन्त्र शुक्रके, ‘शन्नो देवी०’ इत्यादि मन्त्र शनैश्चरके, ‘काण्डात् काण्डात्०’ इत्यादि मन्त्र राहुके और ‘केतुं कृणवनकेतवे०’ इत्यादि मन्त्र केतुके हैं। आक, पलाश, खैर, अपामार्ग, पीपल, गूलर, शमी, दूर्वा और कुशा—ये क्रमशः सूर्य आदि ग्रहोंकी समिधा हैं। सूर्यादि ग्रहोंमेंसे प्रत्येकके लिये एक सौ आठ या अट्टाईस बार मधु, घी, दही अथवा खीरकी आहुति देनी चाहिये। गुड़ मिलाया हुआ भात, खीर, हविष्य (मुनि-अन्न), दूध मिलाया हुआ साठीके चावलका भात, दही-भात, घी-भात, तिलचूर्णमिश्रित भात, माष (उड्ड) मिलाया हुआ भात और खिचड़ी—इनको ग्रहके क्रमानुसार विद्वान् पुरुष ब्राह्मणके लिये भोजन दे। अपनी शक्तिके अनुसार यथाप्राप्त वस्तुओंसे ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक सत्कार करके उनके लिये क्रमशः धेनु, शङ्ख, बैल, सुवर्ण, वस्त्र, अश्व, काली गौ, लोहा और बकरा—ये वस्तुएँ दक्षिणामें दे। ये ग्रहोंकी दक्षिणाएँ बतायी गयी हैं। जिस-जिस पुरुषके लिये जो ग्रह जब अष्टम आदि दुष्ट स्थानोंमें स्थित हो, वह पुरुष उस ग्रहकी उस समय विशेष यज्ञपूर्वक पूजा करे। ब्रह्माजीने इन ग्रहोंको वर दिया है कि ‘जो तुम्हारी पूजा करें, उनकी तुम भी पूजा (मनोरथपूर्तिपूर्वक सम्मान) करना। राजाओंके धन और जातिका उत्कर्ष तथा जगत्की जन्म-मृत्यु भी ग्रहोंके ही अधीन है; अतः ग्रह सभीके लिये पूजनीय हैं। जो सदा सूर्यदेवकी पूजा एवं स्कन्दस्वामीको तथा महागणपतिको तिलक करता है, वह सिद्धिको प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, उसे प्रत्येक कर्ममें सफलता एवं उत्तम लक्ष्मीकी

प्राप्ति होती है। जो मातृयाग किये बिना ग्रहपूजन करता है, उसपर मातृकाएँ कुपित होती हैं और उसके प्रत्येक कार्यमें विघ्न डालती हैं। शुभकी इच्छा रखनेवाले मनुष्योंको ‘वसोः पवित्रम्०’ इस मन्त्रसे वसुधारा समर्पित करके प्रत्येक माझलिक कर्ममें गौरी आदि मातृकाओंकी पूजा करनी चाहिये। उनके नाम ये हैं—गौरी, पद्मा, शची, मेधा, सावित्री, विजया, जया, देवसेना, स्वधा, स्वाहा, मातृकाएँ, वैधृति, धृति, पुष्टि, हष्टि और तुष्टि। इनके साथ अपनी कुलदेवी और गणेशजी अधिक हैं। वृद्धिके अवसरोंपर इन सोलह मातृकाओंकी अवश्य पूजा करनी चाहिये। इन सबकी प्रसन्नताके लिये क्रमशः आवाहन, पाद्य, अर्घ्य, (आचमनीय), स्नान, (वस्त्र), चन्दन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, फल, नैवेद्य, आचमनीय, ताम्बूल, पूरीफल, आरती तथा दक्षिणा—ये उपचार समर्पित करने चाहिये।

अब मैं पितृकल्पका वर्णन करूँगा, जो धन और संततिकी वृद्धि करनेवाला है। अमावस्या, अष्टका, वृद्धि (विवाहादिका अवसर), कृष्णपक्ष, दोनों अयनोंके आरम्भका दिन, श्राद्धीय द्रव्यकी उपस्थिति, उत्तम ब्राह्मणकी प्राप्ति, विषुवत् योग, सूर्यकी संक्रान्ति, व्यतीपात् योग, गजच्छाया, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण तथा श्राद्धके लिये रुचिका होना—ये सभी श्राद्धके समय अथवा अवसर कहे गये हैं। सम्पूर्ण वेदोंके ज्ञानमें अग्रगण्य, श्रोत्रिय, ब्रह्मवेत्ता, युवक, मन्त्र और ब्राह्मणरूप वेदका तत्त्वज्ञ, ज्येष्ठ सामका गान करनेवाला, त्रिमधु^१, त्रिसुपर्ण^२, भानजा, ऋत्विक् जामाता, यजमान, श्वशुर, मामा, त्रिणाचिकेत^३, दौहित्र,

१. ‘मधु वाता०’ इत्यादि तीन ऋचाओंका जप और तदनुकूल व्रतका आचरण करनेवाला। २. त्रिसौपर्णी ऋचाओंका अध्येता और तत्सम्बन्धी व्रतका पालन करनेवाला। ३. त्रिणाचिकेत-संज्ञक त्रिविध अग्निविद्याको जाननेवाला और तदनुकूल व्रतका पालक।

शिष्य, सम्बन्धी, बान्धव, कर्मनिष्ठ, तपोनिष्ठ, पञ्चाग्रिसेवी*, ब्रह्मचारी तथा पिता-माताके भक्त ब्राह्मण श्राद्धकी सम्पत्ति हैं। रोगी, न्यूनाङ्ग, अधिकाङ्ग, काना, पुनर्भूकी संतान, अवकीर्ण (ब्रह्मचर्य-आश्रममें रहते हुए ब्रह्मचर्य भंग करनेवाला), कुण्ड (पतिके जीते-जी पर-पुरुषसे उत्पन्न की हुई संतान), गोलक (पतिकी मृत्युके बाद जारज संतान), खराब नखवाला, काले दाँतवाला, वेतन लेकर पढ़ानेवाला, नपुंसक, कन्याको कलङ्घित करनेवाला, स्वयं जिसपर दोषारोपण किया गया हो वह, मित्र-द्रोही, चुगलखोर, सोमरस बेचनेवाला, बड़े भाईके अविवाहित रहते विवाह करनेवाला, माता, पिता और गुरुका त्याग करनेवाला, कुण्ड और गोलकका अन्न खानेवाला, शूद्रसे उत्पन्न, एक पतिको छोड़कर आयी हुई स्त्रीका पति, चोर और कर्मभ्रष्ट—ये ब्राह्मण श्राद्धमें निन्दित हैं (अतः इनका त्याग करना चाहिये)।

श्राद्धकर्ता पुरुष मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर, पवित्र हो, श्राद्धसे एक दिन पहले ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करे। उन ब्राह्मणोंको भी उसी समयसे मन, वाणी, शरीर तथा क्रियाद्वारा पूर्ण संयमशील रहना चाहिये। श्राद्धके दिन अपराह्नकालमें आये हुए ब्राह्मणोंका स्वागतपूर्वक पूजन करे। स्वयं हाथमें कुशकी पवित्री धारण किये रहे। जब ब्राह्मणलोग आचमन कर लें, तब उन्हें आसनपर बिठाये। देवकार्यमें अपनी शक्तिके अनुसार युग्म (दो, चार, छः आदि संख्यावाले) ब्राह्मणोंको और श्राद्धमें अयुग्म (एक, तीन, पाँच, आदि संख्यावाले) ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करे। सब ओरसे घिरे हुए गोबर आदिसे लिपे-पुते पवित्र स्थानमें, जहाँ दक्षिण दिशाकी ओर

भूमि कुछ नीची हो, श्राद्ध करना चाहिये। वैश्वदेव-श्राद्धमें दो ब्राह्मणोंको पूर्वाभिमुख बिठाये और पितृकार्यमें तीन ब्राह्मणोंको उत्तराभिमुख। अथवा दोनोंमें एक-एक ब्राह्मणको ही सम्मिलित करे। मातामहोंके श्राद्धमें भी ऐसा ही करना चाहिये। अर्थात् दो वैश्वदेव-श्राद्धमें और तीन मातामहादि श्राद्धमें अथवा उभयपक्षमें एक-ही-एक ब्राह्मण रखे।

वैश्वदेव-श्राद्धके लिये ब्राह्मणका हाथ धुलानेके निमित्त उसके हाथमें जल दे और आसनके लिये कुश दे। फिर ब्राह्मणसे पूछे—‘मैं विश्वेदेवोंका आवाहन करना चाहता हूँ।’ तब ब्राह्मण आज्ञा दें—‘आवाहन करो।’ इस प्रकार उनकी आज्ञा पाकर ‘विश्वेदेवास आगत०’ इत्यादि ऋचा पढ़कर विश्वेदेवोंका आवाहन करे। तब ब्राह्मणके समीपकी भूमिपर जौ बिखेरे। फिर पवित्रीयुक्त अर्घ्यपात्रमें ‘शं नो देवी०’ इस मन्त्रसे जल छोड़े, ‘यवोऽसि०’ इत्यादिसे जौ डाले, फिर बिना मन्त्रके ही गन्ध और पुष्प भी छोड़ दे। तत्पश्चात् ‘या दिव्या आपः०’ इस मन्त्रसे अर्घ्यको अभिमन्त्रित करके ब्राह्मणके हाथमें संकल्पपूर्वक अर्घ्य दे और कहे—‘अमुकश्राद्धे विश्वेदेवाः इदं वो हस्तार्घ्य नमः।’ यों कहकर वह अर्घ्यजल कुशयुक्त ब्राह्मणके हाथमें या कुशापर गिरा दे। तत्पश्चात् हाथ धोनेके लिये जल देकर क्रमशः गन्ध, पुष्प, धूप, दीप तथा आच्छादन वस्त्र अर्पण करे; पुनः हस्तशुद्धिके लिये जल दे। (विश्वेदेवोंको जो कुछ भी दे, सव्यभावसे उत्तराभिमुख होकर दे और पितरोंको प्रत्येक वस्तु अपसव्यभावसे दक्षिणाभिमुख होकर देनी चाहिये)।

वैश्वदेवकाण्डके अनन्तर यज्ञोपवीत अपसव्य

*सभ्य, आवस्थ्य तथा त्रिणाचिकेत—इन पाँच अग्नियोंका उपासक।

करके पिता आदि तीनके लिये तीन द्विगुण-भुग्र कुशोंको उनके आसनके लिये अप्रदक्षिण-क्रमसे दे। फिर पूर्ववत् ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेकर 'उशन्तस्त्वाऽ' इत्यादि मन्त्रसे पितरोंका आवाहन करके 'आयन्तु नः०' इत्यादिका जप करे। 'अपहता असुरा रक्षाऽसि वेदिषदः०' यह मन्त्र पढ़ कर सब और तिल बिखेरे। वैश्वदेव-श्राद्धमें जो कार्य जौसे किया जाता है, वही पितृश्राद्धमें तिलसे करना चाहिये। अर्घ्य आदि पूर्ववत् करे। संस्तव (ब्राह्मणके हाथसे चुए हुए जल) पितृपात्रमें ग्रहण करके भूमिपर दक्षिणाग्र कुश रखकर उसके ऊपर उस पात्रको अधोमुख करके ढुलका दे और कहे 'पितृभ्यः स्थानमसि।' फिर उसके ऊपर अर्घ्यपात्र और पवित्रक आदि रखकर गन्ध, पुष्प, धूप, दीप आदि पितरोंको निवेदित करे।

इसके बाद 'अग्नौ करण' कर्म करे। घीसे तर किया हुआ अन्न लेकर ब्राह्मणोंसे पूछे— 'अग्नौ करिष्ये' (मैं अग्निमें इसकी आहुति देना चाहता हूँ)। तब ब्राह्मण इसके लिये आज्ञा दें। इस प्रकार आज्ञा लेकर वह पिण्डपितृयज्ञकी भाँति उस अन्नकी दो आहुति दे (उस समय ये दो मन्त्र क्रमशः पढ़े—अग्रये कव्यवाहनाय स्वाहा नमः। सोमाय पितृमते स्वाहा नमः)। फिर होमशेष अन्नको एकाग्रचित्त होकर यथाप्राप्त पात्रोंमें—विशेषतः चाँदीके पात्रोंमें परोसे। इस प्रकार अन्न परोसकर 'पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानम्०' इत्यादि मन्त्र पढ़कर पात्रको अभिमन्त्रित करे। फिर 'इदं विष्णु०' इत्यादि मन्त्रका उच्चारण करके अन्नमें ब्राह्मणके अँगूठेका स्पर्श कराये। तदनन्तर तीनों व्याहतियोंसहित गायत्रीमन्त्र तथा 'मधु वाताऽ' इत्यादि तीन ऋचाओंका जप करे और ब्राह्मणोंसे कहे—'आप सुखपूर्वक अन्न ग्रहण करें।' फिर वे ब्राह्मण भी मौन होकर प्रसन्नतापूर्वक भोजन करें।

उस समय यजमान क्रोध और उतावलीको त्याग दे और जबतक ब्राह्मणलोग पूर्णतः तृप्त न हो जायें, तबतक पूछ-पूछकर प्रिय अन्न और हविष्य उन्हें परोसता रहे। उस समय पूर्वोक्त मन्त्रोंका तथा पावमानी आदि ऋचाओंका जप या पाठ करते रहना चाहिये। तत्पश्चात् अन्न लेकर ब्राह्मणोंसे पूछे—'क्या आप पूर्ण तृप्त हो गये?' ब्राह्मण कहें—'हाँ, हम तृप्त हो गये।' यजमान फिर पूछे—'शेष अन्न क्या किया जाय?' ब्राह्मण कहें—'इष्टजनोंके साथ भोजन करो।' उनकी इस आज्ञाको 'बहुत अच्छा' कहकर स्वीकार करे। फिर हाथमें लिये हुए अन्नको ब्राह्मणोंके आगे उनकी जूठनके पास ही दक्षिणाग्र कुश भूमिपर रखकर उन कुशोंपर तिल-जल छोड़कर वह अन्न रख दे। उस समय 'ये अग्निदग्धाः०' इत्यादि मन्त्रका पाठ करे। फिर ब्राह्मणोंके हाथमें कुल्ला करनेके लिये एक-एक बार जल दे। फिर पिण्डके लिये तैयार किया हुआ सारा अन्न लेकर दक्षिणाभिमुख हो पिण्डपितृयज्ञ-कल्पके अनुसार तिलसहित पिण्डदान करे। इसी प्रकार मातामह आदिके लिये पिण्ड दे। फिर ब्राह्मणोंके आचमनार्थ जल दे, तदनन्तर ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराये और उनके हाथमें जल देकर उनसे प्रार्थनापूर्वक कहे—आपलोग 'अक्षय्यमस्तु' कहें। तब ब्राह्मण 'अक्षय्यम् अस्तु' बोलें। इसके बाद उन्हें यथाशक्ति दक्षिणा देकर कहे—'अब मैं स्वधावाचन कराऊँगा।' ब्राह्मण कहें—'स्वधावाचन कराओ।' इस प्रकार उनकी आज्ञा पाकर पितरों और मातामहादिके लिये 'आप यह स्वधावाचन करें, ऐसा कहे। तब ब्राह्मण बोलें—'अस्तु स्वधा।' इसके अनन्तर पृथ्वीपर जल सींचे और 'विश्वेदेवाः प्रीयन्ताम्' यों कहे। ब्राह्मण भी इस वाक्यको दुहरायें—'प्रीयन्तां विश्वेदेवाः।' तदनन्तर ब्राह्मणोंकी आज्ञासे

श्राद्धकर्ता निम्नाङ्कित मन्त्रका जप करे—
दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च।
श्रद्धा च नो मा विगमद् बहु देयं च नोऽस्त्वति॥

‘मेरे दाता बढ़ें। वेद और संतति बढ़े। हमारी श्रद्धा कम न हो और हमारे पास दानके लिये बहुत धन हो।’

यह कहकर ब्राह्मणोंसे नम्रतापूर्वक प्रिय वचन बोले और उन्हें प्रणाम करके विसर्जन करे—‘वाजे-वाजे०’ इत्यादि ऋचाओंको पढ़कर प्रसन्नतापूर्वक विसर्जन करे। पहले पितरोंका, फिर विश्वेदेवोंका विसर्जन करना चाहिये। पहले जिस अर्घ्यपात्रमें संस्कवका जल डाला गया था, उस पितृपात्रको उत्तान करके ब्राह्मणोंको विदा करना चाहिये। ग्रामकी सीमातक ब्राह्मणोंके पीछे-पीछे जाकर उनके कहनेपर उनकी परिक्रमा करके लौटे और पितृसेवित श्राद्धान्नको इष्टजनोंके साथ भोजन करे। उस रात्रिमें यजमान और ब्राह्मण—दोनोंको ब्रह्मचारी रहना चाहिये।

इसी प्रकार पुत्र-जन्म और विवाहादि वृद्धिके अवसरोंपर प्रदक्षिणावृत्तिसे नान्दीमुख पितरोंका यजन करे। दही और बेर मिले हुए अन्नका पिण्ड दे और तिलसे किये जानेवाले सब कार्य जौसे करे। एकोद्दिष्ट श्राद्ध बिना वैश्वदेवके होता है। उसमें एक ही अर्घ्यपात्र तथा एक ही पवित्रक दिया जाता है। इसमें आवाहन और अग्नौकरणकी क्रिया नहीं होती। सब कार्य जेऊको अपसव्य रखकर किये जाते हैं। ‘अक्षयमस्तु’ के स्थानमें ‘उपतिष्ठताम्’ का प्रयोग करे। ‘वाजे-वाजे०’ इस मन्त्रसे ब्राह्मणका विसर्जन करते समय ‘अभिरम्यताम्’ यों कहे और ये ब्राह्मणलोग ‘अभिरताः स्मः’ ऐसा उत्तर दें। सपिण्डीकरण श्राद्धमें पूर्वोक्त विधिसे अर्घ्यसिद्धिके लिये गन्ध, जल और तिलसे युक्त चार अर्घ्यपात्र

तैयार करे। (इनमेंसे तीन तो पितरोंके पात्र हैं और एक प्रेतका पात्र होता है।) इनमें प्रेतके पात्रका जल पितरोंके पात्रोंमें डाले। उस समय ‘ये समाना०’ इत्यादि दो मन्त्रोंका उच्चारण करे। शेष क्रिया पूर्ववत् करे। यह सपिण्डीकरण और एकोद्दिष्ट श्राद्ध माताके लिये भी करना चाहिये। जिसका सपिण्डीकरण श्राद्ध वर्ष पूर्ण होनेसे पहले हो जाता है, उसके लिये एक वर्षतक ब्राह्मणको सान्नोदक कुम्भदान देते रहना चाहिये। एक वर्षतक प्रतिमास मृत्युतिथिको एकोद्दिष्ट करना चाहिये; फिर प्रत्येक वर्षमें एक बार क्षयाहतिथिको एकोद्दिष्ट करना उचित है। प्रथम एकोद्दिष्ट तो मरनेके बाद ग्यारहवें दिन किया जाता है। सभी श्राद्धोंमें पिण्डोंको गाय, बकरे अथवा लेनेकी इच्छावाले ब्राह्मणोंको दे देना चाहिये। अथवा उन्हें अग्निमें या अगाध जलमें डाल देना चाहिये। जबतक ब्राह्मणलोग भोजन करके वहाँसे उठ न जायें, तबतक उच्छिष्ट स्थानपर झाड़ू न लगाये। श्राद्धमें हविष्यान्नके दानसे एक मासतक और खीर देनेसे एक वर्षतक पितरोंकी तृप्ति बनी रहती है। भाद्रपद कृष्णा त्रयोदशीको विशेषतः मध्य नक्षत्रका योग होनेपर जो कुछ पितरोंके निमित्त दिया जाता है वह अक्षय होता है। एक चतुर्दशीको छोड़कर प्रतिपदासे अमावास्यातकी चौदह तिथियोंमें श्राद्ध-दान करनेवाला पुरुष क्रमशः इन चौदह फलोंको पाता है—रूप-शीलयुक्त कन्या, बुद्धिमान् तथा रूपवान् दामाद, पशु, श्रेष्ठ पुत्र, द्यूत-विजय, खेतीमें लाभ, व्यापारमें लाभ, दो खुर और एक खुरवाले पशु, ब्रह्मतेजसे सम्पन्न पुत्र, सुवर्ण, रजत, कुप्यक (त्रपु-सीसा आदि), जाति-भाइयोंमें श्रेष्ठता और सम्पूर्ण मनोरथ। जो लोग शस्त्रद्वारा मारे गये हों, उन्हींके लिये उस चतुर्दशी तिथिको श्राद्ध प्रदान किया जाता है।

स्वर्ग, संतान, ओज, शौर्य, क्षेत्र, बल, पुत्र, श्रेष्ठता, सौभाग्य, समृद्धि, प्रधानता, शुभ, प्रवृत्तचक्रता (अप्रतिहत शासन), वाणिज्य आदि, नीरोगता, यश, शोकहीनता, परम गति, धन, वेद, चिकित्सामें सफलता, कुप्य (त्रपु-सीसा आदि), गौ, बकरी, भेड़, अश्व तथा आयु—इन सत्ताईस प्रकारके काम्य पदार्थोंको क्रमशः वही पाता है जो कृतिकासे लेकर भरणीपर्यन्त प्रत्येक नक्षत्रमें विधिपूर्वक श्राद्ध करता है तथा आस्तिक, श्रद्धालु एवं मद-मात्सर्य आदि दोषोंसे रहित होता है। वसु, रुद्र और आदित्य—ये तीन प्रकारके पितर श्राद्धके देवता हैं। ये श्राद्धसे संतुष्ट किये जानेपर मनुष्योंके पितरोंको तृप्त करते हैं। जब पितर तृप्त होते हैं, तब वे मनुष्योंको आयु,

प्रजा, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष, सुख तथा राज्य प्रदान करते हैं। इस प्रकार मैंने कल्पाध्यायका विषय थोड़ेमें बताया है। वेद तथा पुराणान्तरसे विशेष बातें जाननी चाहिये। मुनीश्वर! जो विद्वान् इस कल्पाध्यायका चिन्तन करता है, वह इस लोकमें कर्म-कुशल होता है और परलोकमें शुभ गति पाता है। जो मनुष्य देवकार्य तथा पितृकार्यमें इस कल्पाध्यायका भक्तिपूर्वक श्रवण करता है, वह यज्ञ और श्राद्धका पूरा फल पाता है। इतना ही नहीं, वह इस लोकमें धन, विद्या, यश और पुत्र पाता है तथा परलोकमें उसे परम गति प्राप्त होती है। अब मैं वेदके मुखस्वरूप व्याकरणका संक्षेपसे वर्णन करूँगा। एकग्रचित्त होकर सुनो। (पूर्वभाग, द्वितीय पाद, अध्याय ५१)

व्याकरण-शास्त्रका वर्णन

सनन्दन उवाच

अथ व्याकरणं वक्ष्ये संक्षेपात्तव नारद।

सिद्धरूपप्रबन्धेन मुखं वेदस्य साम्प्रतम्॥१॥

सनन्दनजी कहते हैं—अब मैं शब्दोंके सिद्धरूपोंका उल्लेख करते हुए तुमसे संक्षेपमें व्याकरणका वर्णन करता हूँ; क्योंकि व्याकरण वेदका मुख है॥१॥

सुमिङ्गतं पदं विप्र सुपां सप्त विभक्तयः।

स्वौजसः प्रथमा प्रोक्ता सा प्रातिपदिकात्मिका॥२॥

विप्रवर! सुबन्तं और तिङ्गतं पदको शब्द

कहते हैं (जिसके अन्तमें 'सुप्' प्रत्यय हों, वह सुबन्त कहलाता है)। सुप्की सात विभक्तियाँ हैं। उनमेंसे प्रथमा (पहली) विभक्ति सु, औ, जस्—इस प्रकार बतायी गयी है ('सु' प्रथमाका एकवचन है, 'औ' द्विवचन है और 'जस्' बहुवचन है)। प्रथमा विभक्ति प्रातिपदिक (नाम) स्वरूप मानी गयी है॥२॥

सम्बोधने च लिङ्गादावुक्ते कर्मणि कर्तरि।

अर्थवत्त्रातिपदिकं धातुप्रत्ययवर्जितम्॥३॥

सम्बोधनमें^३ प्रथमा विभक्तिका प्रयोग होता

१.रामः, हरिम्, पितुः, रमायाः, ज्ञानम् इत्यादि। २. तिङ्ग विभक्ति जिसके अन्तमें हो, उसे तिङ्गत कहते हैं। तिङ्गके दो विभाग हैं—परस्मैपद और आत्मनेपद। इन दोनोंमें तीन पुरुष होते हैं—प्रथम, मध्यम तथा उत्तम। प्रत्येक पुरुषमें तीन वचन होते हैं—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। परस्मैपदके प्रथम पुरुषसम्बन्धी प्रत्यय इस प्रकार हैं—'तिप्, तस्, अन्ति।' ये क्रमशः एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन हैं। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। आत्मनेपदके प्रथम पुरुषमें 'ते, आते, अन्ते' ये प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार दोनों पदोंके तीनों पुरुषसम्बन्धी प्रत्ययोंका मूलमें ही उल्लेख हुआ है। यहाँ संक्षेपसे दिव्यादान कराया गया है। 'ति' से लेकर 'महे' तकके समस्त प्रत्ययोंका संक्षिप्त नाम 'तिङ्ग' है। ये जिसके अन्तमें हों, वह 'तिङ्गत' है। उसीकी 'पद' संज्ञा होती है। उदाहरण—'भवति' (होता है), 'पपाठ' (पढ़ा), 'गमिष्यति' (जायगा), 'एधते' (बढ़ता है) इत्यादि। ३.'सम्बोधनमें प्रथमा विभक्तिका प्रयोग होता है—'हे राम' इत्यादि।

है; जहाँ प्रातिपदिकके अतिरिक्त लिङ्ग^१, परिमाण^२ और वचन^३ आदिका बोध कराना हो, वहाँ भी प्रथमा विभक्तिका ही प्रयोग होता है। उक्त^४ कर्ममें (जहाँ कर्म वाच्य हो, उसमें) तथा उक्त कर्तामें^५ (जहाँ कर्ता वाच्य हो, उसमें) भी प्रथमा विभक्तिका ही प्रयोग होता है। धातु और प्रत्ययसे रहित सार्थक शब्दकी प्रातिपदिक^६ संज्ञा होती है ॥ ३ ॥

**अमौशसो द्वितीया स्यात् तत्कर्म क्रियते च यत् ।
द्वितीया कर्मणि प्रोक्तान्तरान्तरेण संयुते ॥ ४ ॥**

अम्, औ, शस्—यह द्वितीया विभक्ति है (यहाँ भी 'अम्' आदिको क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन समझना चाहिये)। जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। अनुकूल कर्ममें द्वितीया विभक्तिका प्रयोग कहा गया है (कर्तृवाच्य वाक्योंमें कर्म अनुकूल होता है, वहाँ उसकी प्रधानता नहीं रहती, इसीलिये उसे 'अनुकूल' कहा गया है)। 'अन्तरा', 'अन्तरेण' इन शब्दोंका जिसके साथ संयोग या अन्वय हो, उस शब्दमें द्वितीया विभक्तिका^७ प्रयोग करना

चाहिये ॥ ४ ॥

टाभ्याभिसस्तृतीया स्यात् करणे कर्तरीरिता ।

येन क्रियते तत्करणं स कर्ता स्यात्करोति यः ॥ ५ ॥

'टा', 'भ्याम्', 'भिस्'—यह तृतीया विभक्ति है (यहाँ भी पूर्ववत् एकवचन आदिका विभाग समझना चाहिये)। करणमें^८ और अनुकूल^९ कर्तामें तृतीया विभक्ति बतायी गयी है। जिसकी सहायतासे कार्य किया जाता है, उसका नाम करण है और जो कार्य करता है, उसे कर्ता कहते हैं (जिस वाक्यमें कर्मकी प्रधानता होती है, वहाँ कर्ता अनुकूल माना गया है) ॥ ५ ॥

डेभ्याभ्यसश्चतुर्थी स्यात्प्रदाने च कारके ।

यस्मै दित्पां धारयेद्वै रोचते सम्प्रदानकम् ॥ ६ ॥

'डे', 'भ्याम्', 'भ्यस्'—यह चतुर्थी विभक्ति है। इसका प्रयोग सम्प्रदान कारकमें होता है। जिस व्यक्तिको कोई वस्तु देनेकी इच्छा मनमें धारण की जाय, उसकी 'सम्प्रदान'^{१०} संज्ञा होती है तथा जिसको कोई वस्तु रुचिकर प्रतीत होती है, वह भी सम्प्रदान^{११} है (सम्प्रदानमें चतुर्थी विभक्ति होती है) ॥ ६ ॥

१.'तटः', 'तटी', 'तटम्'। २.परिमाणका उदाहरण 'द्रोणो त्रीहिः' (एक दोन धान है) इत्यादि है । ३.'एकः', 'द्वौ', 'बहवः'। ४.'हरिः सेव्यते' (श्रीहरि भक्तोंद्वारा सेवित होते हैं), 'लक्ष्या सेवितः' (भगवान् विष्णु लक्ष्मीद्वारा सेवित हैं) इत्यादि । ५.'रामः करोति' (राम करते हैं) । ६.धातुसे रहित इसलिये कहा गया कि 'अहन्' इत्यादि पदोंमें प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'न' लोप न हो जाय। प्रत्ययरहित कहनेका कारण यह है कि 'हरिषु', 'करोषि' इत्यादिमें भी 'सु' की प्रातिपदिक संज्ञा न हो जाय। यदि प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती तो औत्सर्गिक एकवचन लाकर पदसंज्ञा करनेपर उक्त उदाहरणोंमें दन्त्य 'स' के स्थानमें 'मूर्धन्य 'ष' नहीं हो पाता; क्योंकि पदादि 'स' कारके स्थानमें 'ष' कार होनेका निषेध है। प्रत्ययके निषेधसे प्रत्ययान्तका भी निषेध समझना चाहिये। इससे 'हरिषु' इत्यादि समुदायकी प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी। सार्थक शब्दकी ही प्रातिपदिक संज्ञा होती है, निरर्थककी नहीं। इसलिये 'धनम्, वनम्' इत्यादिमें प्रत्येक अक्षरकी अलग-अलग 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं हो सकती।

७. 'हरिं भजति' (श्रीहरिको भजता है)। इत्यादि वाक्योंमें 'हरि' इत्यादि पद अनुकूल है; इसलिये उनमें द्वितीया विभक्तिका प्रयोग होता है। ८.इसका उदाहरण है 'अन्तरा त्वां मां हरिः' (तुम्हरे और मेरे भीतर भी भगवान् हैं)। 'अन्तरेण हरि न सुखम्' (भगवान्के बिना सुख नहीं है) इत्यादि । ९-१०.'रामेण बाणेन हतो वाली' (श्रीरामने बाणसे वालीको मारा) इस वाक्यमें राम अनुकूल कर्ता हैं और बाण करण। अतः इन दोनोंमें तृतीया विभक्तिका प्रयोग हुआ है। ११.'ब्राह्मणाय गां ददाति' (ब्राह्मणको गाय देता है) इस वाक्यमें ब्राह्मण सम्प्रदान है, इसलिये उसमें चतुर्थी हुई है। १२. इसका उदाहरण है—'हरये रोचते भक्तिः' (भगवान्को भक्ति पसंद है)।

पञ्चमी स्यान्डसिभ्याष्यो ह्यापादाने च कारके ।

यतोऽपैति समादत्ते अपादाने च यं यतः ॥७॥

‘डसि’, ‘भ्याम्’, ‘भ्यस्’ यह पञ्चमी विभक्ति है। इसका प्रयोग अपादान कारकमें होता है। जहाँसे कोई जाता है, जिससे कोई किसी वस्तुको लेता है तथा जिस स्थानसे कोई वस्तु अलग की जाती या स्वतः अलग होती है, विभाग या अलगावकी उस सीमाको अपादान^१ कारक कहते हैं ॥७॥

डन्सोसामश्च षष्ठी स्यात्स्वामिसम्बन्धमुख्यके ।

डधोस्सुपः सप्तमी तु स्यात्सा चाधिकरणे भवेत् ॥८॥

‘डस्’, ‘ओस्’, ‘आम्’—यह षष्ठी विभक्ति है। जहाँ स्वामी-सेवक आदि सम्बन्धकी^२ प्रधानता हो, वहाँ (भेदकमें) षष्ठी विभक्तिका प्रयोग होता है। ‘डि’, ‘ओस्’ ‘सुप्’—यह सप्तमी विभक्ति है। इसका प्रयोग अधिकरण^३ कारकमें होता है ॥८॥

आधारे चापि विप्रेन्द्र रक्षार्थानां प्रयोगतः ।

ईप्सितं चानीप्सिताद् यज्ञदपादानकं स्मृतम् ॥९॥

विप्रवर! आधारमें^४ भी सप्तमी होती है। भयार्थक^५ तथा रक्षार्थक^६ धातुओंका प्रयोग होनेपर भयके कारणकी अपादान संज्ञा होती है। इसी प्रकार वारणार्थक^७ धातुओंका प्रयोग होनेपर अनीप्सितसे (जो अभीष्ट नहीं है, उससे) रक्षणीय जो अभीष्ट वस्तु है, उसकी अपादान संज्ञा होती है ॥९॥

पञ्चमी पर्याप्त्योगे इतरतेऽन्यदिष्मुखे ।

एतैर्योंगे द्वितीया स्यात्कर्मप्रवचनीयकैः ॥१०॥

परि, अप, आङ्, इतर, ऋते, अन्य (आरात) तथा दिग्वाचक शब्द—इन सबके योगमें भी पञ्चमी विभक्ति होती है। ‘कर्मप्रवचनीय’ संज्ञावाले शब्दोंके साथ योग होनेपर द्वितीया विभक्ति होती है ॥१०॥

लक्षणेत्यंभूतेऽभिरभागे चानुपरिप्रति ।

अन्तरेषु सहार्थे च हीने ह्यपश्च कथ्यते ॥११॥

लक्षण^८, इत्थमूताख्यान^९, भाग^{१०} तथा वीप्सा^{११}—

१. इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—‘ग्रामादपैति’ (गाँवसे दूर जाता है), ‘देवदत्तः यज्ञदत्तात् पुस्तकं समादत्ते’ (देवदत्त यज्ञदत्तसे पुस्तक लेता है), ‘पात्रात् ओदनं गृह्णति’ (बर्तनसे भात लेता है), ‘अश्वात् पतति’ (घोड़ेसे गिरता है), ‘पर्वतात् नदी निस्सरति’ (पर्वतसे नदी निकलती है) इत्यादि।

२. ‘गृहस्य स्वामी’ (घरके स्वामी), ‘राज्ञः सेवकः’ (राजाका सेवक), ‘दशरथस्य पुत्रः’ (दशरथके पुत्र), ‘सीतायाः पतिः’ (सीताके पति) इत्यादि। ३. ‘गृहे वसति’ (घरमें रहता है)। ४. आधार तीन प्रकारके हैं—औपश्लोषिक, वैषयिक और अभिव्यापक। इनके क्रमशः उदाहरण इस प्रकार है)। ५. ‘कटे आस्ते’ (चटाइपर बैठता है) ‘मोक्षे इच्छा अस्ति’ (मोक्षविषयक इच्छा है), ‘सर्वस्मिन् आत्मा अस्ति’ (सबमें आत्मा है)। ‘चौर्याद्विभेति’ (चोरीसे डरता है)। ६. ‘पापाद् रक्षति’ (पापसे बचाता है)। ७. ‘यवेभ्यो गां वारयति’ (जौसे गायको हटाता है)। ८. ‘परि हरे: संसारः’ (श्रीहरिसे संसार अलग है), ‘अप हरे: सर्वे दोषाः’ (सब दोष भगवान्‌से दूर हैं), ‘आ मुक्ते: संसारः’ (जबतक मोक्ष न हो, तभीतक संसार है), ‘इतरः कृष्णात्’ (कृष्णसे भिन्न), ‘ऋते भगवतः’ (भगवान्‌के बिना), ‘अन्यः श्रीरामात्’ (श्रीरामसे भिन्न), ‘आरात् वनात्’ (वनसे दूर या समीप), ‘पूर्वो ग्रामात्’ (गाँवसे पूर्व) इत्यादि उदाहरण समझने चाहिये। ९. उदाहरण—‘वृक्षं प्रति परि अनु वा विद्योतते विद्युत् (वृक्षकी ओर बिजली चमकती है)। यहाँ वृक्षके प्रकाशित होनेसे बिजलीकी चमकका ज्ञान होता है, अतः वृक्ष लक्षण है। किसीके मतमें विद्युतका विद्योतन ही लक्षण है, इसे व्यक्त करनेवाले प्रति, परि अथवा अनु किसीके भी योगमें द्वितीया ही होगी। १०. ‘भक्तो विष्णुं प्रति, परि, अनु वा।’ (यह श्रीविष्णुका भक्त है)। यहाँ ‘इत्थंभूत’ का अर्थ है किसी विशेषणको प्राप्त। भक्तत्वरूप विशेषणको प्राप्त पुरुषके कथनमें प्रयुक्त प्रति आदि अव्यय कर्मप्रवचनीय होकर ‘विष्णु’ शब्दसे युक्त हो उसमें द्वितीया विभक्ति लाते हैं। ११. लक्ष्मीर्हरि प्रति, परि, अनु वा। इसका अर्थ हुआ लक्ष्मीजी भगवान् श्रीहरिकी वस्तु हैं, उनपर उन्होंका अधिकार है, वे श्रीहरिका भाग हैं। १२. मूलमें ‘वीप्सा’ का प्रयोग न होनेपर भी ‘लक्षणेत्यंभूत०’ (पा० सू० १। ४। ९०)-के आधारपर उसका

इन सबकी अभिव्यक्तिके लिये प्रयुक्त हुए प्रति, परि, अनु—इन अव्ययोंकी ‘कर्मप्रवचनीय’ संज्ञा होती है। ‘भाग’ अर्थको छोड़कर शेष जो लक्षण आदि अर्थ हैं, उनकी अभिव्यक्तिके लिये प्रयुक्त होनेवाला ‘अभि॑’ अव्यय भी ‘कर्मप्रवचनीय’ होता है। हीन॒ अर्थको प्रकाशित करनेवाला ‘अनु’ तथा ‘हीन’ और ‘अधिक॑’ अर्थोंको प्रकट करनेके लिये प्रयुक्त ‘उप’ अव्यय भी ‘कर्मप्रवचनीय’ होते हैं। अन्तर अर्थात् मध्य॑ अर्थ तथा सहार्थ यानी तृतीया॑ विभक्तिका अर्थ व्यक्त करनेके लिये प्रयुक्त हुआ ‘अनु’ शब्द भी ‘कर्मप्रवचनीय’ है। (इन सबके योगमें द्वितीया॑ विभक्ति होती है) ॥ ११ ॥

द्वितीया च चतुर्थी स्याच्चेष्टायां गतिकर्मणि ।

अप्राणिषु विभक्ती द्वे मन्यकर्मण्यनादरे ॥ १२ ॥

गत्यर्थक॑ धातुओंके कर्ममें द्वितीया और चतुर्थी दोनों विभक्तियाँ प्रयुक्त होती हैं, यदि गमनकी चेष्टा प्रकट होती हो। (परंतु मार्ग या उसका वाचक शब्द यदि गत्यर्थक धातुका कर्म हो तो उसमें चतुर्थी नहीं होती, केवल द्वितीया होती है॑)। यह चतुर्थीका निषेध तभी लागू होता

है, जब पथिक मार्गपर चल रहा हो। यदि वह गलत रास्तेसे जाकर अच्छा रास्ता पकड़ना चाहता हो तब चतुर्थीका प्रयोग भी हो ही सकता है॑) ज्ञानार्थक ‘मन्’ धातुका कर्म यदि कोई प्राणिभिन्न वस्तु हो और अनादर अर्थ प्रकट करना हो तो उसमें भी द्वितीया और चतुर्थी दोनों विभक्तियाँ होती है॑ ॥ १२ ॥

नमःस्वस्तिस्वधास्वाहालंबषड्योग ईरिता ।

चतुर्थी चैव तादर्थ्ये तुमर्थाद्वाववाचिनः ॥ १३ ॥

नमः, स्वस्ति, स्वधा, स्वाहा, अलम्, वषट्—इन सब अव्यय शब्दोंके योगमें चतुर्थी विभक्तिके प्रयोगका विधान है॑०। तादर्थ्यमें अर्थात् जिस वस्तुके लिये कोई कार्य किया जाता है, उस ‘वस्तु’के बोधक शब्दमें चतुर्थी विभक्ति होती है॑१। ‘तुमुन्’ के अर्थमें प्रयुक्त अव्ययभिन्न भावार्थक प्रत्ययान्त शब्दमें भी चतुर्थी विभक्तिका ही प्रयोग होना चाहिये॑२ ॥ १३ ॥

तृतीया सहयोगे स्यात्कुत्सितेऽङ्गे विशेषणे ।

काले भावे सप्तमी स्यादेतैयोंगे च षष्ठ्यपि ॥ १४ ॥

स्वामीश्वराधिपतिभिः साक्षिदायादसूतकैः ।

निर्धारणे द्वे विभक्ती षष्ठी हेतुप्रयोगके ॥ १५ ॥

ग्रहण किया गया है। उसका अर्थ है व्याप्ति। उदाहरण है—‘वृक्षं वृक्षं प्रति सिङ्गति’ (एक-एक पेड़को सींचता है), ‘परि सिङ्गति, अनु सिङ्गति’ का भी प्रयोग हो सकता है। १. उदाहरण—हरिमधि वर्तते। २. ‘अनु हरि सुरा॒’ इसका अर्थ है—दैत्य भगवान्‌से हीन हैं। ३. ‘अधिक’ अर्थमें जहाँ ‘उप’ है, वहाँ सप्तमी विभक्ति होती है। ‘हीन’ अर्थमें जहाँ ‘उप’ है, उसके योगमें द्वितीया होती है। यथा—‘उप हरि सुरा॒’—देवता भगवान्‌से हीन हैं। ४. उदाहरण—‘हृदयमनु हरि॒’ भगवान् हृदयके भीतर हैं। ५. उदाहरण—नदीमन्ववसिता सेना। नद्या सह सम्बद्धत्यर्थः (सेना नदीसे सम्बद्ध है)। ६. उदाहरण—‘ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति॑’ (गाँवको जाता है)

७. यथा—‘पन्थानं गच्छति॑’ (राह चलता है)। ८. यथा—‘उत्पथेन पथे गच्छति॑’ (अच्छी राह पकड़नेके लिये बुरे रास्तेसे जाता है)। ९. यथा—‘न त्वां तृणं मन्ये, तृणाय वा॑’ (मैं तुझे तृणके बराबर भी नहीं समझता)। वार्तिककारके मतमें यहाँ ‘प्राणिभिन्न’ को हटाकर ‘नौका, अन्न, शुक, शृगाल—इन शब्दोंको छोड़कर’ इतना बढ़ा देना चाहिये। इससे ‘न त्वाम् अन्नं मन्ये’ इत्यादि स्थलोंमें प्राणिभिन्न होनेपर भी चतुर्थी नहीं होगी और ‘न त्वां शुने मन्ये’ इत्यादि स्थलोंमें ‘प्राणी’ होनेपर भी चतुर्थी हो जायगी। १०. क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—‘हरये नमः। स्वस्ति प्रजाभ्यः। अग्रये स्वाहा। पितॄभ्यः स्वधा। अलं मल्लो मल्लाय। वषट् इन्द्राय। ११. यथा—‘मुक्ते हरि॑ भजति (मोक्षके लिये भगवान्‌का भजन करता है)। १२. यागाय याति—यष्टुं यातीत्यर्थः (यज्ञके लिये जाता है)।

‘सह’ तथा उसके पर्यायवाची शब्दोंसे योग होनेपर तृतीया विभक्ति होती है१ (इसी प्रकार सदृशार्थकै शब्दोंके योगमें भी तृतीया होती है)। यदि कोई विकृत अङ्ग विशेषणरूपसे प्रयुक्त हुआ हो तो उसमें भी तृतीया विभक्ति होती है२। जहाँ एक क्रियाके होते समय दूसरी क्रिया लक्षित होती हो, वहाँ सप्तमी विभक्ति होती है३। ‘स्वामी’, ‘ईश्वर’, ‘अधिपति’, ‘साक्षी’, ‘दायाद’, ‘प्रसूत’ (तथा ‘प्रतिभू’)—इन शब्दोंके योगमें सप्तमी और षष्ठी दोनों विभक्तियाँ होती हैं४। जिस समुदायमेंसे किसी एककी जाति-सम्बन्धी, गुण-सम्बन्धी, क्रिया-सम्बन्धी अथवा किसी विशेष नामवाले व्यक्तिसम्बन्धी विशेषताका निश्चय करना हो, उस समुदायबोधक शब्दमें सप्तमी और षष्ठी दोनों विभक्तियाँ होती हैं५। ‘हेतु’ शब्दका प्रयोग करके यदि हेत्वर्थका प्रकाशन किया जाय तो षष्ठी विभक्ति होती है६॥ १४-१५॥

स्मृत्यर्थकर्मणि तथा करोते: प्रतियत्नके।
हिंसार्थनां प्रयोगे च कृति कर्मणि कर्तरि॥ १६॥

स्मरणार्थक क्रियाओंके कर्ममें शेषषष्ठी होती है७। ‘कृ’ धातुके कर्ममें भी शेषषष्ठीका विधान है। यदि प्रतियत्न (गुणाधान या संस्कार) सूचित होता हो८। ‘हिंसा’ अर्थवाले धातुओंका प्रयोग होनेपर उनके कर्ममें शेषषष्ठी होती है९। कृदन्त शब्दका योग होनेपर कर्ता और कर्ममें षष्ठी होती है१०॥ १६॥

न कर्तृकर्मणोः षष्ठी निष्ठादिप्रतिपादने।

एता वै द्विविधा ज्ञेयाः सुबादिषु विभक्तिषु।

भूवादिषु तिडन्तेषु लकारा दश वै स्मृताः॥ १७॥

यदि निष्ठा आदिका प्रतिपादन करनेवाले प्रत्ययोंसे युक्त शब्दका प्रयोग हो तो कर्ता और कर्ममें षष्ठी नहीं होती११। ये विभक्तियाँ दो प्रकारकी जाननी चाहिये—सुप् और तिङ्। ऊपर सुबादि विभक्तियोंके विषयमें वर्णन किया गया

१. यथा—पुत्रेण सहागतः पिता (पुत्रके साथ पिता आया है)। यहाँ ‘सह’ के योगमें तृतीया हुई है। इसी प्रकार ‘साक्म्’, ‘सार्धम्’, ‘समम्’—इन शब्दोंके योगमें भी तृतीया जाननी चाहिये। २. ‘सदृश’, ‘तुल्य’, ‘सम’, ‘निभ’, ‘सदृक्ष’, ‘नीकाश’, ‘संकाश’, ‘उपमित’ आदि शब्द सदृशार्थक हैं; इनके योगमें भी तृतीया होती है, यथा—मेघेन सदृशः श्यामो हरिः (भगवान् विष्णु मेघके समान श्याम हैं)। ३. यथा—अक्षणा काणः (आँखका काना), कर्णेन बधिरः (कानका बहरा), पादेन खञ्जः (पैरका लँगड़ा) इत्यादि। ४. यथा—गोषु दुद्ध्यमानासु गतः (जब गौएँ दुही जाती थीं, उस समय गया)। ५. गवां गोषु वा स्वामी। मनुष्याणां मनुष्येषु वा ईश्वरः—इत्यादि उदाहरण हैं। ६. यथा—नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः। गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा। गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः। छात्राणां छात्रेषु वा। मैत्रः पटुः—ये उदाहरण हैं। ७. यथा—अन्रस्य हेतोर्वसति।

८. मातुः स्मरति, मातुः स्मरणम् आदि उदाहरण है। शेषत्वेन विवक्षित होनेपर ही षष्ठी होती है। विवक्षा न होनेपर ‘मातरं स्मरति’ इस प्रकार द्वितीया विभक्ति ही होगी। ९. उदाहरण—एधोदकस्योपस्करणम्—एधोदकस्योपस्करुते। १०. महर्षि पाणिनिने यहाँ—‘जासिनिप्रहणनाटकाथपिषां हिंसायाम्’ (२। ३। ५६) इस सूत्रद्वारा हिंसा-अर्थमें परिगणित धातुओंको ही ग्रहण किया है। उदाहरणके लिये ‘चौरस्योज्जासनम्’ ‘चौरस्य प्रणिहननम्’ निहननम्, प्रहणनं वा। ‘चौरस्योन्नाटनम्’ ‘चौरस्य क्राथनम्’ ‘चौरस्य पेषणं वा।’ इत्यादि प्रयोग हैं। ११. यथा—‘कृष्णस्य कृतिः’ यहाँ ‘कृष्ण’ कर्ता है, उसमें षष्ठी हुई है। ‘जगतः कर्ता कृष्णः’ इसमें ‘जगत्’ कर्म है, यहाँ कर्ममें षष्ठी हुई है। १२. आदि पदसे ‘न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्’ (पा० सू० २। ३। ६९) इस सूत्रमें निर्दिष्ट स्थलोंको ग्रहण करना चाहिये। निष्ठाका उदाहरण यह है—‘विष्णुना हता दैत्याः’ (विष्णुसे दैत्य मारे गये)। ‘दैत्यान् हतवान् विष्णुः’ (दैत्योंको विष्णुने मारा)। इसमें कृदन्त शब्दका योग होनेसे विष्णुशब्दमें षष्ठीकी प्राप्ति थी, जो इस निषेधसे बाधित हो गयी।

है। क्रियावाचक 'भू' 'वा' आदि शब्द ही तिङ्ग विभक्तियोंके साथ संयुक्त होनेपर तिङ्गन्त कहे गये हैं। इनमें दस^१ लकार बताये गये हैं॥ १७॥

तिससन्तीति प्रथमो मध्यः सिप्थस्थ उत्तमः ।

मिव्वस्मसः परस्मै तु पदानां चात्मनेपदम्॥ १८॥

(प्रत्येक लकारमें परस्मैपद और आत्मनेपद—ये दो पद होते हैं। प्रत्येक पदमें प्रथम, मध्यम और उत्तम—ये तीन पुरुष होते हैं।) 'तिप्' 'तस्' 'अन्ति' यह प्रथम पुरुष है। 'सिप्' 'थस्' 'थ'—यह मध्यम पुरुष है तथा 'मिप्' 'वस्' 'मस्' यह उत्तम पुरुष है (प्रत्येक पुरुषमें जो तीन-तीन प्रत्यय हैं, वे क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन हैं)। ये सब परस्मैपदके प्रत्यय हैं। अब आत्मनेपद बताया जाता है॥ १८॥

ते आतेऽन्ते प्रथमो मध्यः से आथे ध्वे तथोत्तमः ।

ए वहे मह आदेशा ज्ञेया ह्यन्ये लिङ्गादिषु॥ १९॥

'ते' 'आते' 'अन्ते' यह प्रथम पुरुष है। 'से' 'आथे' 'ध्वे' यह मध्यम पुरुष है। 'ए' 'वहे' 'महे' यह उत्तम पुरुष है। ये 'लट्' लकारके स्थानमें होनेवाले आदेश हैं। 'लिट्' आदि लकारोंके स्थानमें होनेवाले प्रत्ययरूप आदेश दूसरे हैं, उन्हें (अन्य व्याकरणसम्बन्धी ग्रन्थोंसे) जानना चाहिये॥ १९॥

नाम्नि प्रयुज्यमाने तु प्रथमः पुरुषो भवेत् ।

मध्यमो युष्मदि प्रोक्त उत्तमः पुरुषोऽस्मदि॥ २०॥

जहाँ 'युष्मद्', 'अस्मद्' शब्दोंके अतिरिक्त अन्य कोई भी नाम (संज्ञा-शब्द) उक्त कर्ता या उक्त कर्मके रूपमें प्रयुक्त होता हो, वहाँ प्रथम पुरुष होता है। 'युष्मद्' शब्द उक्त कर्ता या उक्त

कर्मके रूपमें प्रयुक्त हो तो मध्यम पुरुष होता है और 'अस्मद्' शब्दका उक्त कर्ता या उक्त कर्मके रूपमें प्रयोग हो तो उत्तम पुरुष कहा गया है॥ २०॥

भूवाद्या धातवः प्रोक्ताः सनाद्यन्तास्तथा ततः ।

लडीरितो वर्तमाने भूतेऽनद्यतने तथा॥ २१॥
मास्मयोगे च लङ्घवाच्यो लोडाशिषि च धातुतः ।
विष्वादौ स्यादाशिषि च लिङ्गितो द्विविधो मुने॥ २२॥

क्रिया-बोधक 'भू' 'वा' आदि शब्दोंको 'धातु' कहा गया है। 'सन्^२' आदि प्रत्यय जिनके अन्तमें हों, उनकी भी धातु संज्ञा है। धातुओंसे वर्तमानकालमें लट्टलकारका विधान है। अनद्यतन (आजसे पहलेके) भूतकालमें लङ्घ लकार होता है तथा 'मा' और 'स्म' इन दोनोंके योगमें लङ्घ (और लुङ्घ) लकार होता है, यह बताना चाहिये। आशीर्वाद और विधि^३ आदि अर्थमें धातुसे लोट् लकारका विधान है। विधि आदि अर्थमें तथा आशीर्वादमें लिङ्घ लकारका भी प्रयोग होता है, किंतु विधिलिङ्घ और आशिष्-लिङ्घके धातु-रूपोंमें अन्तर होता है। मुने! इसीलिये वह दो प्रकारका माना गया है॥ २१-२२॥

लिङ्गतीते परोक्षे स्याच्छ्रस्तने लुङ्घ भविष्यति ।

स्यादेवाद्यतने लृट् च भविष्यति तु धातुतः॥ २३॥

परोक्ष भूतकालमें लिट् लकारका प्रयोग होता है। आजके बाद होनेवाले भविष्यमें 'लुट्'का प्रयोग किया जाता है। आज होनेवाले भविष्यमें (तथा सामान्य भविष्यकालमें भी) धातुसे लृट् लकार होता है॥ २३॥

१. लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लिङ्घ, लुङ्घ तथा लङ्घ—ये दस लकार हैं। इनमेंसे पाँचवें लकारका प्रयोग केवल वेदमें होता है।

२. सन्, क्यच्, काप्यच्, क्यङ्, क्यष, आचारक्विप, णिच्, यङ्, यक्, आय, ईयङ् तथा णिङ्—ये बाहर प्रत्यय सनादि कहलाते हैं। ३. विधि (प्रेरणा या आज्ञा), निमन्त्रण (श्राद्ध आदिमें नियुक्ति या न्योता), आमन्त्रण (इच्छानुसार आज्ञा देना) तथा अधीष्ट (सत्कारपूर्ण व्यवहार)—इनको विष्वादि कहते हैं।

भूते लुड्तिपत्तौ च क्रियाया लृङ् प्रकीर्तिः ।
सिद्धोदाहरणं विद्धि संहितादिपुरः सरम् ॥ २४ ॥

सामान्य भूतकालमें लुड्त लकारका प्रयोग करना चाहिये । हेतु हेतु मद्भाव आदि जो लिङ्के निमित्त हैं, उन्हींके होनेपर भविष्य-अर्थमें लुड्त लकारका प्रयोग होता है; किंतु यदि क्रियाकी असिद्धि सूचित होती हो तभी ऐसा होना उचित है । मुने ! [अब संधिका प्रकरण आरम्भ करते हैं—] संधिके सिद्ध उदाहरण संहिता आदि ग्रन्थोंके अनुसार समझो ॥ २४ ॥

दण्डाग्रं च दधीदं च मधूदकं पितृष्ठभः ।
होतृकारस्तथा सेयं लाङ्गलीषा मनीषया ॥ २५ ॥
गङ्गोदकं तवल्कार ऋणार्ण च मुनीश्वर ।
शीतार्तश्च मुनिश्रेष्ठ सैन्द्रः सौकार इत्यपि ॥ २६ ॥

पहले स्वर-संधिके उदाहरण दिये जाते हैं—
दण्ड+अग्रम्=दण्डाग्रम् (डंडेका सिरा) । दधि+इदम्=दधीदम् (यह दही) । मधु+उदकम्=मधूदकम् (मधु और जल) । पितृ+ऋषभः=पितृष्ठभः (पितृवर्गमें श्रेष्ठ) । होतृ+लृकारः=होतृकारः (होताका लृकार)^१ ।

इसी प्रकार 'मनीषा'के साथ 'लाङ्गलीषा' भी सिद्धसंधि है^२ मुनीश्वर ! गङ्गा+उदकम्=गङ्गोदकम् (गङ्गाजल), तव+लृकारः=तवल्कारः (तुम्हारा लृकार), सा+इयम्=सेयम् (वह यह—स्त्री) ^३ स+ऐन्द्रः=सैन्द्रः (वह इन्द्रका भाग) । स+औकारः=सौकारः (वह औकार) । ऋण+ऋणम्=ऋणार्णम् (ऋणके लिये ऋण) । शीत+ऋतः=शीतार्तः (शीतसे युक्त) । कृष्ण+एकत्वम्=कृष्णैकत्वम् (कृष्णकी एकता) । गङ्गा+ओघः=गङ्गौघः (गङ्गाकी जलराशिका प्रवाह)—ये वृद्धि संधिके उदाहरण हैं^४ ॥ २५-२६ ॥

वध्वासनं पित्रथो नायको लवणस्तथा ।

त आद्या विष्णवे हृत्र तस्मा अर्षो गुरा अथः ॥ २७ ॥

दधि+अत्र=दध्यत्र (यहाँ दही है), वधु+आसनम्=वध्वासनम् (बहूका आसन), पितृ+अर्थः=पित्र्थः (पिताका धन), लृ+आकृतिः=लाकृतिः (देवजातिकी माताका स्वरूप)—ये यण्संधिके उदाहरण हैं^५ । (हरे+ए=हरये—भगवान्के लिये) । नै+अकः=नायकः (स्वामी) । लो+अणः=लवणः

१. ये पाँच उदाहरण दीर्घसंधिके हैं । नियम यह है कि अ, इ, उ, ऋ और लृ—ये स्वर दीर्घ हों या हस्त, यदि अपने सर्वांग स्वरको समीप एवं परवर्ती पायें तो दोनों मिल जाते हैं और उन दोनोंके स्थानपर एक ही दीर्घस्वर हो जाता है । ऋ और लृ असमान प्रतीत होनेपर भी परस्पर सर्वांग माने गये हैं । अतः ऋ+लृके मिलनेपर एक ही 'ऋ' बनता है, जैसा कि 'होतृकारः' में दिखाया गया है ।

२. लाङ्गल+ईषा=लाङ्गलीषा । मनस्+ईषा=मनीषा । ये ही इनके पदच्छेद हैं । पहलेमें 'लाङ्गल' शब्दके अन्तका 'अ' ईषाके ईकारमें मिलकर तट्टूप हो गया है । दूसरेमें 'मनस्' के अन्तका 'अस्' भाग ईषाके ईकारका स्वरूप बन गया है । ऐसी संधिको पररूप कहते हैं । 'मनीषा' का अर्थ बुद्धि और 'लाङ्गलीषा' का अर्थ हरिस—हलका ईषादण्ड है । वार्तिककारने मनीषा आदि शब्दोंको 'शकन्धू' आदि गण (समुदाय)-में सम्मिलित किया है । ऐसे शब्द जो प्राचीन ग्रन्थोंमें प्रयुक्त हुए हैं और जिनके साधनकी कोई विशेष पद्धति नहीं है, उन्हें निपातनात् सिद्ध माना गया है । ३. ये गुणसंधिके उदाहरण हैं । नियम यह है कि 'अ' या 'आ' से परे 'इ' 'उ' अथवा 'ऋ' हों तो वह क्रमशः 'ए' 'ओ' अथवा 'अर्' रूप धारण करता है । ये आदेश दो अक्षरोंके स्थानपर क्रमशः 'ऐ', 'औ' एवं 'आर्' आदेश होते हैं । 'ए' या 'ओ' की जगह 'ऐ', 'और' हों तो भी वैसा ही रूप बनता है । 'ऋ' के स्थानमें 'आर्' होनेके स्थल परिणित हैं ।

५. नियम यह है कि 'इ' 'उ' 'ऋ' 'लृ'—ये चार अक्षर दीर्घ हों या हस्त, इनसे परे कोई भी असर्वांग (असमान) स्वर होनेपर इन 'इ' कार आदिके स्थानपर क्रमशः य्, व्, इ्, ल् आदेश होते हैं ।

(नमक)। (पौ+अकः=पावकः—अग्नि)—ये अयादि संधि कहलाते हैं^१। ते+आद्याः=त आद्याः (वे प्रथम हैं)। विष्णो+एहात्र=विष्ण एहात्र (भगवन् विष्णो! यहाँ पथारिये)। तस्मै+अर्धः=तस्मा अर्धः (उनके लिये अर्ध्य)। गुरौ+अधः=गुरा अधः (गुरुके समीप नीचे)। इन उदाहरणोंमें यलोप और वलोप हुए हैं^२॥ २७॥

हरेऽव विष्णोऽवेत्येषादसो मादप्यमी अघाः।
शौरी एतौ विष्णु इमौ दुर्गे अमू नो अर्जुनः॥ २८॥
आ एवं च प्रकृत्यैते तिष्ठन्ति मुनिसत्तम।

हरे+अव=हरेऽव (भगवन्! रक्षा कीजिये)। विष्णो+अव=विष्णोऽव (विष्णो! रक्षा कीजिये)। यह पूर्वरूप संधि है^३। अदस् शब्दसम्बन्धी मकारसे परे यदि दीर्घ 'ई' और 'ऊ' हों तो वे

ज्यों-के-त्यों रह जाते हैं। इस अवस्थाको प्रकृतिभाव कहते हैं। जैसे अमी+अघाः (ये पापी हैं)^४, शौरी+एतौ=(ये दोनों श्रीकृष्ण-बलराम हैं), विष्णु+इमौ=(ये दोनों विष्णुरूप हैं), दुर्गे+अमू=(ये दोनों दुर्गरूप हैं)। ये भी प्रकृतिभावके ही उदाहरण हैं। नो+अर्जुनः (अर्जुन नहीं है), आ+एवम् (ऐसा ही है)।—इनमें भी सन्धि नहीं होती^५। मुनिश्रेष्ठ नारद! 'अमी+अघाः' से लेकर यहाँतकके सभी उदाहरण ऐसे हैं, जो अपनी प्रकृतावस्थामें ही रहते हैं॥ २८^६॥

षडत्र षण्मातरश्च वाक्छूरो वाग्धरिस्तथा॥ २९॥

अब व्यञ्जन सन्धिके उदाहरण दिये जाते हैं। षट्+अत्र=षडत्र^७ (यहाँ छः हैं)। षट्+मातरः=षण्मातरः (छः माताएँ)। वाक्+शूरः=वाक्छूरः

१. नियम यह है कि 'ए', 'ओ', 'ऐ', 'औ'—इनसे परे कोई भी स्वर हो तो इनके स्थानमें क्रमशः 'अय्, अव्, आय्, और आव्' आदेश होते हैं। २. नियम यह है कि कोई भी स्वर परे रहनेपर अवर्णपूर्वक पदान्त य, व का लोप हो जाता है। यहाँ पूर्वोक्त नियमानुसार पहले अय्, अव् आदि आदेश होते हैं; फिर अभी बताये हुए नियमके अनुसार य, व का लोप हो जाता है। यहाँ 'य'-लोप या 'व'-लोप होनेपर 'त आद्या' 'विष्ण एहात्र' आदिमें पुनः दीर्घ एवं गुण आदि संधि नहीं हो सकती; क्योंकि इन संधियोंकी दृष्टिमें य-लोप, व-लोप असिद्ध हैं; इसलिये इनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। सारांश यह कि इन स्थलोंमें पुनः संधिका निषेध है। ३. नियम यह है कि पदान्त एकार और ओकारके बाद यदि हस्त अकार हो तो वह पूर्ववर्ती स्वरमें मिल जाता है। ४. इस उदाहरणमें यण्सन्धि प्राप्त हुई थी; किंतु अभी बताये हुए नियमके अनुसार प्रकृतिभाव होनेसे सन्धि नहीं हुई।

५. पूर्वके दो उदाहरणोंमें यण्की और अन्तिम उदाहरणमें पूर्वरूपकी प्राप्ति थी; परंतु सन्धिका निषेध हो गया। नियम यह है कि ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त द्विवचनका प्रकृतिभाव होता है; अतः वहाँ सन्धि नहीं होती है। ६. पहलेमें पूर्वरूप और दूसरेमें वृद्धि सन्धिकी प्राप्ति थी; परंतु प्रकृतिभाव हो गया। नियम यह है कि ओकारान्त निपात और एक स्वरवाले निपात जैसे हैं, वैसे ही रह जाते हैं। ७. इसमें षट् के 'ट्' की जगह इ हुआ है। नियम यह है कि झ, भ, घ, ढ, ध, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स—इनमेंसे यदि कोई अक्षर पदान्तमें हो तो उसके स्थानमें ज, ब, ग, ड, द—इनमेंसे कोई अक्षर योग्यताके अनुसार होता है। योग्यताका अभिप्राय स्थानकी समानतासे है। जैसे 'ट्' का स्थान मूर्धा है, अतः उसकी जगह मूर्धा स्थानका 'ड' अक्षर ही हुआ। 'ज', 'ब' आदिके स्थान भिन्न हैं,, इसलिये वे नहीं हुए। ८. इसमें 'ट्' की जगह 'ण्' आदेश हुआ है। 'क' से लेकर 'म' तकके किसी भी अक्षरके बाद यदि अनुनासिक वर्ण (ङ, ज, ण, न, म) हों तो पूर्ववर्ती अक्षर यदि पदान्तमें हो तो उसके स्थानमें अनुनासिक हो जाता है। जो अक्षर जिस वर्गका है, उसके स्थानमें उसी वर्गका पाँचवाँ अक्षर अनुनासिक होता है। इसीलिये उक्त उदाहरणमें 'ट्' की जगह उसी वर्गका पाँचवाँ अक्षर 'ण्' हुआ। ९. यहाँ 'श्' के स्थानमें 'छ' हुआ है। ऊपर लिखे हुए 'झ' से 'प' तकके अक्षरोंके बाद यदि 'श्' हो तो उसकी जगह 'छ' हो जाता है; किंतु उस 'श्' के बाद कोई स्वर अथवा 'ह, य, व, र'—ये अक्षर होने चाहिये। यही इस सन्धिका नियम है।

(बोलनेमें बहादुर)। वाक्+हरिः=वाग्धरिः^१
(वाणीरूप भगवान्) ॥ २९ ॥

हरिश्शेते विभुश्चिन्त्यस्तच्छेषो यच्चरस्तथा ।
प्रश्नस्त्वथ हरिष्वष्टः कृष्णाष्टीकत इत्यपि ॥ ३० ॥

हरिस्+शेते=हरिश्शेते^२ (श्रीहरि शयन करते हैं)। विभुस्+चिन्त्यः=विभुश्चिन्त्यः^३ (सर्वव्यापी परमेश्वर चिन्तन करने योग्य हैं)। तत्+शेषः=तच्छेषः^४ (उसका शेष)। यत्+चरः=यच्चरः^५ (जिसमें चलनेवाला)। प्रश्न+नः=प्रश्नः^६ (सवाल)। हरिस्+षष्टः=हरिष्वष्टः^७ (श्रीहरि छठे हैं)। तथा कृष्णः+टीकते=कृष्णाष्टीकते^८ (श्रीकृष्ण जाते हैं)। इत्यादि ॥ ३० ॥

भवान्षष्टश्च षट् सन्तः षट् ते तल्लेप एव च ।
चक्रिंश्चिथि भवाज्ञौरिर्भवाज्ञौरिरिहेत्यपि ॥ ३१ ॥

भवान्+षष्टः (आप छठे हैं)। इसमें पूर्व नियमके अनुसार प्राप्त होनेपर तवर्गका टवर्ग नहीं

होता^९। इसी तरह षट् सन्तः (छः सत्पुरुष) और षट् ते (वे छः हैं) इत्यादिमें भी स्तुत्व नहीं हुआ है^{१०}। तत्+लेपः=तल्लेपः^{११} (उसका लेप)। चक्रिन्+छिन्थि=चक्रिंश्चिन्थि^{१२} (चक्रधारी प्रभो! मेरा बन्धन काटिये)। भवान्+शौरिः=भवाज्ञौरिः, भवाज्ञौरिः इह (आप श्रीकृष्ण यहाँ हैं), (भवाज्ञौरिः, भवाज्ञौरिः) इस पदच्छेदमें ये चार रूप बनते हैं^{१३} ॥ ३१ ॥

सम्यङ्गनन्तोऽङ्गच्छाया कृष्णं वन्दे मुनीश्वर ।
तेजांसि मंस्यते गङ्गा हरिश्छेत्तामरशिशवः ॥ ३२ ॥

सम्यङ्ग+अनन्तः=सम्यङ्गनन्तः (अच्छे शेषनाग), सुगण्ण+ईशः=सुगण्णीशः (अच्छे गणकोंके स्वामी)। सन्+अच्युतः=सन्नच्युतः^{१४} (नित्य सत्त्वरूप श्रीहरि)। अङ्ग+छाया=अङ्गच्छाया^{१५} (शरीरकी परछाई)। कृष्णम्+वन्दे=कृष्णं वन्दे^{१६} (श्रीकृष्णको प्रणाम

१. उपर्युक्त 'झ'से 'प' तकके अक्षरोंके बाद यदि 'ह' हो तो उस 'ह' के स्थानमें पूर्ववर्ती अक्षरके वर्गका चौथा वर्ण हो जाता है। इस नियमके अनुसार उक्त उदाहरणमें 'क्' के बाद 'ह' होनेसे 'ह'के स्थानमें कवर्गका चौथा अक्षर 'घ्' हो गया है और 'क्' की जगह पूर्वोक्त नियमानुसार 'ग्' हो गया।।

२-३-४-५. शकार और चवर्गका योग होनेपर सकार और तवर्गके स्थानमें क्रमशः शकार और चवर्ग होते हैं। इस नियमके अनुसार पूर्व दो उदाहरणोंमें 'स्' की जगह 'श्' हुआ है और शेष दोमें तवर्गकी जगह चवर्ग हुआ है। शेषके शकारका छकार हुआ है। नियम 'वाक्छूरः मैं, बताया गया है। ६. शके बाद तवर्ग हो तो उसकी जगह चवर्ग नहीं होता; अतः 'प्रश्नः' में न ज्यों-का-त्यों रह गया है। ७-८. षकार और टवर्गसे संयोग होनेपर सकार और तवर्गके स्थानमें क्रमशः षकार और टवर्ग होते हैं। इस नियमके अनुसार दोनों उदाहरणोंमें 'स' की जगह 'ष' हुआ है।

९. क्योंकि षकार परे रहनेपर तवर्गके टवर्ग होनेका निषेध है। १०. क्योंकि पदान्त टवर्गसे परे नाम्-भिन्न सकार और तवर्गके स्थानमें षकार और टवर्ग नहीं होते। ऐसा निषेध है। ११. यहाँ तकारके स्थानमें लकार आदेश हुआ। नियम यह है कि लकार परे रहनेपर तवर्गके स्थानमें 'ल्' हो जाता है।

१२. इसमें 'न्' के स्थानमें 'इ', 'र' का विसर्ग एवं उसका दन्त्य 'स्' होकर फिर छकारके योगमें उसका तालव्य 'श्' हो गया तथा उसके पूर्व अनुस्वार एवं अनुनासिक हुआ। नियम यह है कि छ, ठ, थ, च, ट, त—ये अक्षर परे हों तो नान्त पदके नकारका 'इ' हो, और उसके पूर्व स्वरका विकल्पसे अनुनासिक अथवा 'इ' से परे अनुस्वारका आगम हो। १३. नियम यह है कि षकार परे रहनेपर नान्त पदके आगे 'त्' बढ़ जाता है। शेष परिवर्तन पूर्वोक्त नियमके अनुसार होते हैं।

१४. इन उदाहरणोंमें झ, ण, न् एकसे दो हो गये हैं। नियम यह है कि हस्वसे परे यदि 'ङ' 'ण' या 'न्' हो और उसके बाद भी कोई स्वर हो तो वे एकसे दो हो जाते हैं। १५. यहाँ छ के पहले आधा च् बढ़ गया है। नियम यह है कि हस्वसे परे छ होनेपर उसके पहले आधा च् बढ़ जाता है। १६. यहाँ म् के स्थानमें अनुस्वार हो गया है। कोई भी हल् अक्षर परे हो तो पदान्तमें स्थित म् का अनुस्वार हो जाता है।

करता हूँ)। तेजान्+सि=तेजांसि (तेज), मन्+स्यते=मंस्यते^१ (मानेंगे)। गं+गा=गङ्गा^२ (देवनदी गङ्गा)।

मुनीश्वर नारद! यहाँतक व्यज्ञन-सन्धिका वर्णन हुआ। अब विसर्ग-सन्धि प्रारम्भ करते हैं। हरिः+छेत्ता= हरिश्छेत्ता (श्रीहरि बन्धन काटनेवाले हैं)। अमरः+शिवः= अमरशिवः^३ (भगवान् शिव अमर हैं)॥ ३२॥

राम काम्यः कृप॒पूज्यो हरिः पूज्योऽचर्य एव हि।
रामो दृष्टोऽबला अत्र सुसा दृष्टा इमा यतः॥ ३३॥

रामः+काम्यः=राम काम्यः (श्रीराम कमनीय हैं)। कृपः+पूज्यः=कृप पूज्यः^४ (कृपाचार्य पूज्य हैं)। पूज्यस्+अर्च्यः=पूज्योऽचर्यः^५ (पूजनीय और अर्चनीय)। रामस्+दृष्टः=रामो दृष्टः^६ (राम देखे गये हैं)। अबलास्+अत्र=अबला अत्र (यहाँ अबलाएँ हैं)। सुसास्+दृष्टाः=सुसा दृष्टाः (सोयी

देखी गयीं)। इमास्+अतः=इमायतः^७ (ये स्त्रियाँ हैं, अतः)॥ ३३॥

विष्णुर्नम्यो रविरयं गी॒॑ फलं प्रातरच्युतः।

भक्तैर्वन्द्योऽप्यन्तरात्मा भो भो एष हरिस्तथा।

एष शाङ्गी सैष रामः संहितैवं प्रकीर्तिता॥ ३४॥

विष्णुः+नम्यः=विष्णुर्नम्यः (श्रीविष्णु प्रणामके योग्य हैं)। रविः+अयम्=रविरयम् (ये सूर्य हैं)। गीः+फलम्=गीफलम् (वाणीका फल)। प्रातर्+अच्युतः=प्रातरच्युतः (प्रातःकाल श्रीहरि)। भक्तैस्+वन्द्यः=भक्तैर्वन्द्यः (भक्तजनोंके द्वारा वन्दनीय हैं)। अन्तर्+आत्मा=अन्तरात्मा (जीवात्मा या अन्तर्यामी परमात्मा)। भोस्+भोः=भो भोः (हे हे)—ये सब उदाहरण पूर्वोक्त नियमोंसे ही बन जाते हैं। एषस्+हरिः=एष हरिः (ये श्रीहरि हैं)। एषस्+शाङ्गी=एष शाङ्गी (ये शाङ्गधारी हरि हैं)। सस्+एषस्+रामः=सैष

१. यहाँ अपदान्त न् का अनुस्वार हुआ है। नियम यह है कि झल् परे रहनेपर अपदान्त न् म् का अनुस्वार होता है। झल्में इतने अक्षर आते हैं—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह। २. यहाँ अपदान्त अनुस्वारका परसवर्ण हुआ है। र, श, ष, स, ह—इनको छोड़कर कोई भी हल् अक्षर परे रहनेपर अपदान्त अनुस्वारका नित्य परसवर्ण (परवर्ती अक्षरके वर्गका पञ्चम वर्ण) होता है—यह नियम है। ३. इन दोनों उदाहरणोंमें विसर्गके स्थानमें दन्त्य 'स्' होकर श्चुत्व सन्धिके नियमसे तालिव्य 'श्' हो गया। नियम यह है कि विसर्गके स्थानमें स् हो जाता है खर् परे रहनेपर। उपर्युक्त अक्षरोंमें 'ख' से 'स्' तकके अक्षरोंको खर कहते हैं। ४. यहाँ विसर्गके स्थानमें ऐसा॒॑ चिह्न हो गया है। विसर्गके बाद क, ख, या प, फ होनेपर विसर्गकी यह अवस्था होती है। ५. यहाँ 'स्' के स्थानमें 'रु' होकर 'रु' के स्थानमें 'उ' हुआ है। फिर गुणसन्धिके नियमसे ओकार होनेपर 'अर्च्यः' के अकारका पूर्वरूप हो गया है। यहाँ नया नियम यह जानना है कि पदान्त 'स्' के स्थानमें 'रु' होता है और अप्लुत अकारसे परे होनेपर उस 'रु' का 'उ' हो जाता है। ऐसा तभी होता है, जब उस 'रु' के बाद भी कोई अप्लुत अकार या 'हश्' हो। ह, य, व, र, ल, ज, म, ड, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द—इन अक्षरोंके समुदायको 'हश्' कहते हैं। ६. यहाँ अभी बताये गये नियमके अनुसार 'स' को 'रु' करके फिर उसका उत्त्व हुआ। तत्पश्चात् गुण होकर 'रामो' बना। ७. इन सब उदाहरणोंमें 'स्' के स्थानमें पूर्ववत् 'रु' होता है; फिर 'रु' के स्थानमें 'य्' होकर पूर्व दो उदाहरणोंमें उसका लोप हो जाता है। और अन्तिम उदाहरणमें 'य्' 'अ' में मिल जाता है। यहाँ स्मरण रखने योग्य नियम यह है—भो, भगो, अघो तथा अवर्णपूर्वक 'रु' के स्थानमें 'य्' होता है अश् परे रहनेपर। और हल् परे रहनेपर उस 'य्'का लोप हो जाता है। सम्पूर्ण स्वरवर्ण तथा ह, य, व, र, ल, ज, म, ड, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द—ये सभी अक्षर 'अश्' के अन्तर्गत हैं।

८. एतत् और तत् शब्दोंसे परे 'सु' विभक्तिके 'स' कारका लोप हो जाता है हल् परे रहनेपर। इस नियमके अनुसार यहाँ 'स्' का लोप हो गया है।

रामः^१ (वही ये श्रीराम हैं)। इस प्रकार संहिता (सन्थि)-का प्रकरण बताया गया है ॥ ३४ ॥

(अब सुबन्तका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले स्वरान्त शब्दोंका शुद्ध रूप देते हैं। उसमें भी एक श्लोकद्वारा मङ्गलाचरणके लिये श्रीरामका स्मरण करते हुए 'राम' शब्दके प्रायः सभी विभक्तियोंके एक-एक रूपका उल्लेख करते हैं—)

रामेणाभिहितं करोमि सततं^२ रामं भजे सादरं
रामेणापहृतं समस्तदुरितं रामाय तुभ्यं नमः ।
रामान्मुक्तिरभीप्सिता मम सदा रामस्य दासोऽस्म्यहं
रामे रज्यतु मे मनः सुविशदं हे राम तुभ्यं नमः ॥ ३५ ॥

'मैं श्रीरामके द्वारा दिये हुए आदेशका सदा पालन करता हूँ। श्रीरामका आदरपूर्वक भजन करता हूँ। रामने (मेरा) सारा पाप हर लिया।

भगवान् श्रीराम! तुम्हें नमस्कार है। मुझे श्रीरामसे मोक्षकी प्राप्ति अभीष्ट है। मैं सदाके लिये श्रीरामका दास हूँ। मेरा निर्मल मन श्रीराममें अनुरक्त हो। हे श्रीराम! तुम्हें नमस्कार है^३ ॥ ३५ ॥

सर्व इत्यादिका गोपाः सखा चैव पतिर्हसि ॥ ३६ ॥

सर्व आदि शब्द सर्वनाम^४ माने जाते हैं। 'गोपाः'का अर्थ है गौओंका पालन करनेवाला^५। सखाका अर्थ है मित्र। यह 'सखि' शब्दका रूप है^६। पतिका अर्थ है स्वामी^७। हरि शब्दका अर्थ है भगवान् विष्णु^८ ॥ ३६ ॥

सुश्रीर्भानुः स्वयम्भूश्च कर्ता रा गौस्तु नौरिति ।
अनङ्गानोधुगिलद्च द्वौ त्रयश्चत्वार एव च ॥ ३७ ॥

जो उत्तम श्रीसे सम्पन्न हो, उसे सुश्री कहते हैं^९। भानुका अर्थ है सूर्य और किरण^{१०}। स्वयम्भूका अर्थ है स्वयं प्रकट होनेवाला। इसका

१. यहाँ 'एष रामः' की सिद्धि तो पूर्ववत् हो जाती है; किंतु 'सस्' के 'सु' का लोप करनेके लिये एक विशेष नियम है—'सस्' के 'सु' का लोप होता है अच् परे रहनेपर, यदि उसके लोप होनेके बाद ही श्लोकके पादकी पूर्ति होती हो तब। जैसे—सैष रामः समायाति (वही ये श्रीराम आते हैं)। २. कहीं-कहीं इस अंशका पाठ इस प्रकार मिलता है—'रामो राजमणिः सदा विजयते।' प्रथमा विभक्तिके रूपकी दृष्टिसे यही पाठ ठीक जान पड़ता है। ३. 'राम' शब्दका रूप सब विभक्तियोंमें इस प्रकार समझना चाहिये—रामः रामौ रामाः। रामम् रामौ रामान्। रामेण रामाभ्याम् रामैः। रामाय रामाभ्याम् रामेभ्यः। रामात् रामाद् रामाभ्याम् रामेभ्यः। रामस्य रामयोः रामाणाम्। रामे रामयोः रामेषु। हे राम हे रामौ हे रामाः। ४. इसी प्रकरणमें आगे (श्लोक ४७-४८ में) सर्वनाम शब्द गिनाये गये हैं। ५. इनमें सर्व शब्दका रूप इस प्रकार है—सर्वः सर्वौ सर्वैः। सर्वम् सर्वौ सर्वान्। सर्वेण सर्वाभ्याम् सर्वैः। सर्वस्मै सर्वाभ्याम् सर्वेभ्यः। सर्वस्मात् सर्वाभ्याम् सर्वेभ्यः। सर्वस्य सर्वयोः सर्वेषाम्। अन्य सर्वनामोंके रूप भी प्रायः ऐसे ही होते हैं। ६. इसके रूप इस प्रकार हैं—गोपाः गोपौ गोपाः। गोपाम् गोपौ गोपः। गोपा गोपाभ्याम् गोपाभिः। गोपे गोपाभ्याम् गोपाभ्यः। गोपः गोपाभ्याम् गोपाभ्यः। गोपः गोपोः। गोपाम्। गोपि गोपोः गोपासु। हे गोपा: हे गोपौ हे गोपाः। ७. सखि शब्दके पूरे रूप इस प्रकार हैं—सखा सखायौ सखायः। सखायम् सखायौ सखीन्। सखा सखिभ्याम् सखिभिः। सख्ये सखिभ्याम् सखिभ्यः। सख्युः सखिभ्याम् सखिभ्यः। सख्युः सख्योः सखीनाम्। सख्यौ सख्योः सखिषु। हे सखे हे सखायौ हे सखायः। ८. इसके दो विभक्तियोंमें रूप इस प्रकार होते हैं—पतिः पती पतयः। पतिम् पती पतीन्। शेष विभक्तियोंमें सखि शब्दके समान रूप होते हैं। सम्बोधनमें हे पते हे पती हे पतयः—इस प्रकार रूप जाने चाहिये। ९. इसके रूप इस प्रकार हैं—हरिः हरी हरयः। हरिम् हरी हरीन्। हरिणा हरिभ्याम् हरिभिः। हरये हरिभ्याम् हरिभ्यः। हरे: हरिभ्याम् हरिभ्यः। हरे: हर्योः हरीणाम्। हरौ हर्योः हरिषु। हे हरे हे हरी हे हरयः। १०. इसके रूप इस प्रकार हैं—सुश्रीः सुश्रीयौ सुश्रीयः। सुश्रीया सुश्रीभ्याम् सुश्रीभिः। सुश्रीये सुश्रीभ्याम् सुश्रीभ्यः। सुश्रीयः सुश्रीभ्याम् सुश्रीभ्यः। सुश्रीयः सुश्रीयोः सुश्रीयाम्। सुश्रीय सुश्रीयोः सुश्रीषु। हे सुश्रीः हे सुश्रीयौ हे सुश्रीयः। ११. इसके रूप इस प्रकार हैं—भानुः भानू भानवः। भानुम् भानू भानून्। भानुना भानुभ्याम् ३ भानुभिः। भानवे भानुभ्यः २। भानोः

प्रयोग प्रायः ब्रह्माजीके लिये होता है१। काम करनेवालेको कर्ता कहते हैं। यह 'कर्तृ' शब्दका रूप है२। 'रै' शब्द धनका वाचक है३। पुँलिलङ्गमें 'गो' शब्दका अर्थ बैल होता है और स्त्रीलिलङ्गमें गायॄ। 'नौ' शब्द नौकाका वाचक है५। यहाँतक स्वरान्त पुँलिलङ्ग शब्दोंके रूप दिये गये हैं।

अब हलन्त पुँलिलङ्ग शब्दोंके रूप दिये जा रहे हैं। गाड़ी खींचनेवाले बैलको अनइवान् कहते हैं। यह अनडुहशब्दका रूप है६। गाय दुहनेवालेको गोधुक् कहते हैं। मूल शब्द गोदुह है७। लिह शब्दका अर्थ है चाटनेवाला८। 'द्वि'

शब्द संख्या दोका, 'त्रि' शब्द तीनका और 'चतुर्' शब्द चारका वाचक है। इनमेंसे पहला केवल द्विवचनमें और शेष दोनों केवल बहुवचनमें प्रयुक्त होते हैं९॥३७॥

राजा पन्थास्तथा दण्डी ब्रह्महा पञ्च चाष्ट च।

अष्टौ अयं मुने सप्ताद् सुराद्विभ्रद्वपुष्टतः॥३८॥

राजा राजन्-शब्दका रूप है१०। पन्था: कहते हैं मार्गको। यह पथिन् शब्दका रूप है११। जो दण्ड धारण करे, उसे दण्डी कहते हैं१२। ब्रह्महन् शब्द ब्राह्मणघातीके अर्थमें प्रयुक्त होता है१३। पञ्चन्-शब्द पाँचका और अष्टन् शब्द आठका

२ भान्वोः २ भानूनाम्। भानौ भानुषु। हे भानो हे भानू हे भानवः।

१. स्वयम्भू शब्दके रूप इस प्रकार है—स्वयम्भूः स्वयम्भुवौ २ स्वयम्भुवः २। स्वयम्भुवम्। स्वयम्भुवा स्वयम्भूभ्याम् ३। स्वयम्भूधिः। स्वयम्भुवे स्वयम्भूभ्यः २। स्वयम्भुवः २। स्वयम्भुवोः २। स्वयम्भुवाम्। स्वयम्भुवा स्वयम्भूषु। २. इसके पूरे रूप इस प्रकार हैं—कर्ता कर्तारौ २ कर्तारः। कर्तारम् कर्तृन्। कर्त्रा कर्तृभ्याम् ३ कर्तृधिः। कर्त्रै कर्तृभ्यः २। कर्तुः २। कर्त्रोः २ कर्तृणाम्। कर्तार कर्तृषु। हे कर्तः हे कर्तारौ हे कर्तारः। ३. उसके रूप इस प्रकार हैं—रा: रायौ २ रायः २। रायम्। राया राभ्याम् ३ राधिः। राये राभ्यः २। रायः २। रायोः ४। रायाम्। रायि रासु। सम्बोधने प्रथमावत्। २. दोनों लिङ्गोंमें इसके एक-से ही रूप होते हैं, जो इस प्रकार हैं—गौः गावौ २ गावः। गाम् गा:। गवा गोभ्याम् ३ गोधिः। गवे गोभ्यः २। गोः २। गवोः २ गवाम्। गवि गोषु। हे गौः हे गावौ हे गावः। ५. इसका प्रयोग स्त्रीलिलङ्गमें होता है, तथापि यहाँ पुँलिलङ्गके प्रकरणमें इसे लिखा गया है, प्रकरणके अनुसार 'सुनौ' शब्द यहाँ ग्रहण करना चाहिये। इसके रूप इस प्रकार हैं—नौः नावौ २ नावः २। नावम्। नावा नौभ्याम् ३ नौधिः। नावे नौभ्यः २। नावः २। नावोः २ नावाम्। नावि नौषु। ६. इसके पूरे रूप इस प्रकार हैं—अनइवान् अनइवाहौ २ अनइवाहः। अनइवाहम् अनडुहः। अनडुहा अनडुह्याम् ३ अनडुद्धिः। अनडुहे अनडुह्यः २। अनडुहः २। अनडुहोः २ अनडुहाम्। अनडुहि अनडुह्यु। सम्बोधनके एकवचनमें हे अनइवन्। ७. इसके रूप इस प्रकार होते हैं—गोधुक् गोधुग् गोदुहौ २ गोदुहः २। गोदुहम्। गोदुहा गोधुभ्याम् गोधुधिः। गोदुहे गोधुभ्यः २। गोदुहः २। गोदुहोः २ गोदुहाम्। गोदुहि गोधुक्षु। ८. इसके रूप इस प्रकार है—लिद् लिद् लिहौ लिहः २। लिहम्। लिहा लिह्याम् ३ लिहधिः। लिहे लिह्यः २। लिहः २। लिहोः २ लिहाम्। लिहि लिद्सु लिद्सु। ९. रूप क्रमशः इस प्रकार हैं—द्वौ २ द्वाभ्याम् ३ द्वयोः २। त्रयः। त्रीन्। त्रिधिः। त्रिभ्यः २। त्रयाणम्। त्रिषु चत्वारः। चतुरः। चतुर्धिः। चतुर्भ्यः २। चतुर्णाम्। चतुर्षु। १०. इसके पूरे रूप इस प्रकार हैं—राजा राजानौ २ राजानः। राजानम् राजः। राजा राजभ्याम् ३ राजधिः। राजे राजभ्यः २। राजः २। राजोः २ राजाम्। राज्ञि राजनि राजसु। हे राजन् हे राजानौ हे राजानः। ११. शेष रूप इस प्रकार समझने चाहिये—पन्थानौ २ पन्थानः पन्थानम् पथः। पथा पथिभ्याम् ३ पथिधिः। पथे पथिभ्यः २। पथः २। पथोः २ पथाम्। पथि पथिषु। १२. इसका मूल शब्द दण्डन् है, जिसके रूप इस प्रकार हैं—दण्डी दण्डनौ २ दण्डनः २। दण्डनम्। दण्डना दण्डनाम् ३ दण्डधिः। दण्डने दण्डध्यः २। दण्डनः २। दण्डनोः २ दण्डनाम्। दण्डनि दण्डषु। हे दण्डन्। १३. इसके रूप इस प्रकार हैं—ब्रह्महा ब्रह्महणौ २ ब्रह्महणः। ब्रह्महणम् ब्रह्मज्ञः। ब्रह्मज्ञा ब्रह्महभ्याम् ब्रह्महधिः। ब्रह्मज्ञे ब्रह्मभ्यः २। ब्रह्मज्ञः २। ब्रह्मज्ञाम्। ब्रह्मज्ञि ब्रह्महसु।

वाचक है। ये दोनों बहुवचनान्त होते हैं^१। अयम्‌का अर्थ है यह; यह 'इदम्' शब्दका रूप है^२। 'सम्राट्' कहते हैं बादशाह या चक्रवर्ती राजाको^३। सुराज् शब्दके रूप—सुराट् सुराजौ सुराजः इत्यादि हैं। शेष रूप सम्राज् शब्दकी भाँति जानने चाहिये। इसका अर्थ है—अच्छा राजा। बिभ्रत्‌का अर्थ है धारण-पोषण करनेवाला^४। वपुष्मत् (वपुष्मान्) का अर्थ है शरीरधारी^५॥ ३८॥

प्रत्यङ्ग पुमान् महान् धीमान् विद्वान्वद् पिपठीश्व दोः।
उशनासाविमे प्रोक्ताः पुंस्यज्ञल्विरामकाः॥ ३९॥

प्रत्यञ्च-शब्दका अर्थ है प्रतिकूल या पीछे जानेवाला 'भीतरकी ओर' भी अर्थ है^६। पुमान्‌का अर्थ है पुरुष, जो पुंस-शब्दका रूप है^७। महान्

कहते हैं श्रेष्ठको^८। धीमान्‌का अर्थ है बुद्धिमान्। (धीमत्-शब्दके रूप वपुष्मत् शब्दकी भाँति जानने चाहिये।) विद्वान्‌का अर्थ है पिण्डत^९। षष् शब्द छःका वाचक और बहुवचनान्त है। (इसके रूप इस प्रकार हैं—षट् षड् २। षट्भिः। षट्भ्यः २। षण्णाम्। षट्सु षट्सु।) जो पढ़नेकी इच्छा करे, उसे 'पिपठीः^{१०}' कहते हैं। दोःका अर्थ है भुजा^{११}। उशनाका अर्थ है शुक्राचार्य^{१२}। अदस् शब्दका अर्थ है^{१३} 'यह' या 'वह'। ये अजन्त (स्वरान्त) और हलन्त पुंलिङ्ग शब्द कहे गये॥ ३९॥
राधा सर्वा गतिर्गोपी स्त्री श्रीर्घेनुर्वधूः स्वसा।
गौर्नौरुपानद्यौर्गोवत् ककुपसंवित्तु वा ववचित्॥ ४०॥

अब स्त्रीलिङ्ग शब्दोंका दिग्दर्शन कराते हैं।

१. इनके रूप इस प्रकार हैं—पञ्च २। पञ्चभिः। पञ्चभ्यः २। पञ्चानाम्। पञ्चसु। अष्टौ २ अष्ट २। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः २ अष्टभ्यः २। अष्टानाम्। अष्टासु अष्टसु। २. इनके पूरे रूप इस प्रकार हैं—अयम् इमौ इमे। इमम् इमौ इमान्। अनेन आभ्याम् ३ एभिः। अस्मै एभ्यः अस्मात्। अस्य अनयोः २ एषाम्। अस्मिन् एषु।

३. सम्राज् शब्दके रूप इस प्रकार हैं—सम्राट् सम्राइ सम्राजौ २ सम्राजः २। सम्राजम्। सम्राजा सम्राइभ्याम् ३ सम्राइभिः। सम्राजे सम्राइभ्यः २। सम्राजः २। सम्राजोः २ सम्राजाम्। सम्राजि सम्राइसु। ४. इनके रूप इस प्रकार हैं—बिभ्रत् बिभ्रतौ २ बिभ्रतः २। बिभ्रतम्। बिभ्रता बिभ्रद्याम् ३ बिभ्रद्धिः। बिभ्रते बिभ्रद्यः २। बिभ्रतः २। बिभ्रतोः २ बिभ्रताम्। बिभ्रति बिभ्रत्सु। ५. इस शब्दके रूप इस प्रकार हैं—वपुष्मान् वपुष्मन्तौ २ वपुष्मन्तः वपुष्मन्तम् वपुष्मतः। वपुष्मता वपुष्मद्याम् ३ वपुष्मद्धिः। वपुष्मते वपुष्मद्यः २। वपुष्मतः २। वपुष्मतोः २ वपुष्मताम्। वपुष्मति वपुष्मत्सु। हे वपुष्मन्। ६. इनके रूप इस प्रकार हैं—प्रत्यङ्ग प्रत्यञ्चौ २ प्रत्यञ्चः। प्रत्यञ्चम् प्रतीचः। प्रतीचा प्रत्यञ्च्याम् ३ प्रत्यञ्चिभिः। प्रतीचे प्रत्यञ्च्यः २। प्रतीचः २। प्रतीचोः २ प्रतीचाम्। प्रतीचि प्रत्यक्षु। ७. इनके पूरे रूप इस प्रकार हैं—पुमान् पुमांसौ २ पुमांसः। पुमांसम् पुंसः। पुंसा पुम्याम् ३ पुम्भिः। पुंसे पुम्यः २। पुंसः २। पुंसोः २ पुंसाम्। पुंसि पुंसु। हे पुमन्! ८. महत्-शब्दके रूप इस प्रकार हैं—महान् महान्तौ २ महान्तः। महान्तम् महतः। महता महद्भ्याम् ३ महद्धिः। महते महद्यः २। महतः २। महतोः २ महताम्। महति महत्सु।

९. विद्वास्-शब्दके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—विद्वान् विद्वासौ२ विद्वासः। विद्वासम् विदुषः। विदुषा विद्वद्याम् ३ विद्वद्धिः। विदुषे विद्वद्भ्यः २। विदुषः २। विदुषोः २ विदुषाम्। विदुषि विद्वत्सु। हे विद्वन्।

१०. इनके पूरे रूप इस प्रकार हैं—पिपठीः पिपठिषी २ पिपठिषः। पिपठिषम् पिपठिषः। पिपठिषा पिपठीर्घ्याम् ३ पिपठीभिः। पिपठिषे पिपठीर्घ्यः २। पिपठिषः २। पिपठिषोः २ पिपठिषाम्। पिपठिषि पिपठीर्घु पिपठीषु॥ ११. दोष् शब्दके रूप इस प्रकार है—दोः दोषौ २ दोषः। दोषम् दोष्णः दोषः। दोष्णा दोषा दोर्घ्याम् ३ दोर्भिः। दोषो दोषे दोर्घ्यः २। दोष्णः २ दोषः। दोषोः २ दोष्णाम् दोषाम्। दोष्णि दोषु दोःसु।

१२. उशनस्-शब्दके रूप इस प्रकार है—उशना उशनसौ २ उशनसः २। उशनसम्। उशनसा उशनोर्घ्याम् ३ उशनोभिः। उशनसे उशनोर्घ्यः २। उशनसः २। उशनसोः २ उशनसाम्। उशनसि उशनस्सु उशनःसु।

१३. इनके रूप इस प्रकार हैं—असौ अमू अमी। अमुम् अमू अमून्। अमुना अमूर्घ्याम् अमीभिः। अमुर्घ्ये अमूर्घ्याम् अमीर्घ्यः। अमुष्मात् अमूर्घ्याम् अमीर्घ्य। अमुर्घ्य अमुयोः अमीषाम्। अमुष्मिन् अमुयोः अमीषु।

राधाका अर्थ है भगवान् श्रीकृष्णकी आहादिनी शक्ति, जो उनकी भी आराध्या होनेसे 'राधा' कहलाती है१। सर्वाका अर्थ है सबै (स्त्री)। 'गतिः' का अर्थ है—गमन, मोक्ष, प्राप्ति या ज्ञानै। 'गोपी' शब्द प्रेम-भक्तिकी आचार्यरूपा गोपियोंका वाचकै है। स्त्रीका अर्थ है नारी। 'श्री' शब्द लक्ष्मीका वाचक है६। धेनुका अर्थ दूध देनेवाली गाय है७। वधूका अर्थ है जाया अथवा पुत्रवधू८। स्वसाँ कहते हैं बहिनको। गो-शब्दका रूप स्त्रीलिङ्गमें भी पुँलिङ्गके समान होता है। नौ-शब्दका रूप पहले दिया जा चुका है। उपानहै९ शब्द जूतेका वाचक है। द्यौ१० स्वर्गका वाचक है।

ककुभै११ शब्द दिशाका वाचक है। संविदै१२-शब्द बुद्धि एवं ज्ञानका वाचक है॥४०॥
रुग्वदुद्धाः स्त्रियां तपः कुलं सोमपमक्षि च।
ग्रामण्यम्बु खलवेवं कर्तृ चातिरि वातिनु॥४१॥
रुकै१४ नाम है रोगका। विटै१५-शब्द वैश्यका वाचक है। उद्धाः१६का अर्थ है उत्तम प्रकाश या प्रकाशित होनेवाली। ये शब्द स्त्री-लिङ्गमें प्रयुक्त होते हैं।
अब नपुंसकलिङ्ग शब्दोंका परिचय देते हैं। तपसै१७-शब्द तपस्याका वाचक है। कुलै१८-शब्द वंश या समुदायका वाचक है। सोमपै१९-शब्दका अर्थ है सोमपान करनेवाला। 'अक्षिका'२० अर्थ है

१. इसके रूप यों हैं—राधा राधे राधा:। राधाम् राधे राधा:। राधया राधाभ्याम् राधाभिः। राधायै राधाभ्याम् राधाभ्यः। राधायाः राधाभ्याम् राधाभ्यः। राधायाः राधयोः राधानाम्। राधायाम् राधयोः राधासु। हे राधे हे राधे हे राधा:।
२. इस शब्दके रूप इस प्रकार हैं। चतुर्थीके एकवचनमें—सर्वस्यै। पञ्चमी और षष्ठीके एकवचनमें—सर्वस्याः। षष्ठीके बहुवचनमें—सर्वासाम्। सप्तमीके एकवचनमें—सर्वस्याम्। शेष सभी रूप 'राधा' शब्दकी ही भाँति होंगे।
३. गति शब्दके रूप यों समझने चाहिये—गतिः गती गतयः। गतिम् गती गतीः। गत्या गतिभ्याम् ३ गतिभिः। गत्यै गतये गतिभ्यः २। गत्याः २ गतेः २। गत्योः २ गतीनाम्। गत्याम् गतौ गतिषु। हे गते हे गती हे गतयः।
४. गोपी—शब्दके रूप इस प्रकार हैं—गोपी गोप्यौ २ गोप्यः। गोपीम् गोपीः। गोप्या गोपीभ्याम् ३ गोपीभिः। गोप्यै गोपीभ्यः २। गोप्याः २ गोप्योः २ गोपीनाम्। गोप्याम् गोपीषु। हे गोपि हे गोप्यौ हे गोप्यः।
५. इस शब्दके रूप इस प्रकार हैं—स्त्री स्त्रियौ २ स्त्रियः। स्त्रियम् स्त्रीम् स्त्रियः स्त्रीः। स्त्रिया स्त्रीभ्याम् ३। स्त्रीभिः। स्त्रियै स्त्रीभ्यः २। स्त्रियाः २। स्त्रियोः २ स्त्रीणाम्। स्त्रियाम् स्त्रीषु। हे स्त्रि हे स्त्रियौ हे स्त्रियः।
६. उसके रूप इस प्रकार हैं—श्रीः श्रियौ २ श्रियः। श्रीः श्रियै २ श्रियः २। श्रियम्। श्रिया श्रीभ्याम् ३ श्रीभिः। श्रियै श्रिये श्रीभ्यः २। श्रियाः २। श्रियः २। श्रियोः २ श्रीणाम्। श्रियाम् श्रीषु। हे श्री हे श्रियौ हे श्रियः।
७. इसके रूप गति शब्दकी तरह होंगे। यथा—धेनुः धेनू धेनवः। धेन्वै धेनवे इत्यादि।
८. इस शब्दके रूप इस प्रकार है—वधूः वध्वौ वध्वः। शेष रूप गोपी-शब्दकी तरह समझने चाहिये। वहाँ 'ई' के स्थानमें 'य' होता है, यहाँ 'ऊ' के स्थानमें 'व' होगा। इतना ही अन्तर है।
९. इसके रूप कर्तृ—शब्दके समान होते हैं। केवल द्वितीयाके बहुवचनमें 'स्वसृः' ऐसा रूप होता है—इतना ही अन्तर है।
१०. उसके रूप इस प्रकार हैं—उपानत् उपानद् उपानहौ २ उपानहः २। उपानहम्। उपानहा उपानद्भ्याम् ३ उपानद्धिः। उपानहे उपानद्धयः २। उपानहः २। उपानहोः २ उपानहाम्। उपानहि उपानत्सु।
११. दिव्-शब्दके रूप गो-शब्दके समान समझने चाहिये।
१२. इसके रूप—ककुभै११ ककुभौ २ ककुभः २। ककुभम्। ककुभा ककुभ्याम् इत्यादि है। सप्तमीके बहुवचनमें ककुप्सु रूप होता है।
१३. इसके रूप—संवित् संविद् संविदौ संविदः इत्यादि हैं।
१४. इसके रूप हैं—रुक् रुग् रुजौ २ रुजः २। रुजम्। रुजा रुग्याम् इत्यादि।
१५. इसके रूप हैं—विट् विड् विशौ विशः इत्यादि।
१६. इसके रूप है—उद्धाः उद्धासौ उद्धासः इत्यादि।
१७. नपुंसकलिङ्गमें प्रथमा और द्वितीया विभक्तिके रूप एकसे ही होते हैं और तृतीयासे लेकर सप्तमीतके रूप पुँलिङ्गके समान होते हैं। तपस्-शब्दके रूप इस प्रकार समझने चाहिये—तपः तपसी तपांसि। ये तीनों रूप प्रथमा और द्वितीया विभक्तिमें प्रयुक्त होते हैं। शेष रूप उशनस्के समान होंगे।
१८. रूप ये हैं—कुलम् कुले कुलानि। शेष रामवत्।
१९. प्रथमा-द्वितीया विभक्तियोंमें इसके रूप हैं—सोमपम् सोमपे सोमपानि। शेष रामवत्।
२०. इसके रूप प्रथम दो विभक्तियोंमें हैं—अक्षि अक्षिणी अक्षीणि। शेष पाँच विभक्तियोंके एकवचनमें क्रमशः इस प्रकार रूप हैं—अक्षणा। अक्षणोः। अक्षणः। अक्षिण। अक्षिण अक्षीण। शेष रूप हरि-शब्दके समान जानने चाहिये।

आँख। गाँवके नेताको ग्रामणी^१ कहते हैं। अम्बु^२-शब्द जलका वाचक है। खलपू^३का अर्थ है खलिहान या भूमि साफ करनेवाला। कर्तृ^४-शब्द कर्ताका वाचक है। जो धनकी सीमाको लाँघ गया हो, उस कुलको अतिरि^५ कहते हैं। जो पानी नावकी शक्तिसे बाहर हो, जिसे नावसे भी पार करना असम्भव हो, उसे 'अतिनुरु^६' कहते हैं॥४१॥

स्वनदुच्च विमलद्यु वाश्वत्वारीदमेव च।

एतद्ब्रह्माहश दण्डी असृकिकञ्चित्यदादि च॥४२॥

जिस कुल या गृहमें गाड़ी खींचनेवाले अच्छे बैल हों, उसको 'स्वनदुत्^७' कहते हैं। जिस दिन आकाश साफ हो, उस दिनको 'विमलद्यु' कहते हैं। वार्^८-शब्द जलका वाचक है। चतुर् शब्दका रूप नपुंसकलिङ्गमें केवल प्रथमा और द्वितीयामें

'चत्वारि' होता है, शेष पुँलिङ्गवत्। इदम्-शब्दके रूप नपुंसकमें इस प्रकार हैं—इदम् इमे इमानि, शेष पुँलिङ्गवत्। एतत्-शब्दके रूप पुँलिङ्गमें—एषः एतौ एते इत्यादि सर्वशब्दके समान होते हैं। नपुंसकमें केवल प्रथम दो विभक्तियोंमें ये रूप हैं—एतत् एते एतानि। ब्रह्मन्-शब्दके रूप नपुंसकमें 'ब्रह्म ब्रह्मणी ब्रह्माणि' हैं। शेष पुँलिङ्गवत्^९। अहन्^{१०}-शब्द दिनका वाचक है। दण्डन्-शब्दके नपुंसकमें 'दण्डि दण्डनी दण्डीनि' ये रूप हैं। शेष पुँलिङ्गवत्। असृक्^{११}-शब्द रक्तका वाचक है। किम्-शब्दके रूप पुँलिङ्गमें 'कः कौ के' इत्यादि सर्ववत् होते हैं। नपुंसकमें केवल प्रथम दो विभक्तियोंमें 'किम् के कानि'—ये रूप होते हैं। चित्-शब्दके रूप

१. पुँलिङ्गमें इसके रूप ग्रामणीः ग्रामण्यौ ग्रामण्यः इत्यादि होते हैं। यदि कोई कुल (खानदान) गाँवका अगुआ हो तो यह शब्द नपुंसकलिङ्गमें प्रयुक्त होता है। उस दशामें इसके रूप इस प्रकार होंगे—ग्रामणि ग्रामणिनी ग्रामणीनि। तृतीयासे सप्तमीतकके एकवचनमें 'ग्रामण्या ग्रामणिना। ग्रामण्ये ग्रामणिने। ग्रामण्यः २ ग्रामणिनः २। ग्रामण्याम् ग्रामणिनि—ये रूप हैं। शेष रूप पुँलिङ्गवत् होते हैं। २. इसके रूप—अम्बु अम्बुनी अम्बुनि इत्यादि हैं। तृतीयासे सप्तमीतकके एकवचनमें क्रमशः अम्बुना। अम्बुने। अम्बुनः २। अम्बुनि—ये रूप होते हैं। शेष रूप भानुवत् हैं। ३. पुँलिङ्गमें इसके रूप 'खलपूः खलपौ खलप्वः' इत्यादि होते हैं। जब यह किसी साधन या औजारका वाचक होता है तो नपुंसकमें प्रयुक्त होता है। उसमें इसके रूप इस प्रकार हैं—खलपु खलपुनी खलपूनि। इसमें भी तृतीयासे सप्तमीतकके एकवचनमें 'खलपुना, खलपुने, खलपुनः २, खलपुनि'—ये रूप अधिक होते हैं। शेष रूप पुँलिङ्गवत् हैं। ४. इसका रूप पुँलिङ्गमें बताया गया है। नपुंसकमें 'कर्तृ कर्तृणी कर्तृणि'—ये रूप होते हैं। तृतीयासे सप्तमीतकके एकवचनमें दो-दो रूप होते हैं। यथा—कर्तृणा कर्त्रा। कर्तृणे कर्त्रे। कर्तृणः २ कर्तुः २। कर्तृणि कर्तरि। शेष रूप पुँलिङ्गवत् हैं। ५. इसके 'अतिरि अतिरिणी अतिरीणि' ये रूप हैं। तृतीया विभक्तिसे इस प्रकार रूप चलते हैं—अतिरिणा, अतिराभ्याम् ३ अतिराभिः। अतिरिणे अतिराभ्यः २। अतिरिणः २। अतिरिणोः २ अतिरीणाम्। अतिरिणि अतिरासु। ६. इसके रूप इस प्रकार है—'अतिनु अतिनुनी अतिनूनि। तृतीयासे सप्तमीतकके एकवचनमें—'अतिनुना, अतिनुने, अतिनुनः २, अतिनुनि'—ये रूप होते हैं। शेष भानुवत्। ७. रूप इस प्रकार हैं—स्वनदुत् स्वनदुही स्वनद्वावांहि। शेष पुँलिङ्गवत्। ८. रूप इस प्रकार हैं—विमलद्यु विमलदिवी विमलदिवि। तृतीया आदि विभक्तियोंमें 'विमलदिवा विमलद्युभ्याम्' इत्यादि रूप होते हैं। ९. इसके रूप इस प्रकार हैं—'वा: वारी वारि। वारा वार्याम् वाभिः' इत्यादि। १०. पुँलिङ्गमें इसके सब रूप इस प्रकार हैं—ब्रह्मा, ब्रह्मणौ, ब्रह्माणः। ब्रह्मणं ब्रह्मणौ ब्रह्मणः। ब्रह्मणा ब्रह्मभ्याम् ब्रह्मभिः। ब्रह्मणे ब्रह्मभ्याम् ब्रह्मभ्यः। ब्रह्मणः ब्रह्मभ्याम् ब्रह्मभ्यः। ब्रह्मणः ब्रह्मणोः ब्रह्मणाम्। ब्रह्मणि ब्रह्मणो ब्रह्मसु। ११. इसके रूप इस प्रकार हैं—'अहः अही अहानि। अहा अहोभ्याम् अहोभिः' इत्यादि। सप्तमीतकके एकवचनमें अहि, अहानि—ये दो रूप होते हैं। १२. इसके रूप इस प्रकार हैं—'असृक् असृजी असृजि। असृजा असृग्भ्याम् असृग्भिः' इत्यादि।

'चित् चिती चिन्ति, चिता चिदभ्याम् चिद्धिः' इत्यादि होते हैं। त्यद् आदि॑ शब्दोंके रूप पुँलिलङ्गमें 'स्यः त्यौ ते' इत्यादि सर्ववत् होते हैं। नपुंसकमें 'त्यत् त्ये त्यानि'—ये रूप होते हैं॥ ४२॥ एतद् बेभिद्वाग् गवाङ् गोअग् गोङ् गोङ्। तिर्यग्यकृच्छकच्चैव ददद्ववत्पत्पत्तुदत्॥ ४३॥

(इदम् और) एतत्-शब्दके रूप अन्वादेशमें द्वितीया, टा और ओस् विभक्तियोंमें कुछ भिन्न होते हैं। पुँलिलङ्गमें 'एनम् एनौ एनान् एनेन एनयोः।' नपुंसकमें 'एनत् एने एनानि' ये रूप हैं। अन्वादेश न होनेपर पूर्वोक्त रूप होते हैं। बेभित्-शब्दके रूप इस प्रकार हैं—'बेभित् बेभिद् बेभिदी बेभिदि (यहाँ नुम् नहीं होता)। बेभिदा बेभिद्व्याम् बेभिद्धिः' इत्यादि। गवाकृ-शब्दके रूप गति और पूजा-अर्थके भेदसे अनेक होते हैं। गति-पक्षमें गवाकृका अर्थ है गायके पास जानेवाला और पूजा-पक्षमें उसका अर्थ है गो-पूजक। प्रथमा और द्वितीया विभक्तियोंमें उसके उभयपक्षीय रूप इस प्रकार हैं—एकवचनमें ये नौ रूप होते हैं—गवाकृ गवाग् गोअक् गोअग् गोक् गोग् गवाङ् गोङ् गोङ् द्विवचनमें चार रूप होते हैं—गोची गवाञ्ची गोअञ्ची गोञ्ची। बहुवचनमें तीन रूप हैं—गवाञ्चि गोअञ्चि और गोञ्चि। प्रथमा और द्वितीया विभक्तियोंमें ये ही रूप होते हैं। तृतीयासे लेकर सप्तमीके एकवचनमें

सर्वत्र चार-चार रूप होते हैं—'गोचा गवाञ्चा गोअञ्चा गोञ्चा' इत्यादि। भ्याम्, भिस् और भ्यस्में छः-छः रूप होते हैं— गवाग्भ्याम् गोअग्भ्याम् गोग्भ्याम् गवाङ्ग्भ्याम् गोअङ्ग्भ्याम् गोङ्ग्भ्याम् इत्यादि। सप्तमीके बहुवचनमें भी नौ रूप होते हैं—गवाङ्ग्क्षु गोअङ्ग्क्षु गोङ्ग्क्षु गवाङ्ग्क्षु गोअङ्ग्क्षु गोङ्ग्क्षु गोअङ्ग्क्षु गोक्षु। इस प्रकार कुल एक सौ नौ रूप होते हैं। तिर्यकै-शब्द पशु-पक्षियोंका वाचक है। यकृत्-शब्द कलेजा तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली बीमारीका बोधक है। शकृत्-शब्द विष्ठाका वाचक है। ददत्-शब्दका रूप पुँलिलङ्गमें बिभ्रत् शब्दकी तरह होता है। नपुंसकमें 'ददत्, ददती, ददति ददति' ये रूप होते हैं। शेष पुँलिलङ्गवत्। भवत् शब्दका अर्थ है, पूज्य। शत् प्रत्ययान्त 'भवत्' शब्दके रूप पुँलिलङ्गमें 'भवन् भवन्तौ भवन्तः' इत्यादि होते हैं। शेष पूर्ववत्। स्त्रीलिलङ्गमें 'भवन्ती भवन्त्यौ भवन्त्यः' इत्यादि गोपीके समान रूप हैं। नपुंसकमें पूर्ववत् हैं। पचत्-शब्दका रूप सभी लिङ्गोंमें शत्-प्रत्ययान्त 'भवत्' शब्दके समान होता है। तुदत्-शब्द पुँलिलङ्गमें पचत्-शब्दके ही समान है। स्त्रीलिलङ्गमें डीप् प्रत्यय होनेपर उसके दो रूप होते हैं—तुदती और तुदन्ती, फिर इन दोनोंके रूप गोपी-शब्दकी भाँति चलते हैं। नपुंसकमें प्रथम दो विभक्तियोंके रूप इस प्रकार हैं—तुदत् तुदती

१. त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि—ये त्यदादि कहलाते हैं। २. एकके विषयमें दुबारा की हुई चर्चा अन्वादेश है, जैसे—'यह आया, इसे भोजन दो' इस वाक्यमें 'इसे' अन्वादेश हुआ। ३. कुछ मनीषी विद्वान् इसमें ५२७ रूपोंकी उद्घावना करते हैं। ४. पुँलिलङ्गमें इसके 'तिर्यङ् तिर्यञ्चौ' इत्यादि प्रत्ययङ्-शब्दकी तरह रूप होते हैं। द्वितीयाके बहुवचनमें 'तिरश्चः' रूप होता है। तृतीया आदिमें 'तिरश्चा तिर्यग्भ्याम्' इत्यादि रूप होते हैं। नपुंसकमें 'तिर्यकृ तिरश्ची तिर्यञ्चि' रूप होते हैं। पूजा-पक्षमें 'तिर्यङ् तिर्यञ्ची तिर्यञ्चि' रूप होते हैं। शेष पुँलिलङ्गवत्। ५. इसके रूप होते हैं—यकृत् यकृती यकृन्ति। यकृता यकृद्व्याम् इत्यादि। 'यकन्' आदेश होनेपर 'यकानि' रूप केवल 'शस्' विभक्तिमें होता है। तृतीया आदिके एकवचनमें 'यक्ना' आदि रूप अधिक होते हैं। ६. इसके रूप भी यकृत्-शब्दकी भाँति ही होते हैं। ७. इसके तीनों लिङ्गोंमें रूप होते हैं। पुँलिलङ्गमें 'भवन् भवन्तौ भवन्तः' इत्यादि 'धीमत्' शब्दके समान रूप हैं। स्त्रीलिलङ्गमें 'भवती भवत्यौ भवत्यः' इत्यादि गोपी-शब्दके समान रूप होते हैं। नपुंसकमें दो विभक्तियोंमें उसके 'भवत् भवती भवन्ति' रूप होते हैं। शेष पुँलिलङ्गवत्।

तुदन्ती तुदन्ति । शेष पुँलिङ्गवत् ॥ ४३ ॥
दीव्यद्वनुश्च पिपठीः पयोऽदः सुपुमांसि च ।
गुणद्रव्यक्रियायोगास्त्रिलिङ्गंश्च कति ब्रुवे ॥ ४४ ॥

दीव्यत्-शब्दके रूप सभी लिङ्गोंमें पचतके समान हैं। धनुष्-शब्दके रूप इस प्रकार हैं— धनुः धनुषी धनुंषि । धनुषा धनुर्भाम् इत्यादि । पिपठिष्-शब्दके रूप नपुंसकमें इस प्रकार हैं— ‘पिपठीः पिपठिषी पिपठींषि’ शेष पुँलिङ्गवत् । पयस्-शब्दके रूप तपस्-शब्दके समान होते हैं । यह दूध और जलका वाचक है । अदस्-शब्दके पुँलिङ्ग रूप बताये जा चुके हैं । जिस कुलमें अच्छे पुरुष होते हैं, उसे सुपुम् कहते हैं । अब हम कुछ ऐसे शब्दोंका वर्णन करते हैं, जो गुण, द्रव्य और क्रियाके सम्बन्धसे तीनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते हैं ॥ ४४ ॥

शुक्तः कीलालपाश्चैव शुचिश्च ग्रामणीः सुधी ।
पटुः स्वयम्भूः कर्ता च माता चैव पिता च ना ॥ ४५ ॥
सत्यानायुरपुंसश्च मतभ्रमरदीर्घपात् ।

धनाद्यसोम्यौ चागर्हस्तादृक् स्वर्णमथो बहु ॥ ४६ ॥

शुक्तैः, कीलालपा, शुचि, ग्रामणी, सुधी, पटु, स्वयम्भू तथा कर्ता । मातृ-शब्द यदि परिच्छेत्तुवाचक हो तो तीनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त होता है । इसके पुँलिङ्गरूप— माता, मातरौ, मातारः । इत्यादि; नपुंसकरूप— मातृ, मातृणी, मातृणि । इत्यादि और स्त्रीलिङ्गरूप—‘मात्री, मात्रौ मात्रः’ हैं । जननीवाची मातृ-शब्द नित्य-स्त्रीलिङ्ग है । इसके रूप इस प्रकार हैं—‘माता मातरौ मातरः । मातरम् मातरौ मातृः’ इत्यादि । इसके शेष रूप स्वसृ-शब्दके समान हैं । पितृ-शब्द यदि कुलका विशेषण हो तो नपुंसकमें प्रयुक्त हो सकता है । अन्यथा वह नित्य पुँलिङ्ग है । इसके रूप ‘पिता पितरौ पितरः । पितरम् पितरौ पितृन्’ इत्यादि हैं । शेष कर्तृशब्दके समान समझने चाहिये । नृ-शब्द नित्य पुँलिङ्ग है और उसके सभी रूप पितृ-शब्दके समान हैं । केवल षष्ठीके बहुवचनमें इसके दो रूप होते हैं ‘नृणाम् नृणाम्’ ।

१. स्त्रीलिङ्गमें इसके पूरे रूप इस प्रकार हैं—असौ अमू अमूः । अमूम् अमू अमूः । अमूया अमूभ्याम् ३ अमूभिः । अमूष्यै अमूभ्यः २ । अमूष्याः २ । अमूयोः २ अमूषाम् । अमूष्याम् अमूषु ॥ नपुंसकलिङ्गमें प्रथम दो विभक्तियोंके रूप ‘अदः अमू अमूनि’ हैं । शेष पुँलिङ्गवत् । २. सुपुम् सुपुंसी सुपुमांसि । शेष विभक्तियोंमें पुंस्-शब्दकी तरह रूप होते हैं । ३. ‘शुक्त’ (सीप या सुतुही) शब्दके पुँलिङ्गरूप—शुक्तः शुक्तौ शुक्ताः । शुकं शुक्तौ शुक्तान् । शुक्तेन शुक्ताभ्यां शुक्तैः । शुक्ताय शुक्ताभ्याम् शुकेभ्यः । शुक्तात् शुक्ताभ्यां शुकेभ्यः । शुक्तस्य शुक्तयोः शुक्तानाम् । शुक्ते शुक्तयोः शुक्तेषु । हे शुक्त शुक्तौ शुक्ताः । इस प्रकार हैं । स्त्रीलिङ्गमें ‘शुक्ता शुक्ते शुक्ताः’ इत्यादि ‘राधा’के समान रूप हैं । नपुंसकमें ‘शुकं शुक्ते शुक्तानि’ ये प्रथमा और द्वितीया विभक्तिके रूप हैं । शेष पुँलिङ्गवत् रूप हैं । ४. ‘कीलालपा’ (जल पीनेवाला) के सभी रूप गोपाके समान हैं । और नपुंसकमें कुलके समान रूप होते हैं । ‘शुचि’ (पवित्र) शब्दके पुँलिङ्गरूप हरिके समान हैं । स्त्रीलिङ्गरूप ‘गति’ के समान और नपुंसकरूप ‘वारि’ के समान हैं । ग्रामणी (ग्रामका नेता) के पुँलिङ्गरूप बताये गये हैं । स्त्रीलिङ्गरूप भी प्रायः वे ही हैं । नपुंसकके भी बताये जा चुके हैं । ‘सुधी’ शब्दका अर्थ है श्रेष्ठ बुद्धिवाला तथा विद्वान् । पुँलिङ्ग और स्त्रीलिङ्गमें ‘सुधीः सुधियौ, सुधियः’ इत्यादि रूप होते हैं । नपुंसकमें ‘सुधि, सुधिनी, सुधीनि’ इत्यादि रूप हैं । ‘पटु’ (समर्थ)-के पुँलिङ्ग रूप ‘भानु’ के समान, स्त्रीलिङ्ग ‘धेनु’ के समान और नपुंसकरूप ‘पटु पटुनी पटुनि’ हैं; शेष भानुवत् । ‘स्वयम्भू’ (ब्रह्मा)-के पुँलिङ्गरूप बताये गये हैं, स्त्रीलिङ्गमें भी वैसे ही होते हैं । नपुंसकमें ‘स्वयम्भू वयम्भुनी स्वयम्भूनि’ रूप होते हैं । शेष पुँलिङ्गवत् । ‘कर्तृ’ शब्दके पुँलिङ्ग और नपुंसक रूप बताये गये हैं । स्त्रीलिङ्गमें ‘गोपी’ शब्दके समान ‘कर्त्री’ शब्दके रूप चलते हैं ।

सत्य, अनायुष्, अपुंस्, मत, भ्रमर, दीर्घपात्, धनाढ्य, सोम्य, अगर्ह, तादृक्, स्वर्ण, बहु—ये शब्द भी तीनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते हैं^१ ॥४६॥

सर्वं विश्वोभये चोभौ अन्यान्यतरेतराणि च ॥४७॥
डतरो डतमो नेमस्त्वत्समौ त्वसिमावपि।

पूर्वः परावरौ चैव दक्षिणश्चोत्तराधरौ ॥४८॥
अपरः स्वोऽन्तरस्त्यत्तद्यदेवेतल्किमसावयम्।

युष्मदस्मच्च प्रथमश्चरमोऽन्यस्तयाधर्कः ॥४९॥
नेमः कतिपयो द्वे निपाताः स्वरादयस्तथा।

उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपाश्चाव्ययाः ॥५०॥

अब सर्वनामशब्दोंको सूचित करते हैं—सर्व, विश्व, उभय, उभ, अन्य, अन्यतर, इतर, डतर, डतम, नेम, त्व, त्वत्, सम, सिम, पूर्व, पर,

अवर, दक्षिण, उत्तर, अधर, अपर, स्व, अन्तर, त्यत्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, किम्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवत्। ये सर्वनाम हैं और इनके रूप प्रायः^२ सर्व-शब्दके समान ही हैं। प्रथम, चरम, तय, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम—इन शब्दोंके प्रथमाके बहुवचनमें दो रूप होते हैं यथा—प्रथमे प्रथमाः, चरमे चरमाः इत्यादि।

स्वरादि और निपात तथा उपसर्ग, विभक्ति एवं स्वरके प्रतिरूपक शब्द अव्ययसंज्ञक होते हैं ॥४७-५०॥

तद्विताश्चाव्यपत्यार्थं पाण्डवाः श्रैधरस्तथा।

गार्ण्यो नाडायनात्रेयौ गाङ्गेयः पैतृष्वस्त्रीयः ॥५१॥

अब तद्वित-प्रत्ययान्त शब्दोंका उल्लेख करते

१. 'सत्य' शब्द जब सामान्यतः सत्य भाषणके अर्थमें आता है, तब नपुंसक होता है और विशेषणरूपमें प्रयुक्त होनेपर विशेष्यके अनुसार तीनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त होता है। इसके पूँलिलिङ्गरूप—सत्यः सत्यौ सत्याः—इत्यादि रामवत् हैं। स्त्रीलिङ्गरूप—राधाके समान हैं—सत्ये सत्ये सत्याः। नपुंसकरूप—'सत्यम् सत्ये सत्यानि' हैं। शेष रामवत्। 'अनायुष्' शब्दका अर्थ है आयुहीन। पूँलिलिङ्गमें—'अनायुः, अनायुषौ, अनायुषः' इत्यादि। स्त्रीलिङ्गमें भी ये ही रूप हैं। नपुंसकलिङ्गमें 'अनायुः अनायुषी अनायूषि' इत्यादि। 'अपुंस्' का अर्थ है, पुरुषरहित। पूँलिलिङ्गमें—अपुमान् इत्यादि, स्त्रीलिङ्गमें 'अपुंस्का' आदि तथा नपुंसकमें 'अपुम्' इत्यादि रूप होते हैं। मतका अर्थ है—'अभिमत, राय' आदि। 'मतः', मता। मतम् ये क्रमशः पूँलिलिङ्ग आदिके रूप हैं। 'भ्रमर'का अर्थ है भौंरा या घूमकर शब्द करनेवाला। पूँलिलिङ्गमें भ्रमरः, स्त्रीलिङ्गमें भ्रमरी, नपुंसकमें भ्रमरम्, इत्यादि रूप होते हैं। जिसके पैर बड़े हों, वह 'दीर्घपात्' हैं। तीनों लिङ्गोंमें 'दीर्घपात्' यही प्रथम रूप है। 'धनाढ्य' का अर्थ है धनी। धनाढ्यः, धनाढ्या, धनाढ्यम्—ये क्रमशः तीनों लिङ्गोंके प्रथम रूप हैं। 'सोम्य' का अर्थ है शान्त, मृदु स्वभाववाला। रूप धनाढ्यके ही तुल्य है। 'अगर्ह' का अर्थ है निन्दारहित। रूप पूर्ववत् है। 'तादृश्' शब्दका अर्थ है, 'वैसा'। इसके 'तादृक् तादृशौ तादृशः' इत्यादि पूँलिलिङ्ग और स्त्रीलिङ्गमें रूप होते हैं, नपुंसकमें तादृक् तादृशी तादृशि रूप होते हैं। स्वर्णका अर्थ है सोना। रूप धनाढ्यवत् है। तीनों लिङ्गोंमें 'बहु' के रूप क्रमशः बहवः। बह्यः। बहूनि इत्यादि हैं। २. प्रायः इसलिये कहा गया कि कुछ शब्दोंके रूपमें कहीं-कहीं अन्तर है। जैसे पूर्व पर अवर दक्षिण अपर उत्तर अधर—ये व्यवस्था और असंज्ञामें ही सर्वनाम माने जाते हैं। जहाँ संज्ञा हो अथवा व्यवस्थाभिन्न अर्थमें इन शब्दोंका प्रयोग हो वहाँ इनका रूप 'सर्व' शब्दके समान न होकर 'राम' शब्दके समान हो जाता है। यथा—दक्षिणः गायकाः, उत्तराः कुरवः। यहाँ दक्षिण-शब्द कुशल अर्थमें और उत्तर-शब्द देशकी संज्ञामें प्रयुक्त हुए हैं। व्यवस्था और असंज्ञामें यद्यपि ये सर्वनामसंज्ञक होते हैं, तथापि प्रथमाके बहुवचनमें तथा पञ्चमी और सप्तमीके एकवचनमें इनकी सर्वनामसंज्ञा वैकल्पिक होती है। अतः उन स्थलोंमें दो-दो रूप होते हैं—एक सर्ववत् दूसरा रामवत्। यथा—'पूर्वे पूर्वाः, पूर्वस्मात्, पूर्वात्, पूर्वस्मिन् पूर्वे' इत्यादि। शेष सभी रूप सर्ववत् हैं। ज्ञाति और धनसे भिन्न अर्थमें 'स्व' शब्दका रूप भी पूर्वादिके समान ही होता है। बाह्य और परिधानीय (पहननेयोग्य वस्त्र) अर्थमें प्रयुक्त अन्तर शब्दका रूप भी पूर्वादिके ही समान होता है। डतर और डतम शब्द प्रत्यय हैं। अतः तदन्त शब्द ही यहाँ सर्वादिमें गृहीत होते हैं, यथा—यतर यतम ततर ततम कतर कतम इत्यादि।

हैं। निम्राङ्कित शब्द अपत्यवाचक संज्ञाके रूपमें प्रयुक्त होते हैं। पाण्डव, श्रीधर, गार्ग्य, नाडायन, आत्रेय, गाङ्गेय, पैतृष्वस्त्रीय^१ ॥५१॥

देवतार्थं चेदमर्थं हौन्द्रं ब्राह्मो हविर्बलिः ।

क्रियायुजोः कर्मकर्त्रांधौरैयः कौड़कुमं तथा ॥५२॥

निम्राङ्कित शब्द देवतार्थक और इदमर्थक प्रत्ययसे युक्त हैं। यथा—ऐन्द्रं हविः, ब्राह्मो बलिः^२। क्रियामें संयुक्त कर्म और कर्तासे तद्वित प्रत्यय होते हैं—धुरं वहति इति धौरैयः। जो धुर् अर्थात् भारको वहन करे, वह धौरैय है। यहाँ धुर् शब्द कर्म है और वहन-क्रियामें संयुक्त भी है, अतः उससे 'एय' यह तद्वित प्रत्यय हुआ। आदि स्वरकी वृद्धि हुई और 'धौरैय' शब्द सिद्ध हुआ। इसी प्रकार कुड़कुमेन रक्तं वस्त्रम्—इसमें कुड़कुम शब्द 'रङ्गना' क्रियाका कर्ता है और वह उसमें संयुक्त भी है। अतः उससे तद्वित अण् प्रत्यय होकर आदिपदकी वृद्धि हुई और 'कौड़कुम' शब्द सिद्ध हुआ ॥५२॥

भवाद्यर्थं तु कानीनः क्षत्रियो वैदिकः स्वकः ।

स्वार्थं चौरस्तु तुल्यार्थं चन्द्रवन्मुखमीक्षते ॥५३॥

अब 'भव' आदि अर्थोंमें होनेवाले तद्वित प्रत्ययोंका उदाहरण देते हैं—कन्यायां भवः कानीनः। जो अविवाहिता कन्यासे उत्पन्न हुआ हो, उसे 'कानीन'^३ कहते हैं। क्षत्रस्यापत्यं जातिः क्षत्रियः।

क्षत्रकुलसे उत्पन्न उसी जातिका बालक 'क्षत्रिय'^४ कहलाता है। वेदे भवः वैदिकः। इक-प्रत्यय और आदि स्वरकी वृद्धि हुई है। स्व एव स्वकः। यहाँ स्वार्थमें 'क' प्रत्यय है। चोर एव चौरः, स्वार्थमें अण् प्रत्यय हुआ है। तुल्य-अर्थमें वत् प्रत्यय होता है। यथा—चन्द्रवन्मुखमीक्षते—चन्द्रमाके समान मुख देखता है। चन्द्र+वत्=चन्द्रवत् ॥५३॥ ब्राह्मणत्वं ब्राह्मणता भावे ब्राह्मण्यमेव च। गोमानधनी च धनवानस्त्वर्थं प्रमितौ कियान् ॥५४॥

भाव-अर्थमें त्वं, ता और य प्रत्यय होते हैं यथा—ब्राह्मणस्य भावः ब्राह्मणत्वम्, ब्राह्मणता, ब्राह्मण्यम्। अस्त्वर्थमें मतुप् और इन् प्रत्यय होते हैं—गौः अस्यास्ति इति गोमान्। धनमस्यास्ति इति धनी (जिसके पास गौ हो, वह 'गोमान्', जिसके पास धन हो, वह 'धनी' है)। अकारान्त, मकारान्त तथा मकारोपध शब्दसे एवं झयन्त शब्दसे परे मतके 'म'का 'व' हो जाता है—यथा धनमस्यास्ति इति धनवान्। परिमाण-अर्थमें 'इदम्', 'किम्', 'यत्', 'तत्', 'एतत्'—इन शब्दोंसे वतुप् प्रत्यय होता है, किंतु 'इदम्' और 'किम्' शब्दोंसे परे वतुप्के वकारका 'इय्' आदेश हो जाता है। दृक्, दृश्, वतु—ये परे हों तो इदम्के स्थानमें 'ई' तथा 'किम्'के स्थानमें 'कि' हो जाते हैं। किं परिमाणं यस्य स कियान्—यहाँ परिमाण-अर्थमें वतुप्-

१. इनके क्रमशः अर्थ इस प्रकार हैं—पाण्डुपुत्र, श्रीधर-पुत्र, गर्गकी संतानपरम्परा, नडगोत्रमें उत्पन्न संतान, अत्रि-पुत्र, गङ्गापुत्र (भीष्म) तथा बुआका पुत्र। यहाँ प्रथम दोमें अण्, तीसरेमें यज्, चौथेमें आयन, पाँचवें, छठेमें एय और सातवेंमें ईय प्रत्यय हुए हैं। प्रत्येकमें आदि स्वरकी वृद्धि हुई है। तद्वित शब्दोंमें 'कृत्तद्वितसमासाश्च' (कृदन्त, तद्वितान्त और समासकी प्रातिपदिक संज्ञा होती है) इस नियमसे प्रातिपदिक संज्ञा करके सु आदि विभक्तियाँ आती हैं। २. ऐन्द्रं हविः का अर्थ है—इस हविष्यके देवता इन्द्र हैं। ब्राह्मो बलिः का अर्थ है—यह ब्रह्माके लिये बलि है। एकमें देवता-अर्थमें अण् प्रत्यय हुआ है और दूसरेमें 'तस्य इदम्' (उसका यह) इस अर्थमें अण् प्रत्यय हुआ है। दोनोंमें आदि स्वरकी वृद्धि हुई है।

३. महर्षि व्यास और कर्ण कानीन थे। कन्या-शब्दसे अण् होनेपर कन्या-शब्दके स्थानमें कानीन आदेश होता है और आदिपदकी वृद्धि होनेसे कानीन बनता है। ४. क्षत्र+इय्=क्षत्रियः। 'त्र' के 'अ' का लोप होकर वह 'इय्' के 'ई' में मिला है। ५. मतुप्में उपका लोप हो जाता है, फिर धीमान्-शब्दकी तरह रूप चलते हैं। धनिन् शब्दका रूप दण्डन्-शब्दके समान समझना चाहिये।

प्रत्यय, इयादेश तथा 'कि'-भाव करनेसे कियान् बनता है। इसका अर्थ है—'कितना'॥५४॥

जातार्थे तुंदिलः श्रद्धालुरौन्नत्ये तु दन्तुरः।

स्नावी तपस्वी मेधावी मायाव्यस्त्यर्थं एव च॥५५॥

अब जातार्थमें होनेवाले प्रत्ययोंका उदाहरण देते हैं। तुन्दः संजातः अस्य तुन्दिलः। जिसको तोंद हो जाय, उसे 'तुन्दिल' कहते हैं। तुन्द+इल = तुन्दिल। श्रद्धा संजाता अस्य इति श्रद्धालुः। श्रद्धा+आलु। (इसी प्रकार दयालु, कृपालु आदि बनते हैं।) दाँतोंकी ऊँचाई व्यक्त करनेके लिये दन्त शब्दसे उर-प्रत्यय होता है। उन्नताः दन्ता अस्य इति दन्तुरः (ऊँचे दाँतवाला)। अस्, माया, मेधा तथा स्नावी—इन शब्दोंसे अस्त्यर्थमें विन् प्रत्यय होता है। इनके उदाहरण क्रमसे तपस्वी, मायावी, मेधावी (बुद्धिमान्) और स्नावी हैं। स्नावीका अर्थ माला धारण करनेवाला है॥५५॥

वाचालश्वैव वाचाटो बहुकुत्सितभाषिणि।

ईषदपरिसमाप्तौ कल्पब्देशीय एव च॥५६॥

खराब बातें अधिक बोलनेवालेके अर्थमें वाच् शब्दसे 'आल' और 'आट' प्रत्यय होते हैं। कुत्सितं बहु भाषते इति वाचालः, वाचाटः। ईषत् (अल्प) और असमाप्तिके अर्थमें कल्पप्, देश्य और देशीय प्रत्यय होते हैं॥५६॥

कविकल्पः कविदेश्यः प्रकारवचने तथा।

पटुजातीयः कुत्सायां वैद्यपाशः प्रशंसने॥५७॥

वैद्यरूपो भूतपूर्वे मतो दृष्टचरो मुने।

प्राचुर्यादिष्वन्नमयो मृन्मयः स्त्रीमयस्तथा॥५८॥

जैसे—ईषत्, ऊँ: कवि: कविकल्पः, कविदेश्यः, कविदेशीयः। जहाँ प्रकार बतलाना हो, वहाँ किम् और सर्वनाम आदि शब्दोंसे 'था' प्रत्यय होता है। तेन प्रकारेण तथा। तत्+था=तथा। त्यदादि शब्दोंका अन्तिम हल्, निवृत्त होकर वे अकारान्त हो जाते

हैं, विभक्ति परे रहनेपर। (था, दा, त्र, तस् आदि प्रत्यय विभक्तिरूप माने गये हैं)। इस नियमके अनुसार तत्के स्थानमें त हो जानेसे 'तथा' बना। जहाँ किसी विशेष प्रकारके व्यक्तिका प्रतिपादन हो, वहाँ जातीय प्रत्यय होता है। यथा—पटुप्रकारः—पटुजातीयः। पटु-शब्दसे जातीय प्रत्यय हुआ। किसीकी हीनता प्रकाशित करनेके लिये संज्ञाशब्दसे पाश प्रत्यय होता है। जैसे—कुत्सितो वैद्यः वैद्यपाशः (खराब वैद्य)। प्रशंसा-अर्थमें रूप प्रत्यय होता है। यथा—प्रशस्तो वैद्यः वैद्यरूपः (उत्तम वैद्य)। मुनिवर नारदजी! भूतपूर्व अर्थको व्यक्त करनेके लिये चर प्रत्यय होता है। यथा—पूर्व दृष्टे दृष्टचरः (पहलेका देखा हुआ)।

प्राचुर्य (अधिकता) और विकारार्थ आदि व्यक्त करनेके लिये मय प्रत्यय होता है। जैसे—अन्नमयो यज्ञः। जिसमें अधिक अन्न व्यय किया जाय, वह अन्नमय यज्ञ है। यहाँ अन्न-शब्दसे मयट् प्रत्यय हुआ। इसी प्रकार मृन्मयः अश्वः (मिट्टीका घोड़ा) तथा स्त्रीमयः पुरुषः इत्यादि उदाहरण समझने चाहिये॥५७-५८॥

जातार्थे लज्जितोऽत्यर्थे श्रेयाङ्क्लेष्ठश्च नारद।

कृष्णतः शुक्लतमः किम् आख्यानतोऽव्ययात्॥५९॥

किन्तरां चैवातितरामपि ह्युच्चैस्तरामपि।

परिमाणे जानुदग्धं जानुद्वयसमित्यपि॥६०॥

जात-अर्थमें तारकादि शब्दोंसे इत प्रत्यय होता है। यथा—लज्जा संजाता अस्य इति लज्जितः* (जिसके मनमें लज्जा पैदा हो गयी हो, उसे लज्जित कहते हैं)। नारदजी! यदि बहुतोंमेंसे किसी एककी अधिक विशेषता बतानी हो तो तम और इष्ट प्रत्यय होते हैं और दोमेंसे एककी विशेषता बतलानी हो तो तर और ईयसु प्रत्यय होते हैं। ईयसुमें उकार इत्संज्ञक है। अयम् एषां अतिशयेन प्रशस्यः

* इकार और तद्धित परे रहनेपर असंज्ञक इवर्ण और अवर्णका लोप हो जाता है, इस नियमके अनुसार 'लज्जा+इत' इस स्थितिमें 'अ'का लोप हो जाता है।

श्रेष्ठः^१ (यह इन सबमें अधिक प्रशंसनीय है, अतः श्रेष्ठ है)। द्वयोः प्रशस्य श्रेयान् (दोमेंसे जो एक अधिक प्रशंसनीय है, वह श्रेयान् कहलाता है। यहाँ भी प्रशस्य+ईयस्=श्रेयस् (पूर्ववत् श्र आदेश हुआ)। इसके रूप इस प्रकार हैं—श्रेयान् श्रेयांसौ श्रेयांसः। श्रेयांसम् श्रेयांसौ श्रेयसः। श्रेयसा श्रेयोभ्याम् श्रेयोभिः इत्यादि। इसी प्रकार जो दोमेंसे एक अधिक कृष्ण है, उसे कृष्णतर और जो बहुतोंमेंसे एक अधिक शुक्ल है, उसे शुक्लतम कहते हैं। कृष्ण+तर=कृष्णतर। शुक्ल+तम=शुक्लतम। किम्, क्रियावाचक शब्द (तिडन्त) और अव्ययसे परे जो तम और तर प्रत्यय हैं, उनके अन्तमें आम् लग जाता है। उदाहरणके लिये किंतराम्, अतितराम् तथा उच्चैस्तराम् इत्यादि प्रयोग हैं। प्रमाण (जल आदिके माप) व्यक्त करनेके लिये द्वयस, दघ्र और मात्र प्रत्यय होते हैं। जानु प्रमाणम् अस्य इति जानुदध्नं जलम् (जो घुटनेतक आता हो, उस जलको जानुदध्न कहते हैं) जानु+दध्न=जानुदध्न। इसी प्रकार जानुद्वयसम् और जानुमात्रम्—ये प्रयोग भी होते हैं॥ ५९-६०॥

जानुमात्रं च निद्वारिबहूनां च द्वयोः क्रमात्।
कतमः कतरः संख्येयविशेषावधारणे॥ ६१॥
द्वितीयश्च तृतीयश्च चतुर्थः षष्ठपञ्चमौ।
एकादशः कतिपयथः कतिथः कति नारद॥ ६२॥
दोमेंसे एकका और बहुतोंमेंसे एकका निश्चय करनेके लिये 'किम्' 'यत्' और 'तत्' शब्दोंसे

क्रमशः डतर और डतम प्रत्यय होते हैं। यथा— भवतोः कतरः^२ श्यामः (आप दोनोंमें कौन श्याम है?) भवतां कतमः श्रीरामः ? (आपलोगोंमें कौन श्रीराम है?)। संख्या (गणना) करनेयोग्य वस्तुविशेषका निश्चय करनेके लिये द्वि-शब्दसे द्वितीय, त्रि-शब्दसे तृतीय^३, चतुर्-शब्दसे चतुर्थ और षष्ठ-शब्दसे षष्ठ रूप बनते हैं। इनका अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—दूसरा, तीसरा, चौथा और छठा। पञ्चन्, सप्तन्, अष्टन्, नवन् और दशन्— इन शब्दोंके 'न्' कारको मिटाकर 'म'कार बढ़ जाता है, जिससे पञ्चम, सप्तम, अष्टम, नवम, दशम रूप बनते हैं। एकादशन्से अष्टादशन्तक उक्त अर्थमें 'न्' कारका लोप होकर सभी शब्द अकारान्त हो जाते हैं, जिनके 'राम' शब्दके समान रूप होते हैं। यथा एकादशः द्वादशः इत्यादि। नारदजी! कति और कतिपय शब्दोंसे थ-प्रत्यय होता है, जिससे कतिथः और कतिपयथः पद बनते हैं॥ ६१-६२॥

विंशश्च विंशतितमस्तथा शततमादयः।

द्वैथा द्वैथा द्वैथा संख्या प्रकारेऽथ मुनीश्वर॥ ६३॥

बीसवेंके अर्थमें विंशः और विंशतितमः^४— ये दो रूप होते हैं। शत आदि संख्यावाचक शब्दोंसे (तथा मास, अर्धमास एवं संवत्सर शब्दोंसे) नित्य 'तम' प्रत्यय होता है। यथा—शततमः (एकशततमः, मासतमः, अर्धमासतमः, संवत्सरतमः)। मुनीश्वर! क्रियाके प्रकारका बोध करनेके लिये संख्यावाचक

१. प्रशस्य+इष्ट=श्रेष्ठ (प्रशस्य-शब्दके स्थानमें 'श्र'आदेश हो जाता है, फिर गुण करनेसे श्रेष्ठ-शब्द बनता है)।
२. किम्+डतर, किम्+डतम। यहाँ डकार इत्संज्ञक है। डित् प्रत्यय परे रहनेपर पूर्ववर्ती शब्दके टिभागका लोप होता है। अन्तिम स्वर और उसके बादके हल् अक्षर भी 'टि' कहलाते हैं। 'किम्' में 'क' छोड़कर 'इम्' भाग 'टि' है। उसका लोप हुआ। क्+अतर=क्+अतम मिलकर 'कतर' और 'कतम' शब्द बने। इसी प्रकार यतर, यतम, ततर, ततम—ये शब्द भी बनते हैं। ३. 'त्रि+तीय' इस अवस्थामें 'त्रि' के स्थानमें सम्प्रसारण-पूर्वरूप होकर 'तृतीय' रूप बनता है। ४. इससे आगेकी सभी संख्याओंमें इसी प्रकारके दो रूप होते हैं। साठवेंके अर्थमें केवल तम प्रत्ययका विधान है। यथा—सप्ततितमः, अशीतितमः, नवतितमः इत्यादि। आदिमें संख्या लग जानेपर तो 'विंशः विंशतितमः' की भाँति दो-दो रूप होते ही हैं—जैसे एकषष्ठः एकषष्ठितमः इत्यादि।

शब्दसे स्वार्थमें 'धा' प्रत्यय होता है—जैसे (एकधा) द्विधा, त्रिधा इत्यादि ॥ ६३ ॥

क्रियावृत्तौ पञ्चकृत्वो द्विस्त्रिवर्बहुश इत्यपि ।

द्वितयं त्रितयं चापि संख्यायां हि द्वयं त्रयम् ॥ ६४ ॥

क्रियाकी आवृत्तिका बोध करानेके लिये कृत्वस् प्रत्यय होता है और 'स्' कारकका विसर्ग हो जाता है। यथा—पञ्चकृत्वः^२ (पाँच बार), द्विः^३, त्रिः (दो बार, तीन बार)। बहु-शब्दसे 'धा, शस् एवं कृत्वस्' तीनों ही प्रत्यय होते हैं—यथा बहुधा, बहुशः, बहुकृत्वः। संख्याके अवयवका बोध करानेके लिये 'तय' प्रत्यय होता है। उदाहरणके लिये द्वितय, त्रितय, चतुष्टय और पञ्चतय आदि शब्द हैं। द्वि और त्रि शब्दोंसे आगे जो 'तय' प्रत्यय है, उसके स्थानमें विकल्पसे अय हो जाता है; फिर द्वि और त्रि शब्दके इकारका लोप होनेसे द्वय, त्रय शब्द बनते हैं ॥ ६४ ॥

कुटीरश्च शमीरश्च शुण्डारोऽल्पार्थके मतः ।

स्त्रैणः पौँस्नस्तुण्डभश्च वृन्दारककृषीवलौ ॥ ६५ ॥

कुटी, शमी और शुण्ड शब्दसे छोटेपनका बोध करानेके लिये 'र' प्रत्यय होता है। छोटी कुटीको कुटीर कहते हैं। कुटी+र=कुटीरः। इसी प्रकार छोटी शमीको शमीर और छोटी शुण्डाको शुण्डार कहते हैं। शुण्डा-शब्द हाथीकी सूँड़ और मद्यशाला (शराबखाने)-का बोधक है। स्त्री और पुंस शब्दोंसे नज् प्रत्यय होता है। आदि स्वरकी वृद्धि होती है। ज्-कार इत्संज्ञक है। नके स्थानमें ण होता है। इस प्रकार स्त्रैण शब्द बनता है। जिस पुरुषमें स्त्रीका स्वभाव हो तथा जो स्त्रीमें

अधिक आसक्त हो, उसे स्त्रैण कहते हैं। पुंस+न, आदिवृद्धि=पौँसन (पुरुषसम्बन्धी)। तुण्ड आदि शब्दोंसे अस्त्यर्थमें 'भ' प्रत्यय होता है। तुण्ड+भ=तुण्डभः (बढ़ी हुई नाभिवाला)। शृङ्ग और वृन्द शब्दोंसे अस्त्यर्थमें 'आरक' प्रत्यय होता है। शृङ्ग+आरक=शृङ्गारकः (पर्वत)। वृन्द+आरक= वृन्दारकः (देवता)। रजस् और कृषि आदि शब्दोंसे 'बल' प्रत्यय होता है, रजस्वला स्त्री, कृषीवलः (किसान) ॥ ६५ ॥

मलिनो विकटो गोमी भौरिकिबिधमुत्कटम् ।

अवटीटोऽवनाटश्च निविं चेक्षुशाकिनम् ॥ ६६ ॥

निविरीसमैषुकारिभक्तं विद्याचणस्तथा ।

विद्याचञ्चुर्बहुतिथं पर्वतः शृङ्गिणस्तथा ॥ ६७ ॥

स्वामी विषमं रूप्यं चोपत्यकाधित्यका तथा ।

चिल्लश्च चिपिटं चिकं वातूलं कुतुपस्तथा ॥ ६८ ॥

बलूलश्च हिमेलुश्च कहिकश्चोपडस्ततः ।

ऊर्णायुश्च मरुत्तश्चैकाकी चर्मणवती तथा ॥ ६९ ॥

ज्योत्स्ना तमिस्त्राऽष्टीवच्च कक्षीवद्गुमणवती ।

आसन्दीवच्च चक्रीवत्तूष्णीकां जल्पतव्यपि ॥ ७० ॥

मल-शब्दसे अस्त्यर्थमें इन प्रत्यय होता है। मलम् अस्यास्ति इति मलिनः (मलयुक्त)। मल+इन अकार-लोप=मलिन। सम्, प्र, उद् और वि-इनसे कट प्रत्यय होता है,—यथा संकटः, प्रकटः, उत्कटः, विकटः। गो-शब्दसे मिन्-प्रत्यय होता है। अस्त्यर्थमें—गो+मिन्=गोमी (जिसके पास गौए हों, वह पुरुष) ज्योत्स्ना (चाँदनी), तमिस्त्रा (अँधेरी रात), शृङ्गिण, (शृङ्गवाला), ऊर्जस्विन् (ओजस्वी), ऊर्जस्वल, गोमिन्, मलिन और मलीमस (मलिन)—

१. द्वि और त्रि शब्दोंके इकारका विकल्पसे एकार भी हो जाता है। यथा—द्वेधा, त्रेधा। द्वि और त्रि शब्दोंसे 'धम्' प्रत्यय और आदिस्वरकी वृद्धि—ये दो कार्य और भी होते हैं। यथा—द्वैधम्, त्रैधम्।

२. था, धा, त्र, तस्, कृत्वस् आदि प्रत्यय जिन शब्दोंके अन्तमें लगते हैं, वे तद्धितान्त अव्यय माने जाते हैं। ३. द्वि, त्रि और चतुर् शब्दोंसे कृत्वस् न होकर केवल 'सुच्' प्रत्यय होता है। इसमें केवल 'स' रहता है और 'उ'कार तथा 'च'कारकी 'इत्संज्ञा' हो जाती है। प्रयोगमें सकारका विसर्ग हो जाता है। चतुर्-शब्दके आगे स 'स'का लोप होता है और 'र' का विसर्ग हो जाता है। इस प्रकार क्रमशः द्विः त्रिः चतुः—ये रूप बनते हैं। ये तीनों अव्यय हैं।

ये शब्द मत्वर्थमें निपातनसिद्ध हैं। 'भौरिकिविधम्' इसकी व्युत्पत्ति यों है—भौरिकीणां विषयो देशः—भौरिकिविधम् (भौरिकि नामवाले वर्ग-विशेषके लोगोंका देश)। ऐषुकारीणाम् विषयो देशः—ऐषुकारिभक्तम् (ऐषुकारि—बाण बनानेवाले लोगोंका देश)। इन दोनों उदाहरणोंमें क्रमशः 'विध' एवं 'भक्त' प्रत्यय हुए हैं। भौरिक्यादि तथा ऐषुकार्यादि शब्दोंसे 'विध' एवं 'भक्त' प्रत्यय होनेका नियम है। उत्कटम्—इसकी सिद्धिका नियम पहले बताया गया है, नासिकाकी निचाई व्यक्त करनेके लिये 'अव' उपसर्गसे' 'टीट', 'नाट' और 'भ्रट' प्रत्यय होते हैं। तथा नि उपसर्गसे 'विड' और 'विरीस' प्रत्यय होते हैं। इसके सिवा 'नि'से 'इन' और 'पिट' प्रत्यय भी होते हैं। 'इन'-प्रत्यय परे होनेपर 'नि'के स्थानमें चिक् आदेश हो जाता है और 'पिट'प्रत्यय परे होनेपर 'नि'के स्थानमें 'चि' आदेश होता है। मूलोक्त उदाहरण इस प्रकार हैं—अवटीटः, अवनाटः (अवभ्रटः)=नीची नाकवाला पुरुष। निविडम् (नीची नाक), निविरीसम्, चिकिनम्, चिपिटम्, चिकम्—इन सबका अर्थ नीची नाक है। जिसके आँखसे पानी आता हो, उसको 'चिल्ल' और 'पिल्ल' कहते हैं। ल प्रत्यय है और विलन्न-शब्द प्रकृति है—जिसके स्थानमें चिल्ल और पिल्ल आदेश हुए हैं। पैदा करनेवाले खेतके अर्थमें पैदावार-वाचक शब्दसे शाकट और शाकिन प्रत्यय होते हैं। जैसे 'इक्षुशाकटम्' 'इक्षुशाकिनम्'। उसके द्वारा विख्यात है, इस अर्थमें चञ्चु और चण प्रत्यय होते हैं। जो विद्यासे विख्यात है, उसे 'विद्याचण' और 'विद्याचञ्चु' कहते हैं। बहु आदि शब्दोंसे 'तिथ' प्रत्यय होता है, पूरण अर्थमें। बहूनां पूरणम् इति=बहुतिथम्। शृङ्गिण-शब्द पर्वतका वाचक है, इसे निपात-सिद्ध बताया जा चुका है। ऐश्वर्यवाचक स्व-शब्दसे आमिन् प्रत्यय होता है—स्व+आमिन्=स्वामी (अधीश्वर या मालिक)। 'रूप'

शब्दसे आहत और प्रशंसा अर्थमें 'य' प्रत्यय होता है। यथा विषमम्, आहतं वा रूपमस्यास्तीति—रूप्यः कार्षापणः (खराब पैसा), रूप्यम् आभूषणम् (खराब आभूषण) इत्यादि। 'उप' और 'अधि' से त्यक प्रत्यय होता है, क्रमशः समीप एवं ऊँचाईकी भूमिका बोधक होनेपर। पर्वतके पासकी भूमिको 'उपत्यका' (तराई) कहते हैं और पर्वतके ऊपरकी (ऊँची) भूमिको 'अधित्यका' कहते हैं। 'वात' शब्दसे 'ऊल' प्रत्यय होता है, असहन एवं समूहके अर्थमें। वातं न सहते वातूलः। जो हवा न सह सके, वह 'वातूल' है। वात+ऊल, अलोप=वातूलः। वातके समूह (आँधी)-को भी 'वातूल' कहते हैं। 'कुतू' शब्दसे 'डुप' प्रत्यय होता है, डकार इत्संज्ञक, टिलोप। हस्वा कुतूः कुतुपः (चमड़ेका तैलपात्र—कुप्पी)। बलं न सहते (बल नहीं सहता)—इस अर्थमें बल-शब्दसे 'ऊल'-प्रत्यय होता है। बल+ऊल=बलूलः। हिमं न सहते (हिमको नहीं सहता) इस अर्थमें हिमसे एलु प्रत्यय होता है। हिम+एलु=हिमेलुः। अनुकम्पा-अर्थमें मनुष्यके नामवाचक शब्दसे 'इक' एवं 'अड' आदि प्रत्यय होते हैं तथा स्वरादि प्रत्यय परे रहनेपर पूर्ववर्ती शब्दके द्वितीय स्वरसे आगेके सभी अक्षर लुप्त हो जाते हैं। यदि द्वितीय स्वर सन्धि-अक्षर हो तो उसका भी लोप हो जाता है। इन सब नियमोंके अनुसार ये दो उदाहरण हैं—अनुकम्पितः कहोडः=कहिकः। अनुकम्पितः उपेन्द्रदत्तः=उपडः। 'ऊर्णायुः' का अर्थ है ऊनवाला जीव (भेड़ आदि) अथवा ऊनी कम्बल आदि। 'ऊर्णा'से युस् प्रत्यय होकर 'ऊर्णायुः' बना है। पर्व और मरुत् शब्दोंसे त प्रत्यय होता है। पर्व+त=पर्वतः (पहाड़)। मरुत्+त=मरुतः (मरुआ नामक पौधा अथवा महाराज मरुत)। एक शब्दसे असहाय-अर्थमें आकिन्, कन् और उसका लुक्, ये तीनों कार्य बारी-बारीसे होते हैं। एक+आकिन्=एकाकी। एक+क=एककः।

कन्का लोप होनेपर एकः। इन सबका अर्थ—अकेला, असहाय है। चर्मण्वती एक नदीका नाम है। (इसमें चर्मन् शब्दसे मतुप्, मकारका वकारादेश, नलोपका अभाव और णत्व आदि कार्य निपातसिद्ध हैं। स्त्रीलिङ्गबोधक डीप् प्रत्यय हुआ है)। 'ज्योत्स्ना' और 'तमित्सा' निपात-सिद्ध हैं, यह बात गोमीके प्रसङ्गमें कही गयी है। इसी प्रकार अष्टीवत्, कक्षीवत्, रुमण्वत्, आसन्दीवत् तथा चक्रीवत्—ये शब्द भी निपात-सिद्ध हैं। यथा—आसन्दीवान् ग्रामः, अष्टीवान् नाम ऋषिः, चक्रीवान् नाम राजा, कक्षीवान् नाम ऋषिः, रुमण्वान् नाम पर्वतः। तूष्णीं शब्दसे काम् प्रत्यय होता है, अकच्चे प्रकरणमें। तूष्णीकाम् आस्ते (चुप बैठता है)। मित् कार्य अन्तिम स्वरके बाद होता है। तिडन्त, अव्यय और सर्वनामसे 'टि' के पहले अकच् होता है, चकार इत्संज्ञक है। इस नियमके अनुसार 'जल्पति' इस तिडन्त पदके इकारसे पहले अकच् होनेसे 'जल्पतकि' (बोलता है) रूप बनता है ॥ ६६—७० ॥

कंवः कम्भश्च कंयुश्च कन्तिः कन्तुस्तथैव च ।

कन्तः कंयश्च शंवश्च शम्भः शंयुस्तथा पुनः ॥ ७१ ॥

शन्तिः शन्तुः शन्तशंयौ तथाहंयुः शुभंयुवत् ।

कम् और शम्—ये मकारान्त अव्यय हैं। कम्का अर्थ जल और सुख है, शम्का अर्थ सुख है। इन दोनोंसे सात प्रत्यय होते हैं—व, भ, युस्, ति, तु, त और यस्। युस् और यस्का सकार इत्संज्ञक है। इन सबके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—कंवः, कम्भः, कंयुः, कन्तिः, कन्तुः, कन्तः, कंयः। शंवः, शम्भः, शंयुः, शन्तिः, शन्तुः, शन्तः, शंयः। अहम्—यह मकारान्त अव्यय अहंकारके अर्थमें प्रयुक्त होता है और शुभम्—यह मकारान्त अव्यय शुभ-अर्थमें है। इनसे 'युस्'-प्रत्यय होता है, सकार इत्संज्ञक है। अहम्+यु=अहंयुः (अहंकारवान्), शुभम्+यु= शुभंयुः (शुभयुक्त पुरुष) ॥ ७१ ॥

भवति बभूव भविता भविष्यति भवत्वभवद्वेच्चापि ॥ ७२ ॥

भूयादभूदभविष्यल्लादावेतानि रूपाणि ।

अति जघासात्तात्स्यत्यत्त्वाददद्यादद्विरघसदात्स्यत् ॥ ७३ ॥

(अब तिडन्तप्रकरण प्रारम्भ करके कुछ धातुओंके रूपोंका दिग्दर्शन करते हैं। वैयाकरणोंने दस प्रकारके धातु-समुदाय माने हैं, उन्हें 'नवगणी या दसगणी' के नामसे जाना जाता है। उनके नाम हैं—भवादि, अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, ब्र्यादि तथा चुरादि। भवादिगणके सभी धातुओंके रूप प्रायः एक प्रकार एवं एक शैलीके होते हैं, दूसरे-दूसरे गणोंके धातु भी अपने-अपने ढंगमें एक ही तरहके होते हैं। यहाँ सभी गणोंके एक-एक धातुके नौ लकारोंमें एक-एक रूप दिया जाता है। शेष धातु और उनके रूपोंका ज्ञान विद्वान् गुरुसे प्राप्त करना चाहिये।) 'भू' धातुके लट् लकारमें 'भवति भवतः भवन्ति' इत्यादि रूप बनते हैं। लिट् लकारमें 'बभूव बभूवतुः बभूवुः' इत्यादि, लुट् लकारमें 'भविता भवितारौ भवितारः' इत्यादि, लूट् लकारमें 'भविष्यति भविष्यतः भविष्यन्ति' इत्यादि, लोट् लिडमें 'भूयात् 'भूयास्ताम् भूयासुः' इत्यादि लुडमें 'अभूत् अभूताम् अभूवन्' इत्यादि तथा लृड लकारमें 'अभविष्यत् अभविष्यताम् अभविष्यन्' इत्यादि—ये सब रूप होते हैं। 'भू' धातुका अर्थ सत्ता है, 'भवति'का अर्थ 'होता है'—ऐसा किया जाता है। अब अदादि गणके 'अद्' धातुका पूर्ववत् प्रत्येक लकारमें एक-एक रूप दिया जाता है, 'अद्' धातु भक्षण अर्थमें प्रयुक्त होता है। अति। जघास। अत्ता। अत्स्यति। अन्तु। आदत्। अद्यात्। अद्यात्। अघसत्। आत्स्यत् ॥ ७२-७३ ॥

जुहोति जुहाव जुहवाङ्कार होता होष्यति जुहोतु।

अजुहोजुहयाद्यूयादहौषीदहोष्यहीव्यति ।

दिदेव देविता देविष्यति दीव्यतु चादीव्यहीव्येदीव्यादौ ॥ ७४ ॥

अदेवीदेविष्टसुनोति सुषाव सोता सोष्टति वै।
सुनोत्वसुनोत् सुनुयात्सूयादसावीदसोष्टत् तुदति च॥७५॥
तुतोद तोत्ता तोत्स्यति तुदत्वतुदत्तुदेत्यद्विद्धि।
अतौत्सीदतोत्स्यदिति च रुणद्वि रुरोध रोद्धा रोत्स्यति वै॥७६॥
रुणद्ध्वरुणद्वन्ध्यादुद्ध्यादरौत्सीदरोत्स्यच्च
तनोति ततान तनिता तनिष्टति तनोत्वतनोत्तनुयाद्विद्धि॥७७॥
तन्यादतनीच्चातानीदतनिष्टत् क्रीणाति चिक्राय क्रेता
क्रेष्टति क्रीणात्विति च। अक्रीणात् क्रीणीयात्
क्रीयादक्रैषीदक्रेष्टच्चोरयति चोरयामास चोरयिता
चोरयिष्टति चोरयत्वचोरयच्चोरयेच्चोर्याद-
चूचुरदचोरयिष्टदित्येवं दश वै गणाः॥७८॥

जुहोत्यादि गणमें 'हु' धातु प्रधान है। इसका प्रयोग अग्निमें आहुति डालनेके अर्थमें या देवताको तृप्त करनेके अर्थमें होता है। इसका प्रत्येक लकारमें रूप इस प्रकार है—जुहोति। जुहाव, जुहवाञ्छकार, जुहवाम्बभूव, जुहवामास। होता। होष्टति। जुहोतु। अजुहोत्। जुहुयात्। हूयात्। अहौषीत्। अहोष्टत्। दिवादि गणमें 'दिव' धातु प्रधान है। इसके अनेक अर्थ हैं—क्रीडा, विजयकी इच्छा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति। इसके रूप पूर्ववत् विभिन्न लकारोंमें इस प्रकार हैं—दीव्यति। दिदेव। देविता। देविष्टति। दीव्यतु। अदीव्यत्। दीव्येत्। दीव्यात्। अदेवीत्। अदेविष्टत्। स्वादिगणमें 'सु' धातु प्रधान है। यह मूलतः 'षुज्' धातुके नामसे प्रसिद्ध है। इसका अर्थ है अभिषव अर्थात् नहलाना, रस निचोड़ना, नहाना एवं सोमरस निकालना। रूप इस प्रकार हैं—

सुनोति। सुषाव। सोता। सोष्टति। सुनोतु। असुनोत्। सुनुयात्। सूयात्। असावीत्। असोष्टत्। ये परस्मैपदके रूप हैं; आत्मनेपदमें सुनुते, 'सुषुवे' इत्यादि रूप होते हैं। तुदादिगणमें 'तुद' धातु प्रधान है, जिसका अर्थ है पीड़ा देना। रूप इस प्रकार हैं—तुदति। तुतोद। तोत्ता। तोत्स्यति। तुदतु। अतुदत्। तुदेत्। तुद्यात्। अतौत्सीत्। अतोत्स्यत्। रुधादिगणमें 'रुध्' धातु प्रधान है, जिसका अर्थ है—रूँधना, बाड़ लगाना, घेरा डालना या रोकना। रूप इस प्रकार हैं—रुणद्वि। रुरोध। रोद्धा। रोत्स्यति। रुणद्वु। अरुणत्। रुन्ध्यात्। रुद्ध्यात्। अरैत्सीत्। अरोत्स्यत्। तनादिगणमें 'तन्' धातु प्रधान है। इसका अर्थ है विस्तार करना, फैलाना; रूप इस प्रकार हैं—तनोति। ततान। तनिता। तनिष्टति। तनोतु। अतनोत्। तनुयात्। तन्यात्। अतनीत्। अतानीत्। अतनिष्टत्। क्र्यादिमें क्री-धातु प्रधान है—जिसका अर्थ है खरीदना, एक द्रव्य देकर दूसरा द्रव्य लेना। रूप इस प्रकार हैं—क्रीणाति। चिक्राय। क्रेता। क्रेष्टति। क्रीणातु। अक्रीणात् क्रीणीयात्। क्रीयात्। अक्रैषीत्। अक्रेष्टत्। चुरादिगणमें 'चुर्' धातु प्रधान है, जिसका अर्थ है चुराना; रूप इस प्रकार है—चोरयति। चोरयामास, चोरयाञ्छकार, चोरयाम्बभूव। चोरयिता। चोरयिष्टति। चोरयतु। अचोरयत्। चोरयेत्। चोर्यात्। अचूचुरत्। अचोरयिष्टत्। इस प्रकार ये धातुओंके दस गुण माने गये हैं॥७४—७८॥

प्रयोजके भावयति सनीच्छायां बुभूषति।

क्रियासमभिहारे तु पण्डितो बोभूयते मुने॥७९॥

१. यह उभयपदीय धातु है। मूलमें केवल परस्मैपदीय रूप दिया गया है। इसका आत्मनेपदीय रूप इस प्रकार है—रुन्धे। रुरुधे। रोद्धा। रोत्स्यते। रुन्ध्यम्। अरुन्ध। रुन्ध्यते। रुन्ध्यीत। रोत्सीष्ट। अरुद्ध। अरोत्स्यत।

२. यह भी उभयपदीय धातु है। इसका आत्मनेपदीय रूप इस प्रकार है—तनुते। तेने। तनिता। तनिष्टते। तनुताम्। अतनुत। तन्वीत। तनिषीष्ट। अतत, अतनिष्ट। अतनिष्टत।

३. इसका आत्मनेपदीय रूप इस प्रकार है—क्रीणीते। चिक्रिये। क्रेता। क्रेष्टते। क्रीणीताम्। अक्रीणीत। क्रीणीत। क्रैषीष्ट। अक्रेष्ट। अक्रेष्टत।

४. इसका आत्मनेपदीय रूप इस प्रकार है—चोरयते। चोरयाञ्छके, चोरयामासे, चोरयाम्बभूवे। चोरयिता। चोरयिष्टते। चोरयताम्। अचोरयत। चोरयेत। चोरयिषीष्ट। अचूचुरत। अचोरयिष्टत।

प्रयोजकके व्यापारमें प्रत्येक धातुसे णिच् प्रत्यय होता है। 'च'कार और 'ण'कार इत्संज्ञक हैं। णिच् प्रत्यय परे रहनेपर स्वरान्त अङ्गकी वृद्धि होती है। भू से णिच् करनेपर भू+इ बना; फिर वृद्धि और आव् आदेश करनेपर भावि बना, उससे धातुसम्बन्धी अन्य कार्य करनेपर भावयति रूप बनता है। जो कर्ताको प्रेरणा दे, उसे प्रयोजक कहते हैं। जैसे—'चैत्रः पण्डितो भवति' (चैत्र पण्डित होता है), 'तं मैत्रः अध्यापनादिना प्रेरयति' (उसे मैत्र पढ़ाने आदिके द्वारा पण्डित होनेमें प्रेरणा देता है)। इस वाक्यमें चैत्र प्रयोज्य कर्ता है और मैत्र प्रयोजक कर्ता है। इस प्रयोजकके व्यापारमें ही णिच् प्रत्यय होता है; इसलिये उसीके अनुसार प्रथम, मध्यम आदि पुरुषकी व्यवस्था एवं क्रिया होती है। प्रयोज्य कर्ता प्रयोजकके व्यापारमें कर्म बन जाता है, इसलिये उसमें द्वितीया विभक्ति होती है और प्रयोजक कर्तामें प्रथमा विभक्ति। यथा—'मैत्रः चैत्रं पण्डितं भावयति' (मैत्र चैत्रको पण्डित बनानेमें योग देता है)। इसी प्रकार अन्य धातुओंसे भी प्रेरणार्थक प्रत्यय होता है। यथा—'छात्रः पठति, गुरुः प्रेरयति इति गुरुः छात्रं पाठयति' (छात्र पढ़ता है, गुरु उसे प्रेरित करता है; इसलिये गुरु छात्रको पढ़ाता है)।

इच्छा-अर्थमें 'सन्' प्रत्यय होता है 'भवितुम् इच्छति बुभूषति' (होनेकी इच्छा करता है)। इसी प्रकार पद्, गम्, आदि अन्य धातुओंसे भी इच्छा-अर्थमें पिपटिष्ठति (पढ़नेकी इच्छा करता है), जिग्मिषति (जाना चाहता है)—इत्यादि सत्रन्त रूप होते हैं। मुने! क्रिया-सम्भिहारमें एक स्वरवाले हलादि धातुसे 'यङ्' प्रत्यय होता है, इस नियमके अनुसार भू-धातुसे यङ्-प्रत्यय होनेपर धातुका द्वित्व होता है; क्योंकि सन् और यङ् परे रहनेपर धातुके द्वित्व होने (एकसे दो हो

जाने)- का नियम है। फिर धातु-प्रत्ययसम्बन्धी अन्य कार्य करनेपर बोभूयते रूप बनता है। यथा—'देवदत्तः पण्डितो बोभूयते' (देवदत्त बड़ा भारी पण्डित हो रहा है)। 'बार-बार' या 'अधिक' अर्थका बोध कराना ही क्रियासम्भिहार कहलाता है। इस तरहके प्रयोगको यडन्त कहते हैं। पठ् और गम् आदि धातुओंसे यङ्-प्रत्यय करनेपर पापठ्यते, (बार-बार या बहुत पढ़ता है)। जङ्गम्यते (बार-बार या बहुत जाता है) इत्यादि रूप होते हैं॥७९॥

तथा यङ्गलुकि विप्रेन्द्र बोभवीति च पठ्यते।
पुत्रीयतीत्यात्मनीच्छायां तथाचारेऽपि नारद।
अनुदात्तडितो धातोः क्रियाविनिमये तथा॥८०॥

यङ्-प्रत्ययका लुक् (लोप होना) भी देखा जाता है। उस दशामें बोभवीति, बोभोति, पापठीति और जङ्गमीति इत्यादि रूप होते हैं। इन रूपोंको यङ्गलुग्नत रूप कहते हैं। अर्थ यडन्तके ही समान होते हैं। 'आत्मनः पुत्रम् इच्छति' (अपने लिये पुत्र चाहता है)। इस वाक्यसे पुत्रकी इच्छा व्यक्त होती है। ऐसे स्थलोंमें इच्छा-क्रियाके कर्मभूत शब्दसे क्यच्-प्रत्यय होता है। ककार और चकारकी इत्संज्ञा होती है। उपर्युक्त उदाहरणमें पुत्र-शब्दसे क्यच्-प्रत्यय करनेपर पुत्र+य इस अवस्थामें पुत्रमें 'त्र'के अकारका इ हो जाता है, फिर 'पुत्रीय' की धातुसंज्ञा करके तिडन्तके समान रूप चलते हैं। इस प्रकार 'पुत्रीयति' इत्यादि रूप होते हैं। 'पुत्रीयति'का अर्थ है—अपने लिये पुत्र चाहता है। ऐसे प्रयोगको नामधातु कहते हैं। नारदजी! कर्मभूत उपमानवाचक शब्दसे आचार-अर्थमें भी क्यच् होता है। यथा—'पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति छात्रम्' (गुरुजी छात्रके साथ पुत्रका-सा बर्ताव करते हैं)।

अब आत्मनेपदका प्रकरण आरम्भ करते हैं। जिस धातुमें अनुदात्त स्वर और इकारकी इत्संज्ञा

होती है, उससे आत्मनेपदके प्रत्यय होते हैं। यथा—एधते, वर्धते इत्यादि। ये अनुदातेत् हैं। त्रैङ् पालने—यह डित् धातु है, इसके केवल आत्मनेपदमें 'त्रायते' इत्यादि रूप होते हैं। जहाँ क्रियाका विनिमय व्यक्त होता हो, वहाँ भी आत्मनेपद होता है। यथा—व्यतिलुनीते (दूसरेके योग्य लवनरूप कार्य दूसरा करता है) ॥८०॥

निविशादेस्तथा विग्र विजानीहात्मनेपदम्।
परस्मैपदमाख्यातं शेषात् कर्तरि शाब्दिकैः ॥८१॥

विप्रवर! निपूर्वक 'विश्' एवं वि और परापूर्वक 'जि' इत्यादि धातुओंसे भी आत्मनेपद ही जानो। यथा—निविशते, विजयते, पराजयते इत्यादि। भाव और कर्ममें प्रत्यय होनेपर भी आत्मनेपद ही होता है। आत्मनेपदके जितने निमित्त हैं, उन्हें छोड़कर शेष धातुओंसे कर्तामें परस्मैपद होता है—ऐसा वैयाकरणोंका कथन है ॥८१॥

जित्स्वरितेतश्च उभे यक्च स्याद्वावकर्मणोः।

जिन धातुओंमें 'स्वरित' और 'ज्' की इत्पंज्ञा हुई हो, उनसे परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों होते हैं। यथा—'खनति, खनते। श्रयति, श्रयते' इत्यादि।

(अब भाव-कर्म-प्रकरण आरम्भ करते हैं—) भाव और कर्ममें धातुसे यक् प्रत्यय होता है। भावमें प्रत्यय होनेपर क्रियामें केवल औत्सर्गिक एकवचन होता है और सदा प्रथम पुरुषके ही एकवचनका रूप लिया जाता है। उस दशामें कर्ता तृतीयान्त होता है। भू धातुसे भावमें प्रत्यय करनेपर 'भूयते' रूप होता है। वाक्यमें उसका प्रयोग इस प्रकार है—'त्वया मया अन्यैश्च भूयते।' सकर्मक धातुसे कर्ममें प्रत्यय होनेपर कर्म उक्त हो जाता है, अतः उसमें प्रथमा विभक्ति होती है और अनुकूल कर्तामें तृतीया विभक्तिका प्रयोग होता है। कर्ताके अनुसार ही क्रियामें पुरुष और वचनकी व्यवस्था होती है। यथा—'चैत्रः

आनन्दमनुभवति इति कर्मणि प्रत्यये चैत्रेणानन्दोऽनुभूयते', (चैत्रसे आनन्दका अनुभव किया जाता या आनन्द भोगा जाता है) चैत्रस्त्वामनुभवति, चैत्रेण त्वमनुभूयसे, (चैत्रसे तुम अनुभव किये जाते हो) चैत्रो मामनुभवति, चैत्रेणाहमनुभूये' (चैत्रसे मैं अनुभव किया जाता हूँ) इत्यादि उदाहरण भाव-कर्मके हैं।

सौकर्यातिशयं चैव यदा द्योतयितुं मुने ॥८२॥
विबक्ष्यते न व्यापारो लक्ष्ये कर्तुस्तदापरे ।
लभन्ते कर्तृतां पश्य पच्यते होदनः स्वयम् ॥८३॥
साध्वसिंश्छिनत्येवं स्थाली पचति वै मुने ।
धातोः सकर्मकात् कर्तृकर्मणोरपि प्रत्ययाः ॥८४॥

मुने! जब अतिशय सौकर्य प्रकाशित करनेके लिये लक्ष्यमें कर्ताके व्यापारकी विवक्षा नहीं रह जाती, तब कर्म और करण आदि दूसरे कारक ही कर्तृभावको प्राप्त होते हैं। यथा—'चैत्रो वह्निना स्थाल्यामोदनं पचति' (चैत्र आगसे बटलोईमें भात पकाता है)—इस वाक्यमें जब चैत्रके कर्तृत्वकी विवक्षा न रहे और करण आदिके कर्तृत्वकी विवक्षा हो जाय तो वे ही कर्ता हो जाते हैं और तदनुकूल क्रिया होती है। यथा—'वह्निः पचति' (आग पकाती है)। यहाँ करण ही कर्तारूपमें प्रयुक्त हुआ है। 'स्थाली पचति' (बटलोई पकाती है)—यहाँ अधिकरण ही कर्ताके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। 'ओदनः स्वयं पच्यते' (भात स्वयं पकता है)—यहाँ कर्म ही कर्तारूपमें प्रयुक्त हुआ है। जब कर्म ही कर्तारूपमें प्रयुक्त हो तो कर्तामें लकार होता है; परंतु कर्मवद्वाव होनेसे यक् और आत्मनेपद आदि ही होते हैं। अतः 'पचति' न होकर 'पच्यते' रूप होता है। ऐसे प्रयोगको कर्म-कर्तृप्रकरणके अन्तर्गत मानते हैं। दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—'असिना साधु छिनत्ति' (तलवारसे अच्छी तरह काटता है)—इस वाक्यमें उपर्युक्त नियमानुसार करणमें कर्तृत्वकी विवक्षा होनेपर

ऐसा वाक्य बनेगा—‘साधु असिश्छनति’ (तलवार अच्छा काटती है)। मुने! सकर्मक धातु भी कर्मकर्त्तमें अकर्मक हो जाता है, अतः उससे भाव तथा कर्तामें भी लकार होता है। यथा भावे—पच्यते ओदनेन। कर्तरि—पच्यते ओदनः। सम्प्रदान और अपादान कारकोंमें कर्तृत्वकी विवक्षा कभी नहीं की जाती, क्योंकि यह अनुभवके विरुद्ध है। सामान्य स्थितिमें सकर्मक धातुसे ‘कर्ता’ और ‘कर्म’में प्रत्यय होते हैं॥८२—८४॥

तस्माद् वाकर्मकाद्विप्र भावे कर्तरि कीर्तिः।

फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः ॥८५॥

धातुस्तयोर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः।

गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नीहृष्टव्यहाम्॥८६॥

बुद्धिभक्षार्थयोः शब्दकर्मकाणां निजेच्छया।

प्रयोज्यकर्मण्यन्येषां एयन्तानां लादयो मताः॥८७॥

विप्रवर! वही धातु यदि अकर्मक हो तो उससे ‘भाव’ और ‘कर्ता’ में प्रत्यय कहे गये हैं।

सभी धातुओंके फल और व्यापार—ये दो अर्थ हैं। ये दोनों जहाँ एकमात्र कर्तामें ही मौजूद हों, उन धातुओंको अकर्मक कहते हैं। जैसे—भू-धातुका अर्थ सत्ता है। सत्ताका तात्पर्य है—आत्मधारणानुकूल व्यापार। इसमें आत्मधारणरूप फल और तदनुकूल व्यापार दोनों केवल कर्तामें ही स्थित हैं; अतः भू-धातु अकर्मक है।

जहाँ फल और व्यापार दोनों भिन्न-भिन्न धर्मोंमें स्थित हों, वहाँ धातुको सकर्मक माना गया है। जैसे—‘पच्’ धातुका अर्थ है—विकिलत्यनुकूल व्यापार (चावल आदिको गलानेके अनुरूप प्रयत्न)। इसमें विकिलत्ति (गलना) यह फल है, जो चावलमें होता है और इसके अनुकूल जो चूल्हेमें आग जलाने आदिका व्यापार है, वह कर्तामें है; अतः ‘पच्’ धातु सकर्मक हुआ है।

‘दुह’ आदि* धातुओंके दो कर्म होते हैं। यथा—‘गां दोग्धि पयः’ (गायसे दूध दुहता है)—इसमें गाय गौण कर्म है और दूध प्रधान कर्म। दुह आदि धातुओंके गौण कर्ममें ही प्रत्यय होता है। यथा—‘गौर्दुह्यते पयः, बलिर्याच्यते वसुधाम्’ इत्यादि। नी, ह, कृष् और वह—इन चार धातुओंके प्रधान कर्ममें प्रत्यय होता है। यथा—‘अजां ग्रामं नयति’—इस वाक्यमें अजा प्रधान कर्म और ग्राम गौण कर्म है। प्रधान कर्ममें प्रत्यय होनेपर वाक्यका स्वरूप इस प्रकार होगा—‘अजा ग्रामं नीयते।’ ज्ञानार्थक और भक्षणार्थक धातुओंके एवं शब्दकर्मक धातुओंके प्यन्त होनेपर उनसे प्रधान या अप्रधान किसी भी कर्ममें अपनी इच्छाके अनुसार प्रत्यय कर सकते हैं। यथा—‘बोध्यते माणवकं धर्मः, माणवको धर्मम् इति वा।’ अन्य गत्यार्थक एवं अकर्मक धातुओंके प्यन्त होनेपर उनके प्रयोज्य कर्ममें लकार आदि प्रत्यय माने गये हैं। यथा—‘मासमास्यते माणवकः’॥८५—८७॥

फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।

फले प्रधानं व्यापारस्तिङ्गर्थस्तु विशेषणम्॥८८॥

धातु फल और व्यापाररूप अर्थोंका बोधक होता है। जैसे—भू-धातु आत्मधारणरूप फल और तदनुकूल व्यापारका बोधक है। फल और व्यापार दोनोंका जो आश्रय है, उसमें अर्थात् कर्ता एवं कर्ममें (तथा भावमें भी) तिङ्-प्रत्यय होते हैं, फलमें व्यापारकी ही प्रधानता है, तिङ्गर्थरूप जो फल है वह उस व्यापारका विशेषण होता है। जैसे—‘पचति’—इस क्रियाद्वारा चावल आदिके गलनेका प्रतिपादन होता है। यहाँ विकिलत्तिरूप फलके अनुकूल जो अग्निप्रज्वालन और फूत्कारादि व्यापार हैं, उनके आश्रयभूत कर्तामें प्रत्यय हुआ है। ‘ओदनः पच्यते’ इत्यादिमें फलाश्रयभूत कर्ममें

*दुह, याच्, पच्, दण्ड, रुध्, प्रच्छ, चि, ब्रू, शास्, जि, मथ्, मुष्—ये दुह आदिके अन्तर्गत हैं, इनके दो कर्म होते हैं। इसी प्रकार नी, ह, कृष् और वह—इनके भी दो कर्म होते हैं।

तिङ्क प्रत्यय होनेके कारण ओदनमें प्रथमा
विभक्ति है ॥ ८८ ॥

एधितव्यमेधनीयमिति कृत्ये निर्दर्शनम् ।
भावे कर्मणि कृत्याः स्युः कृतः कर्तरि कीर्तिताः ॥ ८९ ॥
कर्ता कारक इत्याद्या भूते भूतादि कीर्तितम् ।
गम्यादि गम्ये निर्दिष्टं शेषमद्यतने मतम् ॥ ९० ॥

(अब कृदन्त-प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—कृत्-प्रत्यय जिसके अन्तमें हो, वह कृदन्त है। एवुल्, तृच्, अच् आदि प्रत्यय 'कृत्' कहलाते हैं। कृत्-प्रत्ययोंमेंसे जो कृत्य, क्त और खलर्थ प्रत्यय हैं, वे केवल भाव और कर्ममें ही होते हैं। तव्यत्, तव्य, अनीयर् केलिमर् आदि प्रत्यय कृत्य कहलाते हैं। घञ् आदि प्रत्यय भाव, करण और अधिकरणमें होते हैं। सामान्यतः कृत्-प्रत्यय 'कर्ता' में प्रयुक्त होते हैं। यहाँ पहले कृत्य प्रत्ययोंके उदाहरण देते हैं—) एधितव्यम् और एधनीयम्—ये कृत्य प्रत्ययके उदाहरण हैं। 'कृत्य' भाव और कर्ममें तथा 'कृत्' कर्तमें बताये गये हैं। 'त्वया मया अन्यैश्च एधितव्यम्', यहाँ भावमें तव्य और अनीयर् प्रत्यय हुए हैं। कर्ममें प्रत्ययका उदाहरण इस प्रकार समझना चाहिये। 'छात्रेण पुस्तकं पठनीयम्' 'ग्रन्थः पठितव्यः' इत्यादि कर्ममें प्रत्यय होनेसे कर्तमें तृतीया विभक्ति और कर्ममें प्रथमा विभक्ति हुई है। कर्ता, कारकः इत्यादि 'कृत्' प्रत्ययके उदाहरण हैं। यथा— 'रामः कर्ता' 'ब्रह्मा कारकः' यहाँ कर्तमें 'तृच्' और 'एवुल्' प्रत्यय हुए हैं। 'वु'के स्थानमें अक् आदेश होता है। ण्, ल्, च् आदिकी इत्संज्ञा होती है। 'क्त' और 'क्तवतु' ये प्रत्यय भूतकालमें होते हैं। यथा—'भूतः भूतवान्' इत्यादि; और 'गम्य' आदि शब्द भविष्यत् अर्थमें निर्दिष्ट हुए हैं। शेष शब्द वर्तमान कालमें प्रयुक्त होने योग्य माने गये हैं ॥ ८९-९० ॥

अधिस्त्रीत्यव्ययीभावे यथाशक्ति च कीर्तितम् ।

रामाश्रितसत्पुरुषे धान्यार्थो यूपदारु च ॥ ९१ ॥

व्याघ्रभी राजपुरुषोऽक्षशौण्डो द्विगुरुच्यते ।
पञ्चगवं दशग्रामी त्रिफलेति तु रूढितः ॥ ९२ ॥
(अब समासका प्रकरण आरम्भ करते हैं—) समास चार प्रकारके माने गये हैं—अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुब्रीहि और द्वन्द्व। 'तत्पुरुष' का एक विशिष्ट भेद 'कर्मधारय' और कर्मधारयका एक विशिष्ट भेद 'द्विगु' है। भूतपूर्वः इत्यादि स्थलोंमें जो समास है, उसका कोई नाम नहीं निर्देश किया जा सकता। अतः उसे केवल समासमात्र जानना चाहिये। जिसमें प्रथम पद अव्यय हो, वह समास अव्ययीभाव होता है। अथवा अव्ययीभावके अधिकारमें जो समासविधायक वचन हैं, उनके अनुसार जहाँ समास हुआ है, वह अव्ययीभाव समास है। अव्ययीभाव अव्ययसंज्ञक होता है। अतः सभी विभक्तियोंमें उसका समान रूप है। अकारान्त अव्ययीभावमें विभक्तियोंका 'अम्' आदेश हो जाता है, परंतु पञ्चमी विभक्तिको छोड़कर ऐसा होता है। तृतीया और सप्तमीमें भी अम्-भाव वैकल्पिक है। यथा अपदिशम्, अपदिशो इत्यादि। अधिस्त्रीति और यथाशक्ति आदि पद अव्ययीभाव समासके अन्तर्गत बताये गये हैं। द्वितीयान्तसे लेकर सप्तम्यन्त तकके पद सुबन्तके साथ समस्त होते हैं और वह समास तत्पुरुष होता है। तत्पुरुषके उदाहरण इस प्रकार हैं—रामम्-आश्रितः=रामाश्रितः। धान्येन+अर्थः=धान्यार्थः यूपाय+दारु=युपदारु। व्याघ्रात्+भीः= व्याघ्रभीः राजः+पुरुषः=राजपुरुषः। अक्षेषु+शौण्डः=अक्षशौण्डः इत्यादि। जिसमें संख्यावाचक शब्द पूर्वमें हो, वह 'द्विगु' कहा गया है। 'पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम्।' दशानां ग्रामाणां समाहारः दशग्रामी (यहाँ स्त्रीलिङ्गसूचक 'डीप्' प्रत्यय हुआ है)। 'त्रयाणां फलानां समाहारः त्रिफला' (इसमें स्त्रीत्वसूचक 'टाप्' प्रत्यय हुआ है)। त्रिफला-शब्द आँवले, हर्दे और बहेड़के लिये रूढ़ (प्रसिद्ध) है ॥ ९१-९२ ॥

नीलोत्पलं महाषष्ठी तुल्यार्थे कर्मधारयः ।

अब्राह्मणो नजि प्रोक्तः कुम्भकारादिकः कृतः ॥ १३ ॥

समानाधिकरण तत्पुरुषकी 'कर्मधारय' संज्ञा होती है। उसके दोनों पद प्रायः विशेष्य-विशेषण होते हैं। विशेषणवाचक शब्दका प्रयोग प्रायः पहले होता है। 'नीलं च तत् उत्पलं च=नीलोत्पलम्, महती चासौ षष्ठी च=महाषष्ठी।' जहाँ 'न' शब्द किसी सुबन्तके साथ समस्त होता है, वह 'नज् तत्पुरुष' कहलाता है। 'न ब्राह्मणः अब्राह्मणः' इत्यादि। कुम्भकार आदि पदोंमें 'उपपद तत्पुरुष' समास है ॥ १३ ॥

अन्यार्थे तु बहुब्रीहौ ग्रामः प्रासोदको द्विज ।

पञ्चगू रूपवद्धार्यो मध्याह्नः ससुतादिकः ॥ १४ ॥

विप्रवर! जहाँ अन्य अर्थकी प्रधानता हो, उस समासकी बहुब्रीहिमें गणना होती है। 'प्रासम् उदकं यं स प्रासोदको ग्रामः' (जहाँ जल पहुँचा हो, वह ग्राम 'प्रासोदक' है)। इसी तरह—'पञ्च गावो यस्य स पञ्चगुः। रूपवती भार्या यस्य स रूपवद्भार्यः।' मध्याह्नः—पद तत्पुरुष समास है। 'सुतेन सह आगतः ससुतः' आदि पद बहुब्रीहि समासके अन्तर्गत हैं ॥ १४ ॥

समुच्चये गुरुं चेशं भजस्वान्वाचये त्वट ।

भिक्षामानय गां चापि वाक्यमेवानयोर्भवेत् ॥ १५ ॥

चार्थमें द्वन्द्व समास होता है। 'च' के चार अर्थ हैं—समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार। परस्पर निरपेक्ष अनेक पदोंका एकमें अन्वय होना 'समुच्चय' कहलाता है। समुच्चयमें 'ईशं गुरुं च भजस्व' यह वाक्य है। इसमें ईश और गुरु दोनों स्वतन्त्ररूपसे 'भज' इस क्रियापदसे अन्वित होते हैं। ईश-पदका क्रियाके साथ अन्वय हो जानेपर पुनः क्रियापदकी आवृत्ति

इति श्रीब्रह्मारदीयपुराणे पूर्वभागे बृहदुपाख्याने द्वितीयपादे व्याकरणनिरूपणं नाम द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

करके गुरुपदका भी उसमें अन्वय होता है। यही उन दोनोंकी निरपेक्षता है। समास साकाङ्क्ष पदोंमें होता है। अतः समुच्चय-वाक्यमें द्वन्द्व समास नहीं होता है। जहाँ एक प्रधान और दूसरा अप्रधानरूपसे अन्वित हो, वहाँ अन्वाचय होता है—जैसे 'भिक्षामट गाञ्छानय' इस वाक्यमें भिक्षाके लिये गमन प्रधान है और गौका लाना अप्रधान या आनुषङ्गिक कार्य है। अतः एकार्थीभावरूप सामर्थ्य न होनेसे अन्वाचयमें भी द्वन्द्व समास नहीं होता। समुच्चय और अन्वाचयमें वाक्यमात्रका ही प्रयोग होता है ॥ १५ ॥

इतरेतरयोगे तु रामकृष्णौ समाहृतौ ।

रामकृष्णं द्विज द्वौ द्वौ ब्रह्म चैकमुपास्यते ॥ १६ ॥

उद्भूत अवयव-भेद-समूहरूप परस्पर अपेक्षा रखनेवाले सम्मिलित पदोंका एकधर्मावच्छिन्नमें अन्वय होना इतरेतरयोग कहलाता है। अतः इसमें सामर्थ्य होनेके कारण समास होता है, यथा—'रामकृष्णौ भज' इस वाक्यमें 'रामश्च-कृष्णश्च=रामकृष्णौ' इस प्रकार समास है। इतरेतरयोग द्वन्द्वमें समस्यमान पदार्थगत संख्याका समुदायमें आरोप होता है। इसलिये वहाँ द्विवचनान्त या बहुवचनान्तका प्रयोग देखा जाता है। समूहको समाहार कहते हैं। वहाँ अवयवगत भेद तिरोहित होता है। यथा—'रामश्च कृष्णश्चेत्यनयोः समाहारः रामकृष्णम्'। समाहार द्वन्द्वमें अवयवगत संख्या समुदायमें आरोपित नहीं होती। इसलिये एकत्व-बुद्धिसे एकवचनान्तका प्रयोग किया जाता है। समाहारमें नपुंसकलिङ्ग होता है। विप्रवर! इतरेतरयोगमें राम और कृष्ण दोनों दो हैं और समाहारमें उनकी एकता है, इसलिये कि ब्रह्मरूपसे उन्हें एक मानकर उनकी उपासना की जाती है ॥ १६ ॥

निरुक्त-वर्णन

सनन्दनजी कहते हैं—अब मैं निरुक्तका वर्णन करता हूँ, जो वेदका कर्णरूप उत्तम अङ्ग है। यह वैदिक धातुरूप है, इसे पाँच प्रकारका बताया गया है ॥ १ ॥ उसमें कहीं वर्णका आगम होता है, कहीं वर्णका विपर्यय होता है, कहीं वर्णोंका विकार होता है और कहीं वर्णका नाश माना गया है ॥ २ ॥ नारद! जहाँ वर्णोंके विकार अथवा नाशद्वारा जो धातुके साथ विशेष अर्थका प्रकाशक संयोग होता है, वह पाँचवाँ उत्तम योग कहा गया है ॥ ३ ॥ वर्णके आगमसे 'हंसः' पदकी सिद्धि होती है। वर्णोंके विपर्यय (अदल-बदल)-से 'सिंहः' पद सिद्ध होता है। वर्णविकारसे 'गूढोत्मा॒' की सिद्धि होती है। वर्णनाशसे 'पृषोदर॑ः' सिद्ध होता है ॥ ४ ॥ 'भ्रमर्' आदि शब्दोंमें पाँचवाँ योग समझना चाहिये। वेदोंमें लौकिक नियमोंका विकल्प या विपर्यय कहा गया है। यहाँ 'पुनर्वसु॑' पदको उदाहरणके रूपमें रखना चाहिये ॥ ५ ॥ 'नभस्वत्'-में 'वत्' प्रत्यय परे रहते भसंज्ञा हो जानेसे 'स'का रूच नहीं हुआ। (वार्तिक भी है—'नभोऽङ्गिरोमनुषां वत्युपसंख्यानम्') 'वृषन् अश्वो यस्य सः' इस विग्रहमें बहुत्रीहि समास होनेपर 'वृषन्+अश्वः' इस अवस्थामें अन्तर्वर्तिनी विभक्तिका आश्रय लेकर पदसंज्ञा करके नकारका लोप प्राप्त था, किंतु 'वृषण् वस्वश्योः' इस वार्तिकके नियमानुसार

भसंज्ञा हो जानेसे न लोप नहीं हुआ; अतः 'वृषणश्चः' यही वैदिक प्रयोग है। (लोकमें 'वृषाश्चः' होता है।) कहीं-कहीं आत्मनेपदके स्थानमें परस्मैपदका प्रयोग होता है। यथा—'प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति' यहाँ 'युध्यते' होना चाहिये, किंतु परस्मैपदका प्रयोग किया गया है। 'प्र' आदि उपसर्ग यदि धातुके पहले हों तो उनकी उपसर्ग एवं गतिसंज्ञा होती है; किंतु वेदमें वे धातुके बादमें या व्यवधान देकर प्रयुक्त होनेपर भी 'उपसर्ग' एवं 'गति' कहलाते हैं—यथा 'हरिभ्यां याहोक आ। आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि।' यहाँ 'आयाहि' के अर्थमें 'याहि+आ' का व्यवहित तथा पर प्रयोग है। दूसरे उदाहरणमें आ+याहिके बीचमें बहुत-से पदोंका व्यवधान है ॥ ६ ॥ वेदमें विभक्तियोंका विपर्यास देखा जाता है, जैसे—'दधा जुहोति'; यहाँ 'दुधि' शब्द 'हु' धातुका कर्म है, उसमें द्वितीया होनी चाहिये, किंतु 'तृतीया च होश्छन्दसि' इस नियमके अनुसार कर्ममें तृतीया हो गयी है। 'अभ्युत्सादयामकः' इसमें अभि+उत्पूर्वक 'सद्' धातुसे लुइ लकारमें 'आम्' और 'अक'-का अनुप्रयोग हुआ है (लोकमें 'अभ्युदषीषदत्' रूप बनता है)। 'मा त्वाग्निर्ध्वनयीत्' इसमें 'नोनयति ध्वनय०' इत्यादि वैदिक सूत्रके द्वारा च्लिके चङ्गभावका निषेध होता है। माङ्गके योगमें 'अद्

१. 'हन्तीति हंसः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार हन्-धातुके आगे ('वृत्तवदिहनि०' इत्यादि उणादि सूत्रसे) 'स'का आगम होनेसे 'हंस' शब्द बनता है।
२. 'हिसि हिंसायाम्' इस धातुसे 'हिनस्तीति' इस व्युत्पत्तिके अनुसार कर्त्रर्थमें अच् प्रत्यय करनेपर पहले 'हिंसः' बनता है, फिर 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्'के आदेशानुसार 'ह' के स्थानमें 'स' और 'स' के स्थानमें 'ह' आ जानेसे 'सिंहः' पद सिद्ध होता है।
३. 'गूढ+आत्मा' इस अवस्थामें 'आ' विकृत हो 'उ' के रूपमें परिणत हुआ और गुण होनेसे 'गूढोत्मा' बना। (एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते)
४. 'पृषोदरः' में 'पृषद्+उदरः' यह पदच्छेद है। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्'के आदेशानुसार यहाँ तकारका लोप (नाश) हुआ तथा गुण होनेसे 'पृषोदरः' सिद्ध हुआ है।
५. 'भ्रमतीति भ्रमरः' यहाँ 'भ्रमु अनवस्थाने'से 'अर्तिकमिभ्रमिचमिदेविवासिभ्यश्चित्' इस उणादि सूत्रके अनुसार 'अर' प्रत्यय होनेसे 'भ्रमर' शब्द सिद्ध होता है। किन्तु विद्वानोंके मतमें 'भ्रमन् रौति' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'भ्रमर' शब्द बनता है। इसमें 'भ्रम्+अत्+रु+अच्' इस अवस्थामें 'त्'का लोप 'रु'में उका लोप करनेसे 'भ्रमर'की सिद्धि होती है।
६. लौकिक प्रयोगमें 'पुनर्वसु॑' शब्द नित्य द्विवचनान्त है, किंतु वेदमें 'छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्'के नियमानुसार इसका एकवचनान्त प्रयोग भी होता है।

आट् न होनेसे 'ध्वनयीत्' रूप हुआ है (लोकमें घटादि ध्वन धातुका रूप 'अदिध्वनत्' होता है और चुणादिका रूप 'अदध्वनत्' होता है)। 'ध्वनयीत्' इत्यादि प्रमुख उदाहरण हैं। 'निष्टकर्य०' इत्यादि प्रयोग वेदमें निपातनसे सिद्ध होते हैं। 'छन्दसि निष्टकर्य' इत्यादि सूत्र इसमें प्रमाण हैं। यहाँ 'निस् पूर्वक कृत्' धातुसे 'ऋदुपधाच्च' सूत्रके अनुसार 'क्यप्' प्राप्त था; परंतु 'प्यत्' प्रत्यय हुआ है; साथ ही 'कृत्' में आदि-अन्तका विपर्यय होनेसे 'तृक्' रूप बना। फिर गुण होनेसे तर्क्य हुआ। 'निस्'के 'स्' का षत्र हुआ और षुत्र होकर 'निष्टकर्य' सिद्ध हुआ। 'गृभाय' इत्यादि प्रयोग वैकल्पिक 'शायच्' होनेसे बनते हैं। ह-धातुसे शायच् हुआ और 'ह्यग्रहोर्भश्छन्दसि' के आदेशानुसार 'ह' के स्थानमें 'भ' हो गया तो 'गृभाय' बना—'गृभाय जिह्वया मधु' ॥७॥ शास्त्रकार सुप्, तिङ्गु, उपग्रह (परस्मैपद-आत्मनेपद), लिङ्ग, पुरुष, काल, हल्, अच्, स्वर, कर्तृ, (कारक) और यङ्—इन सबका व्यत्यय (विपर्यय) चाहते हैं, वह भी बाहुलकसे सिद्ध होता है ॥८॥ 'रात्री' शब्दमें 'रात्रेश्वाजसौ' (पा० सू० ४। १। ३१) इस नियमके अनुसार रात्रि-शब्दसे डीप्-प्रत्यय हुआ है। (लोकमें 'कृदिकारादक्तिनः' से डीष् होकर अन्तोदात्त होता है।) 'विभ्वी' में भी विभु-शब्दसे 'भुवश्च' के नियमानुसार डीष् हुआ है। 'कद्रूः' पदमें 'कदुकमण्डलचोश्छन्दसि' से ऊङ् प्रत्यय हुआ है। 'आविष्ट्यो वर्धते' इत्यादि स्थलोंमें 'अविष्ट्यस्योपसंख्यानं छन्दसि' के नियमानुसार 'आविस्' अव्यय से 'त्यप्' यह तद्वित-प्रत्यय हुआ है। 'वाजसनेयिनः' में 'वाजसनेयेन प्रोक्तमधीयते' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वाजसनेय-शब्दसे 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' सूत्रके द्वारा 'णिनि' प्रत्यय हुआ है ॥९॥ 'कर्णेभिः' में 'बहुलं छन्दसि' के नियमानुसार 'भिस्' के स्थानमें 'ऐस्' आदेश नहीं हुआ है। 'यशोभायः' पदमें 'वेशोयश आदेर्भगाद्

यल्' इस सूत्रसे 'यल्' प्रत्यय हुआ है। इत्यादि उदाहरण जानने चाहिये। 'चतुरक्षरम्' पदसे चार अक्षरवाले 'आश्रावय' 'अस्तु श्रौषट्' आदि पदोंकी ओर संकेत किया गया है। अक्षर-समूह वाच्य होतो 'छन्दस्' शब्दसे 'यत्' प्रत्यय होता है—'छन्दस्यः' यह उदाहरण है। 'देवासः' में 'आज्जसेरसुक्' इस नियमके अनुसार 'असुक्' का आगम हुआ है। 'सर्वदेव' शब्दसे स्वार्थमें 'तातिल्' प्रत्यय होता है। 'सविता नः सुवतु सर्वदेवतातिम्' इस उदाहरणमें 'सर्वदेव' शब्दसे 'तातिल्' प्रत्यय होनेपर 'सर्वदेवताति' शब्दकी सिद्धि होती है। 'युष्मद्', 'अस्मद्' शब्दोंसे सादृश्य-अर्थमें 'वतुप्' प्रत्यय होता है। इस नियमसे 'त्वावतः' पदकी सिद्धि हुई है। 'त्वावतः' का पर्याय है 'त्वत्सदृशान्' (तुम्हारे सदृश) ॥१०॥ 'उभयाविनम्' इत्यादि पदोंमें 'बहुलं छन्दसि' के नियमसे मत्वर्थमें विनि प्रत्यय हुआ है। 'छन्दोविन्प्रकरण०' इत्यादि नियमसे उभय शब्दके अकारका दीर्घ होनेसे 'उभयाविनम्' रूप बना है। प्रल, पूर्व आदि शब्दोंसे इवार्थमें 'थाल्' प्रत्यय होता है, इस नियमसे 'प्रलथा' बनता है। इसी प्रकार 'पूर्वथा' आदि भी हैं। वेदमें 'ऋच्' शब्द परे होनेपर त्रिका सम्प्रसारण होता है और उत्तरपदके आदिका लोप हो जाता है। 'तिस्त्र ऋचो यस्मिन्' तत् तृचं सूक्तम्। जिसमें तीन ऋचाएँ हों, उस सूक्तका नाम 'तृच्', है। 'त्रि+ऋच्' इस अवस्थामें 'त्रि'का सम्प्रसारण होनेपर 'तृ' बना और ऋच्चके ऋका लोप हो गया तो 'तृचम्' सिद्ध हो गया। 'इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम्' यहाँ 'अप' उपसर्गके साथ 'स्पृध' धातुके लङ्गलकारमें प्रथम पुरुषके द्विवचनका रूप है। 'अपस्पृधेथाम्' यह निपातनसे सिद्ध होता है। रेफका सम्प्रसारण और अलोप निपातनसे ही होता है। माइका योग न होनेपर भी अडागमका अभाव हुआ है (लोकमें इसका रूप 'अपास्पृधेथाम्' होता है)। 'वसुधिनों अव्यात्' इत्यादिमें

‘अव्यादवद्या०’ इत्यादि सूत्रके अनुसार व्यपर ‘अ’ परे होनेपर एङ् (ओ)-का प्रकृतिभाव हुआ है। ‘आपो अस्मान् मातरः’ इत्यादि प्रयोग भी ‘आपो जुषाणो०’ आदि नियमके अनुसार प्रकृति-भावसे सिद्ध होते हैं। आकार परे रहनेपर ‘आपो’ आदिमें प्रकृतिभाव होता है ॥ ११ ॥ ‘समानो गर्भः सगर्भस्तत्र भवः सगर्भ्यः।’ यहाँ ‘समानस्य सः’ इत्यादि सूत्रसे समानका ‘स’ आदेश हुआ है। ‘सगर्भस्यूथसनुताद् यत्’ से यत्-प्रत्यय हुआ है। ‘अष्टापदी’ यहाँ ‘छन्दसि च’-के नियमानुसार उत्तरपद परे रहते अष्टन्के ‘न’का ‘आ’ आदेश हो गया है। ‘ऋतौ भवम् ऋत्व्यम्’—जो ऋतुमें हो, उसे ‘ऋत्व्य’ कहते हैं। ‘ऋत्व्यवास्त्व्यः’ इत्यादि सूत्रसे निपातन करनेपर ‘ऋत्व्यम्’ पदकी सिद्धि होती है। अतिशयेन ‘ऋजु’ इति ‘रजिष्ठम्’—जो अत्यन्त ऋजु (कोमल या सरल) हो, उसे ‘रजिष्ठ’ कहा गया है। ‘विभाषजोश्छन्दसि’ के नियमानुसार इष्ट, इमन् और ईयस् परे रहनेपर ऋजुके ‘ऋ’के स्थानमें ‘र’ होता है। ‘ऋजु+इष्ट’ इस अवस्थामें ऋके स्थानमें ‘र’ तथा उकार लोप होनेसे ‘रजिष्ठ’ शब्द बना है। ‘त्रिपञ्चकम्’—त्रीणि पञ्चकानि यत्र तत् ‘त्रिपञ्चकम्’ इस विग्रहके अनुसार बहुत्रीहि समास करनेपर ‘त्रिपञ्चकम्’ की सिद्धि होती है। ‘हिरण्ययेन सविता रथेन’ इस मन्त्र-वाक्यमें ‘ऋत्व्यवास्त्व्य’ आदि सूत्रके अनुसार हिरण्य-शब्दसे ‘मयट्’ प्रत्यय और उसके ‘म’- का लोप निपातन किया जाता है। इससे ‘हिरण्यय’ शब्दकी सिद्धि होती है। ‘इतरम्’—वेदमें इतर शब्दसे ‘अद्ड’ का निषेध है। अतः ‘सु’ का ‘अम्’ आदेश होनेसे ‘इतरम्’ पद सिद्ध होता है। यथा—‘वार्त्तमितरम्’। ‘परमे व्योमन्’ यहाँ ‘व्योमनि’ रूप प्राप्त था; किंतु ‘सुपां सुलुक्’ इत्यादि नियमसे डिं-विभक्तिका लुक हो गया ॥ १२ ॥ ‘उर्विया’ की जगह ‘उरुणा’ रूप प्राप्त था। ‘टा’ का ‘इया’ आदेश होनेसे ‘उर्विया’ रूप बना।

‘इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्’ इस वार्तिकसे यहाँ ‘इयाज्’ हुआ है। ‘स्वप्रया’के स्थानमें ‘स्वप्रेन’ यह रूप प्राप्त था, किंतु ‘सुपां सुलुक्०’ इत्यादि नियमके अनुसार ‘टा’ का ‘अयाच्’ हो गया; अतः ‘स्वप्रया’ रूप बना। ‘वारयध्वम्’ रूप प्राप्त था, किंतु ‘ध्वमो ध्वात्’ सूत्रसे ‘ध्वम्’ के स्थानमें ‘ध्वात्’ आदेश होनेसे ‘वारयध्वात्’ हो गया। ‘अदुहत्’ के स्थानमें ‘अदुह’ यह वैदिक प्रयोग है। ‘लोपस्त आत्मनेपदेषु’ इस सूत्रसे तलोप और ‘बहुलं छन्दसि’ से रुट्का आगम हुआ है। ‘वै’ पादपूर्तिके लिये है। ‘अवधिष्म्’ यह रूप प्राप्त था, इसके स्थानमें ‘वर्धी’ रूप हुआ है। यहाँ ‘अम्’का ‘म्’ आदेश और अडागमका अभाव तथा ‘ईट्’ का आगम हुआ है—वर्धी वृत्रम्। ‘यजध्वैनं’—यहाँ ‘यजध्वम्+एनम्’ इस दशामें ‘ध्वम्’ के ‘म्’ का लोप होकर वृद्धि होनेसे उक्त रूपकी सिद्धि हुई है। ‘तमो भरन्त एमसि’—यहाँ ‘इमः’ के स्थानमें ‘इदन्तो मसि’ इस सूत्रके अनुसार ‘एमसि’ रूप हुआ है। ‘स्विनः स्नात्वा मलादिव’— इस मन्त्रमें ‘स्नात्वा’ रूप प्राप्त था; किंतु ‘स्नात्वादयश्च’— इस सूत्रके अनुसार उसके स्थानमें ‘स्नात्वी’ निपातन हुआ। ‘गत्वाय’—गत्वाके स्थानमें ‘क्त्वो यक्’ सूत्रके अनुसार ‘यक्’का आगम होनेसे उक्त पद सिद्ध होता है। ‘अस्थभिः’ में अस्थि-शब्दके ‘इ’को ‘अनङ्’ आदेश होकर नलोप हो गया है। ‘छन्दस्यपि दृश्यते’ इस नियमसे हलादि विभक्ति परे रहनेपर भी ‘अनङ्’ आदेश होता है ॥ १३ ॥ ‘गोनाम्’ यहाँ आम्-विभक्ति परे रहते नुट्का आगम हुआ है। किसी छन्दके पादान्तमें गो-शब्द हो तो प्रायः षष्ठी-बहुवचनमें वहाँ नुट्का आगम हो जाता है। ‘अपरिहवृताः’ यहाँ ‘हु हवरेष्ठछन्दसि’से प्राप्त हुए “‘हु’ आदेशका अभाव निपातित हुआ है। ‘ततुरिः’, ‘जगुरिः’ इत्यादि पद भी ‘बहुलं छन्दसि’ के नियमसे निपातनद्वारा सिद्ध होते हैं। ‘ग्रसिताम्’ ‘ग्रसु’ अदनेका निष्ठान्त रूप है। यहाँ

इट्का निषेध प्रास था, किंतु निपातनसे इट् हो गया है। इसी प्रकार 'स्कभित' आदिको भी समझना चाहिये। 'पश्वे' यहाँ 'जसादिषु छन्दसि वा वचनं०' इत्यादिसे वैकल्पिक घि-संज्ञा होनेके कारण घि-संज्ञाके अभावमें यण् होनेसे 'पश्वे' रूप बना है। इसी तरह 'दधद्' यह दधातिके स्थानमें निपातित हुआ है; लेट्का रूप है। 'दधद्रत्नानि दाशुषे' यह मन्त्र है। 'बभूथ' यह लिट् लकारके मध्यम पुरुषका एकवचन है। वेदमें इसके 'इट्' का अभाव निपातित हुआ है। 'प्रमिणन्ति'—यहाँ 'प्रमीणन्ति' रूप प्रास था। 'मीनातेर्निगमे' सूत्रसे हस्व हो गया। 'अवीवृथत्'—'नित्यं छन्दसि' से चड़ परे रहते उपथा ऋवर्णका 'ऋ'-भाव नित्य होता है॥१४॥ 'मित्रयुः' यहाँ दीर्घका निषेध होता है। 'दुष्ट इवाचरति' इस अर्थमें क्यचूँ परे रहते दुष्ट शब्दका 'दुरस्' आदेश होता है। 'दुरस्युः' यह निपातनात् सिद्ध रूप है। इसी प्रकार 'द्रविणस्युः' इत्यादि भी है। वेदमें 'कत्वा' परे रहते हा धातुका 'हि' आदेश विकल्पसे होता है। 'हि' आदेश न होनेपर 'घुमास्था०' इत्यादि सूत्रसे 'आ' के स्थानमें 'ई' हो जाता है; अतः 'हित्वा' और 'हीत्वा' दोनों रूप होते हैं। 'सु' पूर्वक धा-धातुसे 'क्त'प्रत्यय परे होनेपर 'इत्व' निपातन किया जाता है; इससे 'सुधितम्' रूप बनता है—यथा 'गर्भ माता सुधितं वक्षणासु।' 'दाधर्ति', 'दर्थर्ति' और 'दर्थर्षि' आदि रूप निपातनसे सिद्ध हैं। ये 'धृ'-धातुके यड्लुगन्त रूप हैं। 'स्ववद्धिः' अव-धातुसे असुन् करनेपर 'अवस्' रूप होता है। 'शोभनमवो येषां ते स्ववसः; तैः स्ववद्धिः' यह उसकी व्युत्पत्ति है। 'स्ववःस्वतवसोरुषसश्चेष्यते' इस वार्तिकसे भकारादि प्रत्यय परे रहते 'स्ववस्' आदि शब्दोंके 'स्' का 'त्' हो जाता है। प्रसवार्थक 'सु' धातुके लिट्में 'ससूवेति निगमे' सूत्रसे 'ससूव' यह निपातसिद्ध रूप है। यथा—'गृष्णः ससूव स्थविरम्।' 'सुधित' इत्यादि सूत्रसे 'धत्त्व' के स्थानमें 'धिस्व' निपातित

होता है—'धिस्व वज्रं दक्षिण इन्द्रहस्ते'॥१५॥ 'प्रप्रायमग्निः' यहाँ 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' से पादपूर्तिके लिये 'प्र' उपसर्गका द्वित्व हो गया है। 'हरिवते हर्यश्वाय' यहाँ 'छन्दसीरः' से 'मतुप्' के 'म' का 'व' हुआ है। 'अक्षण्वन्तः' में अक्षि-शब्दसे मतुप्, 'छन्दस्यपि दृश्यते' से अनड़-आदेश तथा 'अनो नुट्' से 'नुट्' का आगम हुआ है। 'सुपथिन्तरः' में 'नादघस्य' से 'नुट्' का आगम विशेष कार्य है। 'रथीतरः' में 'ईद्रथिनः' से 'ई' हुआ है। 'नसत्तम्' में नज्पूर्वक सद्-धातुसे निष्ठामें नत्वका अभाव निपातित हुआ है। इसी प्रकार सूत्रोक्त 'निषत्त' आदि शब्दोंको जानना चाहिये। 'अप्नेव'—इसमें 'अप्नस्' शब्द ईषत् अर्थमें है। वेदमें सकारका वैकल्पिक रेफ निपातित हुआ है। 'भुवरथो इति' यहाँ 'भुवश्च महाव्याहते:' से भुवस्के 'स्'का 'र्' हुआ है॥१६॥ 'ब्रूहि' यहाँ 'ब्रूहि प्रेष्य०' इत्यादि सूत्रसे उकार प्लुत हुआ है। यथा—अग्रयेऽनुब्रूहि। 'अद्यामावास्येत्याऽत्थ' यहाँ 'निगृह्यानुयोगे च' इस सूत्रसे वाक्यके 'टि'का प्लुतभाव होता है। 'अग्रीत्प्रेषणे परस्य च' इस सूत्रसे आदि और परका भी प्लुत होता है। उदाहरणके लिये 'ओऽश्रा ३ वय' इत्यादि पद है। इन सबमें प्लुत हुआ है। 'दाश्वान्' आदि पद ववसु-प्रत्ययान्त निपातित होते हैं। 'स्वतवान्' शब्दके नकारका विकल्पसे 'रु' होता है, पायु-शब्द परे रहनेपर—स्वतवाँः पायुरुग्ने।' 'त्रिभिष्ठं देव सवितः।' यहाँ 'त्रिभिस्+त्वम्' इस दशामें 'युष्मत्तत्तक्षुष्वन्तःपादम्' इस सूत्रमें 'स्' के स्थानमें 'ष्' होकर ष्ट्व होनेसे 'त्रिभिष्ठम्' बनता है। 'नृभिष्ठः' यहाँ 'स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि' इस सूत्रसे 'नृभिस्' के 'स्' का 'ष्' होकर ष्ट्व हुआ है॥१७॥ 'अभीषुणः' यहाँ 'सुञ्जः' सूत्रसे 'स्' का 'ष्' हुआ है। 'ऋताषाहम्' में 'सहेः पृतनर्ताभ्यां च' इस सूत्रसे 'स्'का मूर्धन्य आदेश हुआ है। 'न्यषीदत्' यहाँ भी 'निव्यभिष्ठोऽद्व्यवाये वा

'छन्दसि' इस सूत्रसे 'स' का मूर्धन्य हुआ है। 'नृमणा:' इस पदमें 'छन्दस्यृदवग्रहात्' सूत्रसे 'न' का 'ण' हुआ है। बाहुलक चार प्रकारके होते हैं—कहीं प्रवृत्ति होती है, कहीं अप्रवृत्ति होती है, कहीं वैकल्पिक विधि है और कहीं अन्यथाभाव होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक पद-समुदाय सिद्ध है। क्रियावाची 'भू' 'वा' आदि शब्दोंकी 'धातु' संज्ञा जाननी चाहिये। 'भू' आदि धातु परस्मैपदी माने गये हैं॥ १८-१९॥ 'एध' आदि छत्तीस धातु उदात्त एवं आत्मनेपदी हैं (इन्हें 'अनुदात्तेत्' माना गया है)। मुने! 'अत' आदि सैंतीस धातु परस्मैपदी हैं॥ २०॥ शी-कृ आदि बयालीस धातु आत्मनेपदमें परिगणित हुए हैं। फक्क आदि पचास धातु उदात्तेत् (परस्मैपदी) कहे गये हैं॥ २१॥ वर्च आदि इक्कीस धातु अनुदात्तेत् (आत्मनेपदी) बताये गये हैं। 'गुप्' आदि बयालीस धातु 'उदात्तेत्' (परस्मैपदी) कहे गये हैं॥ २२॥ 'घिणि' आदि दस धातु शाब्दिकोंद्वारा 'अनुदात्तेत्' कहे गये हैं। 'अण्' आदि सत्ताईस धातु 'उदात्तेत्' बताये गये हैं॥ २३॥ 'अय' आदि चौंतीस धातु वैयाकरणोंद्वारा अनुदात्तेत् (आत्मनेपदी) माने गये हैं। 'मव्य' आदि बहतर धातु उदात्तानुबन्धी कहे गये हैं॥ २४॥ 'धावु' धातु अकेला ही 'स्वरितेत्' कहा गया है। 'क्षुध्' आदि बावन धातु 'अनुदात्तेत्' कहे गये हैं॥ २५॥ 'घुषिर्' आदि अठासी धातु 'उदात्तेत्' माने गये हैं। 'द्युत्' आदि बाईस धातु 'अनुदात्तेत्' स्वीकार किये गये हैं॥ २६॥ घटादिमें तेरह धातु 'षित्' और 'अनुदात्तेत्' कहे गये हैं। तदनन्तर 'ज्वर' आदि बावन धातु उदात्त बताये गये हैं॥ २७॥ 'राजृ' धातु 'स्वरितेत्' है। उसके बाद 'भ्राजृ' भ्राशृ और 'भ्लाशृ'—ये तीन धातु 'अनुदात्तेत्' कहे गये हैं। तदनन्तर 'स्यमु' धातुसे लेकर आगे सभी आद्युदात्त एवं उदात्तेत् (परस्मैपदी) हैं॥ २८॥ फिर एकमात्र 'षह' धातु 'अनुदात्तेत्' तथा अकेला 'रम' धातु 'आत्मनेपदी' है। उसके

बाद 'सद' आदि तीन धातु 'उदात्तेत्' हैं। फिर 'कुच' आदि चार धातु भी 'उदात्तेत्' (परस्मैपदी) ही हैं॥ २९॥ इसके बाद 'हिक्क' आदि पैंतीस धातु 'स्वरितेत्' हैं। 'श्रिज्' धातु स्वरितेत् है। 'भृज्' आदि चार धातु भी स्वरितेत् ही हैं॥ ३०॥ 'धेट्' आदि छियालीस धातु परस्मैपदी कहे गये हैं। 'स्मिङ्' आदि अठारह धातु आत्मनेपदी माने गये हैं॥ ३१॥ फिर 'पूङ्' आदि तीन धातु अनुदात्तेत् कहे गये हैं। 'ह' धातु परस्मैपदी है। फिर 'गुप' से लेकर तीन धातु आत्मनेपदी हैं॥ ३२॥ 'रम' आदि धातु अनुदात्तेत् हैं और 'जिक्षिवदा' उदात्तेत् है। स्कम्भु आदि पंद्रह धातु परस्मैपदी हैं॥ ३३॥ 'कित' धातु 'उदात्तेत्' है। 'दान' 'शान'—ये दो धातु उभयपदी हैं। 'पच' आदि नौ धातु स्वरितेत् (उभयपदी) हैं। वे परस्मैपदी (और आत्मनेपदी दोनों) माने गये हैं॥ ३४॥ फिर तीन स्वरितेत् धातु हैं। परिभाषणार्थक 'वद' और 'वच' धातु परस्मैपदी हैं। ये एक हजार छः धातु भवादि कहे गये हैं॥ ३५॥

'अद' और 'हन्' धातु परस्मैपदी कहे गये हैं। 'द्विष' आदि चार धातु स्वरितेत् माने गये हैं॥ ३६॥ यहाँ केवल 'चक्षिङ्' धातु आत्मनेपदी कहा गया है। फिर 'ईर' आदि तेरह धातु अनुदात्तेत् हैं॥ ३७॥ मुने! वैयाकरणोंने 'षूङ्' और 'शीङ्'—इन दो धातुओंको आत्मनेपदी कहा है। फिर 'षु' आदि सात धातु परस्मैपदी बताये गये हैं॥ ३८॥ मुनीश्वर! यहाँ एक 'ऊर्णुज्' धातु स्वरितेत् कहा गया है। 'द्यु' आदि तीन धातु परस्मैपदी बताये गये हैं॥ ३९॥ नारद! केवल 'ष्ट्रज्' धातुको शाब्दिकोंने उभयपदी कहा है॥ ४०॥ 'रा' आदि अठारह धातु परस्मैपदी माने गये हैं। नारद! फिर केवल 'इङ्' धातु आत्मनेपदी कहा गया है॥ ४१॥ उसके बाद 'विद' आदि चार धातु परस्मैपदी माने गये हैं। 'जिष्वप् शये' यह धातु परस्मैपदी कहा गया है॥ ४२॥ मुने! 'श्वस'

आदि धातु मैंने तुम्हें परस्मैपदी कहे हैं। 'दीधीङ्' और 'वेवीङ्'—ये दो धातु आत्मनेपदी माने गये हैं॥४३॥ 'षस' आदि तीन धातु 'उदात्तेत्' हैं। मुनिश्रेष्ठ! 'चर्करीतं च' यह यद्गुणतका प्रतीक है। यह अदादि माना गया है। 'हङ्' धातु अनुदात्तेत् कहा गया है॥४४॥ इस प्रकार अदादि गणमें तिहत्तर धातु बताये गये हैं।

'हु' आदि चार धातु (हु, भी, ही और पृ) परस्मैपदी माने गये हैं॥४५॥ 'भृज्' धातु स्वरितेत् और 'ओहाक्' धातु उदात्तेत् है। 'माङ्' और 'ओहाङ्'—ये दोनों धातु अनुदात्तेत् हैं। दानार्थक 'दा' और धारणार्थक 'धा'—इनमें स्वरितकी इत्संज्ञा हुई है॥४६॥ 'णिजिर्' आदि तीन धातु स्वरितेत् कहे गये हैं। 'घृ' आदि बारह धातु परस्मैपदी माने गये हैं॥४७॥ इस प्रकार ह्वादि (जुहोत्यादि) गणमें बाईस धातु कहे गये हैं।

'दिव्' आदि पचीस धातु परस्मैपदी कहे गये हैं॥४८॥ नारद! 'षूङ्' आदि 'दूङ्'—ये आत्मनेपदी हैं। 'षूङ्' आदि सात धातु ओदित् और आत्मनेपदी माने गये हैं॥४९॥ विप्रबर! 'लीङ्' आदि धातु यहाँ आत्मनेपदी बताये गये हैं। श्यति (शो) आदि चार धातु परस्मैपदी हैं॥५०॥ मुने! 'जनी' आदि पंद्रह धातु आत्मनेपदी हैं। 'मृष' आदि पाँच धातु 'स्वरितेत्' कहे गये हैं॥५१॥ 'पद' आदि ग्यारह धातु आत्मनेपदी हैं। यहाँ वृद्धि-अर्थमें ही अकर्मक 'राध' धातुका ग्रहण है। यह स्वादि और चुरादिगणमें भी पढ़ा गया है॥५२॥ राध आदि तेरह धातु उदात्तेत् कहे गये हैं। तत्पश्चात् रध आदि आठ धातु परस्मैपदी बताये गये हैं॥५३॥ शम आदि छियालीस धातु उदात्तेत् कहे गये हैं। इस प्रकार दिवादिमें एक सौ चालीस धातु माने गये हैं॥५४॥

'सु' आदि नौ धातु स्वरितेत् कहे गये हैं। मुने! 'दु' आदि सात धातु परस्मैपदी बताये गये हैं॥५५॥ 'अश' और 'षिघ' ये दो धातु अनुदात्तेत् कहे गये हैं। यहाँ 'तिक' आदि चौदह

धातुओंको परस्मैपदी माना गया है॥५६॥ विप्रबर! स्वादिगणमें कुल बत्तीस धातु बताये गये हैं।

मुनिश्रेष्ठ! 'तुद' आदि छः स्वरितेत् है॥५७॥ 'ऋषी' धातु उदात्तेत् है और 'जुषी' आदि चार धातु आत्मनेपदी हैं। 'ब्रश्व' आदि एक सौ पाँच धातु उदात्तेत् कहे गये हैं॥५८॥ मुनीश्वर! यहाँ केवल 'गुरी' धातु अनुदात्तेत् बताया गया है। 'ण' आदि चार धातु परस्मैपदी माने गये हैं॥५९॥ 'कुङ्' धातुको 'अनुदात्तेत्' कहा गया है। यहाँ कुटादिगणकी पूर्ति हुई है। 'पृङ्' और 'मृङ्'—ये आत्मनेपदी धातु हैं। 'रि' और 'पि' से छः धातुतक परस्मैपदमें गिने गये हैं॥६०॥ 'दृङ्', 'धृङ्'—ये दो धातु आत्मनेपदी कहे गये हैं। मुने! 'प्रच्छ' आदि सोलह धातु परस्मैपदी बताये गये हैं॥६१॥ मुने! फिर 'मिल' आदि छः धातु स्वरितेत् कहे गये हैं। इसके बाद 'कृती' आदि तीन धातु परस्मैपदी हैं॥६२॥ इस प्रकार तुदादिमें एक सौ सत्तावन धातु हैं।

'रुथ' आदि नौ धातु स्वरितेत् हैं। 'कृती' धातु परस्मैपदी है। 'बिइन्थी'से तीन धातुतक अनुदात्तेत् कहे गये हैं। तत्पश्चात् 'शिष पिष' आदि बारह धातु उदात्तेत् हैं। इस प्रकार रुधादिगणमें कुल पचीस धातु हैं॥६३-६४॥

'तनु' धातुसे लेकर सात धातु 'स्वरितेत्' कहे गये हैं। 'मनु' और 'वनु'—ये दोनों आत्मनेपदी हैं। 'कृज्' धातु स्वरितेत् कहा गया है॥६५॥ विप्रबर! इस प्रकार वैयाकरणोंने तनादिगणमें दस धातुओंकी गणना की है।

'क्री' आदि सात धातु उभयपदी हैं। मुनीश्वर! 'स्तम्भु' आदि चार सौत्र (सूत्रोक्त) धातु परस्मैपदी कहे गये हैं। 'क्रूज्' आदि बाईस धातु उदात्तेत् कहे गये हैं॥६६-६७॥ 'वृङ्' धातु आत्मनेपदी है। 'श्रन्थ' आदि इक्कीस धातु परस्मैपदी हैं और 'ग्रह' धातु स्वरितेत् है॥६८॥ इस प्रकार विद्वानोंने ब्र्यादिगणमें बावन धातु गिनाये हैं।

चुर आदि एक सौ छत्तीस धातु जित्

(उभयपदी) माने गये हैं ॥ ६९ ॥ मुने ! चित आदि अठारह (या अड़तीस ?) आत्मनेपदी माने गये हैं। 'चर्च' से लेकर 'धृष' धातुतक 'जित' (उभयपदी) कहे गये हैं ॥ ७० ॥ इसके बाद अड़तालीस अदन्त धातु भी उभयपदी ही हैं। 'पद' आदि दस धातु आत्मनेपदमें परिणित हुए हैं ॥ ७१ ॥ यहाँ सूत्र आदि आठ धातुओंको भी मनीषी पुरुषोंने उभयपदी कहा है। प्रातिपदिकसे धात्वर्थमें णिच् और प्रायः सब बातें इष्ट प्रत्ययकी भाँति होती हैं। तात्पर्य यह कि 'इष्ट' प्रत्यय परे रहते जैसे प्रातिपदिक, पुंवद्वाव, रभाव, टिलोप, विन्मतुब्लोप, यणादिलोप, प्र, स्थ, स्फ आदि आदेश और भसंजा आदि कार्य होते हैं, उसी प्रकार 'णि' परे रहते भी सब कार्य होंगे ॥ ७२ ॥ 'उसे करता है, अथवा उसे कहता है' इस अर्थमें भी प्रातिपदिकसे णिच् प्रत्यय होता है। प्रयोजक व्यापारमें प्रेषण आदि वाच्य हों तो धातुसे णिच् होता है। कर्तृ-व्यापारके लिये जो करण है, उससे धात्वर्थमें णिच् होता है। चित्र आदि आठ धातु उदात्तेत् हैं। किंतु 'संग्राम' धातुको शब्दशास्त्रके विद्वानोंने अनुदात्तेत् माना है। स्तोभ आदि सोलह धातु अदन्त धातुओंके निर्दर्शन हैं ॥ ७३-७४ ॥ 'बहुलमेतन्निर्दर्शनम्'—इसमें जो बहुल शब्द आया है, उससे अन्य जो सूत्रोक्त लौकिक और वैदिक धातु हैं, उन सबका ग्रहण होता है। सभी धातु सब गणोंमें हैं और सबके अनेक अर्थ हैं ॥ ७५ ॥ इन धातुओंके अतिरिक्त सनादि* प्रत्यय जिनके अन्तमें हों, उनकी भी धातु-संज्ञा होती है। नामधातु भी धातु ही हैं। नारद! इस प्रकार अनन्त धातुओंकी उद्घावना हो सकती है। यहाँ संक्षेपसे सब कुछ बताया गया है। इसका विस्तार तत्सम्बन्धी ग्रन्थोंमें है ॥ ७६ ॥

(उपदेशावस्थामें एकाच् अनुदात्त धातुसे परे

वलादि आर्धधातुकको इट्का आगम नहीं होता। जिनमें यह निषेध लागू होता है, उन धातुओंको 'अनिट्' कहते हैं। उन्हीं अनिट् या एकाच् अनुदात्त धातुओंका यहाँ संग्रह किया जाता है—) अजन्त धातुओंमें—ऊकारान्त, ऋकारान्त, यु, रु, क्ष्यु, शीङ्, स्तु, नु, क्षु, श्वि, डीङ्, श्रिङ्, वृङ्, वृच्—इन सबको छोड़कर शेष सभी अनुदात्त (अर्थात् अनिट्) माने गये हैं ॥ ७७ ॥ शक्लु, पच्, मुच्, रिच्, वच्, विच्, सिच्, प्रच्छ, त्यज्, निजिर्, भज्, भञ्ज्, भुज्, भ्रस्ज्, मस्ज्, यज्, युज्, रुज्, रञ्ज्, विजिर्, स्वञ्ज्, सञ्ज्, सृञ्ज् ॥ ७८ ॥ अद्, क्षुद्, खिद्, छिद्, तुद्, नुद्, पद्, भिद्, विद् (सत्ता), विद् (विचारण), शद्, सद्, स्विद्, स्कन्द्, हद्, क्रुध्, क्षुध्, बुध् ॥ ७९ ॥ बन्ध्, युध्, रुध्, राध्, व्यध्, शुध्, साध्, सिध्, मन् (दिवादि), हन्, आप्, क्षिप्, क्षुप्, तप्, तिप्, स्तृप्, दृप् ॥ ८० ॥ लिप्, लुप्, वप्, शप्, स्वप्, सृप्, यभ्, रभ्, लभ्, गम्, नम्, यम्, रम्, क्रुश्, दंश्, दिश्, दृश्, मृश्, रिश्, रुश्, लिश्, विश्, स्पृश्, कृष् ॥ ८१ ॥ त्विष्, तुष्, द्विष्, दुष्, पुष्, पिष्, विष्, शिष्, शुष्, शिलष्, घस्, वस्, दह्, दिह, दुह, नह, मिह, रुह, लिह तथा वह ॥ ८२ ॥ ये हलन्तोंमें एक सौ दो धातु अनुदात्त माने गये हैं। 'च' आदिकी निपात संज्ञा होती है। 'प्र' आदि उपसर्ग 'गति' कहलाते हैं। भिन्न-भिन्न दिशा, देश और कालमें प्रकट हुए शब्द अनेक अर्थोंके बोधक होते हैं। विप्रवर! वे देश-कालके भेदसे सभी लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते हैं। यहाँ गणपाठ, सूत्रपाठ, धातुपाठ तथा अनुनासिकपाठ—'पारायण' कहा गया है। नारद! वैदिक और लौकिक सभी शब्द नित्यसिद्ध हैं ॥ ८३-८५ ॥ फिर वैयाकरणोंद्वारा जो शब्दोंका संग्रह किया जाता है, उसमें उन शब्दोंका पारायण ही मुख्य

* सन्, क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, क्यष्, आचारविवप्, णिच्, यङ्, यक्, आय, इयङ्, णिङ्—ये बारह प्रत्यय सनादि कहलाते हैं।

हेतु है (पारायण-जनित पुण्यलाभके लिये ही उनका संकलन होता है)। सिद्ध शब्दोंका ही प्रकृति, प्रत्यय, आदेश और आगम आदिके द्वारा लघुमार्गसे सम्यक् निरूपण किया जाता है। इस

प्रकार तुमसे निरुक्तका यत्किंचित् ही वर्णन किया गया है। नारद! इसका पूर्णरूपसे वर्णन तो कोई भी कर ही नहीं सकता ॥ ८६—८८ ॥ (पूर्वभाग द्वितीयपाद अध्याय ५३)

त्रिस्कन्ध ज्यौतिषके वर्णन-प्रसङ्गमें गणितविषयका प्रतिपादन

सनन्दन उवाच

ज्यौतिषाङ्गं प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ब्रह्मणा पुरा ।
यस्य विज्ञानमात्रेण धर्मसिद्धिर्भवेन्नुणाम् ॥ १ ॥
त्रिस्कन्धं ज्यौतिषं शास्त्रं चतुर्लक्ष्मुदाहृतम् ।
गणितं जातकं विप्रं संहितास्कन्धसंज्ञितम् ॥ २ ॥
गणिते परिकर्माणि खगमध्यस्फुटक्रिये ।
अनुयोगश्चन्द्रसूर्यग्रहणं चोदयास्तकम् ॥ ३ ॥
छाया शृङ्गोन्नतियुती पातसाधनमीरितम् ।

श्रीसनन्दनजी कहते हैं—देवर्षे! अब मैं ज्यौतिष नामक वेदाङ्गका वर्णन करूँगा, जिसका पूर्वकालमें साक्षात् ब्रह्माजीने उपदेश किया है तथा जिसके विज्ञानमात्रसे मनुष्योंके धर्मकी सिद्धि हो सकती है ॥ १ ॥ ब्रह्मन्! ज्यौतिषशास्त्र चार लाख श्लोकोंका बताया गया है। उसके तीन^१ स्कन्ध हैं, जिनके नाम ये हैं—गणित (सिद्धान्त), जातक (होरा) और संहिता ॥ २ ॥ गणितमें परिकर्म^२, ग्रहोंके मध्यम एवं स्पष्ट करनेकी रीतियाँ बतायी गयी हैं। इसके सिवा अनुयोग (देश, दिशा और कालका ज्ञान), चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, उदय, अस्त, छायाधिकार, चन्द्र-शृङ्गोन्नति^३, ग्रहयुति (ग्रहोंका योग) तथा पात (महापात=सूर्य-चन्द्रमाके क्रान्तिसाम्य)-का साधन-प्रकार कहा गया है ॥ ३^४ ॥

जातके राशिभेदाश्च ग्रहयोनिवियोनिजे ॥ ४ ॥

१. किसी-किसीके मतसे ज्यौतिषके पाँच स्कन्ध हैं—सिद्धान्त, होरा, संहिता, स्वर और सामुद्रिक। सिद्धान्तको ही गणित कहते हैं। होराका ही दूसरा नाम जातक है।

२. योग, अन्तर, गुणन, भजन, वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल—ये परिकर्म कहे गये हैं।

३. द्वितीयाको जो चन्द्रोदय होता है, उसमें कभी चन्द्रमाका दक्षिण सोंग और कभी उत्तर सोंग (नोक) ऊपरको उठा रहता है, उसीको 'चन्द्रशृङ्गोन्नति' कहा गया है। ज्यौतिषमें उसके परिणामका विचार किया गया है।

४. राशिके तृतीय भाग (१० अंश)-की 'द्रेष्काण' संज्ञा है।

निषेकजन्मारिष्टानि ह्यायुर्दायो दशाक्रमः ।
कर्मजीवं चाष्टवर्गो राजयोगाश्च नाभसाः ॥ ५ ॥
चन्द्रयोगः प्रव्रज्याख्या राशिशीलं च दृक्फलम् ।
ग्रहभावफलं चैवाश्रययोगप्रकीर्णके ॥ ६ ॥
अनिष्टयोगः स्त्रीजन्मफलं निर्याणमेव च ।
नष्टजन्मविधानं च तथा द्रेष्काणलक्षणम् ॥ ७ ॥

जातकस्कन्धमें राशिभेद, ग्रहयोनि, (ग्रहोंकी जाति, रूप और गुण आदि) वियोनिज (मानवेतर-जन्मफल), गर्भाधान, जन्म, अरिष्ट, आयुर्दाय, दशाक्रम, कर्मजीव (आजीविका), अष्टकवर्ग, राजयोग, नाभसयोग, चन्द्रयोग, प्रव्रज्यायोग, राशिशील, ग्रहदृष्टिफल, ग्रहोंके भावफल, आश्रययोग, प्रकीर्ण, अनिष्टयोग, स्त्रीजातक-फल, निर्याण (मृत्युविषयक विचार), नष्ट-जन्म-विधान (अज्ञात जन्म-कालको जाननेका प्रकार) तथा द्रेष्काणोंके स्वरूप—इन सब विषयोंका वर्णन है ॥ ४—७ ॥

संहिताशास्त्ररूपं च ग्रहचारोऽब्दलक्षणम् ।
तिथिवासरनक्षत्रयोगतिथ्यद्व्यसंज्ञकाः ॥ ८ ॥
मुहूर्तोपग्रहाः सूर्यसंक्रान्तिर्गोचरः क्रमात् ।
चन्द्रताराबलं चैव सर्वलग्नार्तवाह्वयः ॥ ९ ॥
आधानपुंससीमन्तजातनामात्रभुक्तयः ।
चौलं कर्णच्छिदा मौञ्जी क्षुरिकाबन्धनं तथा ॥ १० ॥

समावर्तनवैवाहप्रतिष्ठासद्मलक्षणम् ।
यात्रा प्रवेशनं सद्योवृष्टिः कर्मविलक्षणम्॥ ११ ॥
उत्पत्तिलक्षणं चैव सर्वं संक्षेपतो भ्रुवे ।

अब संहितास्कृथके स्वरूपका परिचय दिया जाता है। उसमें ग्रहचार (ग्रहोंकी गति), वर्षलक्षण, तिथि, दिन, नक्षत्र, योग, करण, मुहूर्त, उपग्रह, सूर्य-संक्रान्ति, ग्रहगोचर, चन्द्रमा और ताराका बल, सम्पूर्ण लग्नों तथा ऋतुदर्शनका विचार, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोत्रयन, जातकर्म, नामकरण, अन्त्र-प्राशन, चूडाकरण, कर्णवेध, उपनयन, मौज़ीबन्धन (वेदारम्भ), क्षुरिकाबन्धन, समावर्तन, विवाह, प्रतिष्ठा, गृहलक्षण, यात्रा, गृहप्रवेश, तत्काल वृष्टिज्ञान, कर्मवैलक्षण्य तथा उत्पत्तिका लक्षण—इन सब विषयोंका संक्षेपसे वर्णन कर्त्त्वंगा (८—११२) ॥
एकं दशं शतं चैव सहस्रायुतलक्षकम्॥ १२ ॥
प्रयुतं कोटिसंज्ञा चार्बुदमब्जं च खर्वकम्।
निखर्वं च महापद्मं शङ्कुर्जलधिरेव च॥ १३ ॥
अन्त्यं मध्यं परार्द्धं च संज्ञा दशगुणोत्तराः।
क्रमादुत्क्रमतो वापि योगः कार्योऽन्तरं तथा॥ १४ ॥
हन्यादृणेन गुण्यं स्यात् तेनैवोपानिमादिकान्।
शुद्ध्येद्धरो यद्गुणश्च भाज्यान्त्यात् तत्फलं मुने॥ १५ ॥

[अब गणितका प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है—] एक (इकाई), दश (दहाई), शत (सैकड़ा), सहस्र (हजार), अयुत (दस हजार), लक्ष (लाख), प्रयुत (दस लाख), कोटि (करोड़), अर्बुद (दस करोड़), अब्ज (अरब), खर्व (दस अरब), निखर्व (खर्व), महापद्म (दस खर्व), शङ्कु (नील), जलधि (दस नील), अन्त्य (पद्म), मध्य (दस पद्म), परार्द्ध (शङ्कु) इत्यादि संख्याबोधक संज्ञाएँ उत्तरोत्तर दसगुनी मानी गयी हैं। यथास्थानीय अङ्कोंका योग या अन्तर क्रम या व्युत्क्रमसे करना चाहिये^१ ॥ १२—१४ ॥ गुण्यके अन्तिम अङ्कोंको गुणकसे गुणना चाहिये। फिर उसके पार्श्ववर्ती अङ्कोंको भी उसी गुणकसे गुणना चाहिये। इस तरह आदि अङ्कतक गुणन करनेपर गुणनफल प्राप्त हो जाता है^२, मुने! इसी प्रकार भागफल जाननेके लिये भी यत्न करे। जितने अङ्कसे भाजकके साथ गुणा करनेपर भाज्यमेंसे घट जाय, वही अङ्क लब्धि अथवा भागफल होता है^३ ॥ १५ ॥
समाङ्कघातो वर्गः स्यात् तमेवाहुः कृतिं बुधाः।
अन्त्यात् विषमान्त्यक्त्वा कृतिं मूलं न्यसेत्पृथक्॥ १६ ॥

१. यथा—२+५+३२+१९३+१८+१०+१००—इन्हें क्रम या व्युत्क्रम (इकाई या सैकड़ाकी ओर)—से जोड़ा जाय, समान स्थानीय अङ्कोंका परस्पर योग किया जाय—अर्थात् इकाईको इकाईके साथ और दहाई आदिके दहाई आदिके साथ जोड़ा जाय तो सर्वथा योगफल ३६० ही होगा। इसी प्रकार १००००—३६० इसमें ३६० को १०००० के नीचे लिखकर पूर्ववत् समान स्थानीय अङ्कमेंसे उसी स्थानवाले अङ्कोंको क्रम या व्युत्क्रमसे भी घटाया जाय तो शेष सर्वथा ९६४० ही होगा।

२. यहाँपर 'अङ्कानां वामतो गतिः' इस उक्तिके अनुसार आदि-अन्त समझने चाहिये। जैसे—'१३५×१२' इसमें १३५ गुण्य है और १२ गुणक है। गुण्यका अन्तिम अङ्क हुआ १ उसमें १२ से गुणा पहले होगा, फिर उसके बादवाले ३ के साथ फिर ५ के साथ। यथा—^{१३५}_{१२} वास्तवमें यह गुणन-शैली उस समयकी है, जब लोग धूल बिछाकर उसपर अङ्कुलिसे गणित किया करते थे। आधुनिक शैली उससे भिन्न है। रूप-विभाग और स्थान-विभागसे इस गुणनके अनेक प्रकार हो जाते हैं; इसका विस्तार लीलावतीमें देखना चाहिये।

३. $1620 \div 12 = 135$ भागफल हुआ। जैसे—

भाजक भाज्य भागफल

१२) १६२०(१३५

१२

४२

३६

६०

६०

x

द्विगुणेनामुना भक्ते फलं मूले न्यसेत् क्रमात्।
तत्कृतिं च त्यजेद्विप्र मूलेन विभजेत् पुनः ॥ १७ ॥
एवं मुहुर्वर्गमूलं जायते च मुनीश्वर।

दो समान अङ्कोंके गुणनफलको वर्ग कहा गया है। विद्वान् पुरुष उसीको कृति कहते हैं। (जैसे ४ का वर्ग $4 \times 4 = 16$ और ९ का वर्ग $9 \times 9 = 81$ होता है)¹ [वर्गमूल जाननेके लिये दाहिने अङ्कसे लेकर बायें अङ्कतक अर्थात् आदिसे अन्ततक विषम और समका चिह्न कर देना चाहिये। खड़ी लकीरको विषमका और पड़ीको समका चिह्न माना गया है]। अन्तिम विषममें जितने वर्ग घट सकें उतने घटा देना चाहिये। उस वर्गका मूल लेना और उसे पृथक् रख देना चाहिये ॥ १६ ॥ फिर द्विगुणित मूलसे सम अङ्कमें भाग दे और जो लब्धि आवे उसका वर्ग विषममें घटा दे, फिर उसे दूना करके पद्धतिमें रख दे। मुनीश्वर! इस प्रकार बार-बार करनेसे पद्धतिका आधा वर्गमूल² होता है ॥ १७ ॥

समन्यङ्कहतिः प्रोक्तो घनस्तत्र विधिः पदे ॥ १८ ॥
प्रोच्यते विषमं त्वाद्यं समेद्वे च ततः परम्।

विशोध्यं विषमादन्त्यादघनं तन्मूलमुच्यते ॥ १९ ॥
त्रिनिष्ठ्यासं मूलकृत्या समं मूले न्यसेत् फलम्।
तत्कृतिञ्चान्त्यनिहतान्त्रिष्ठीं चापि विशोधयेत् ॥ २० ॥
घनं च विषमादेवं घनमूलं मुहुर्भवेत्।

समान तीन अङ्कोंके गुणनफलको 'घन'³ कहा गया है। अब घनमूल निकालनेकी विधि बतायी जाती है—दाहिनेके प्रथम अङ्कपर घन या विषमका चिह्न (खड़ी लकीरके रूपमें) लगावे, उसके वामभागमें पार्श्ववर्ती दो अङ्कोंपर (पड़ी लकीरके रूपमें) अघन या समका चिह्न लगावे। इसी प्रकार अन्तिम अङ्कतक एक घन (विषम) और दो अघन (सम)-के चिह्न लगाने चाहिये। अन्तिम या विषम घनमें जितने घन घट सकें उतने घटा दे। उस घनको अलग रखें। उसका घनमूल ले और उस घनमूलका वर्ग करे, फिर उसमें तीनसे गुणा करे। उससे आदि अङ्कमें भाग दे, लब्धिको अलग लिख ले, उस लब्धिका वर्ग करे और उसमें अन्त्य (प्रथम मूलाङ्क) एवं तीनसे गुणा करे, फिर उसके बादके अङ्कमें उसे घटा दे तथा अलग रखी हुई लब्धिके घनको

- वर्ग या कृति निकालनेके और भी बहुत-से प्रकार लीलावतीमें दिये गये हैं।
- जैसे १६३८४ का वर्गमूल उपर्युक्त विधिसे निकालनेपर १२८ आता है—



१६३ ८४

$$\begin{array}{r}
 1 \\
 \times 6 \\
 \hline
 4 \\
 \times 23 \\
 \hline
 4 \\
 \hline
 198
 \end{array}
 \qquad
 \begin{array}{r}
 128 \\
 \hline
 256 \text{ पंक्ति}
 \end{array}$$

अङ्कोंको स्थापनकर दायेंसे बायें
तरफ खड़ी-पड़ी रेखा देकर विषम-
सम अङ्क समझना चाहिये।

- जैसे ३ का घन हुआ $3 \times 3 \times 3 = 27$ ।

अगले घन अङ्कमें घटा दे, इस प्रकार बार-बार करनेसे घनमूल^१ सिद्ध होता है ॥ १८—२० ॥

अन्योन्यहारनिहतौ हरांशौ तु समच्छिदा ॥ २१ ॥
लवा लवधाश्च हरा हरधा हि सर्वर्णनम् ।

भागप्रभागे विज्ञेयं मुने शास्त्रार्थचिन्तकैः ॥ २२ ॥
अनुबन्धेऽपवाहे चैकस्य चेदधिकोनकः ।

भागास्तलस्थहरेण हारं स्वांशाधिकेन तान् ॥ २३ ॥
ऊनेन चापि गुणयेद्धनर्ण चिन्तयेत् तथा ।

कार्यस्तुल्यहरांशानां योगश्चाप्यन्तरो मुने ॥ २४ ॥
अहारराशौ रूपं तु कल्पयेद्धरमप्यथ ।

अंशाहतिश्छेदघातहिन्द्रिनगुणने फलम् ॥ २५ ॥
छेदं चापि लवं विद्वन् परिवर्त्य हरस्य च ।

शेषः कार्यो भागहारे कर्तव्यो गुणनाविधिः ॥ २६ ॥
भिन्न अङ्कोंके परस्पर हरसे हर (भाजक)

और अंश (भाज्य) दोनोंको गुण देनेसे सबके नीचे बराबर हर^२ हो जाता है। भागप्रभागमें अंशको

अंशसे और हरको हरसे गुण करना चाहिये। भागानुबन्ध एवं भागापवाहमें^३ यदि एक अङ्क अपने अंशसे अधिक या ऊन होवे तो तलस्थ हरसे ऊपरवाले हरको गुण देना चाहिये। उसके बाद अपने अंशसे अधिक ऊन किये हुए हरसे (अर्थात् भागानुबन्धमें हर अंशका योग करके और भागापवाहमें हर अंशका अन्तर करके) अंशको गुण देना चाहिये। ऐसा करनेसे भागानुबन्ध और भागापवाहका फल सिद्ध होगा^४। जिसके नीचे हर न हो उसके नीचे एक हरकी कल्पना करनी चाहिये। भिन्न गुणन-साधनमें अंश-अंशका गुणन करना और हर-हरके गुणनसे भाग देना चाहिये। इससे भिन्न गुणनमें फलकी सिद्धि होगी। (यथा $2 \times 7 \times 3 \times 8$ यहाँ २ और ३ अंश हैं और ७, ८ हर हैं, इनमें अंश-अंशसे गुणन करनेपर $2 \times 3 = 6$ हुआ और हर-हरके गुणनसे $7 \times 8 = 56$ हुआ।

१. उदाहरण इस प्रकार है—

19683 का घनमूल निकालना है। मूलोक विधिके अनुसार इसकी क्रिया इस प्रकार होगी—

$\frac{1}{19683}$

$$\begin{array}{r} & & 6 \\ & 2 \times 2 \times 3 = & \overline{12) 196(27} & = \text{घनमूल} \\ & & 24 \\ & 7 \times 7 \times 2 \times 3 & \overline{294} \\ & & 343 \\ & 7 \times 7 \times 7 = & \overline{343} \\ & & 000 \end{array}$$

)८ घन, उसका मूल २(

२ का वर्ग = ४

४ × ३ = १२

७ का वर्ग ४९

४९ × २ = ९८

९८ × ३ = २९४

२. यथा— $\frac{1}{2}, \frac{3}{2}, \frac{3}{2}$ यहाँ परस्पर हरसे हर और अंश दोनोंको गुणित किया जाता है। जिस हरसे गुणन करते हैं, वह अपने सिवा दूसरे हर और अंशको ही गुणित करता है। जैसे—

$$\left| \begin{array}{ccc} \frac{1}{2}, & \frac{3}{2}, & \frac{3}{2} \\ \frac{3}{2}, & \frac{3}{2}, & \frac{6}{2} \\ \frac{6}{2}, & \frac{6}{2}, & \frac{6}{2} \\ \frac{12}{2}, & \frac{12}{2}, & \frac{12}{2} \end{array} \right|$$

इस प्रकार यहाँ सबका हर समान हो गया। ऐसा करके ही भिन्नाङ्कोंका योग या अन्तर किया जाता है। यथा—

$$\frac{\frac{1}{2} + \frac{3}{2} + \frac{3}{2}}{24} = \frac{12 + 18 + 18}{24} = \frac{48}{24} = \frac{1}{2}$$

३. किसी भागको जोड़नेको भागानुबन्ध और घटानेको भागापवाह कहते हैं।

४. उदाहरणके लिये यह प्रश्न है—१/८ का १/३ उसमेंसे घटाओ और शेषका १/२ उसी शेषमें जोड़ो, इसकी न्यास-विधि (लिखनेकी रीति) इस प्रकार होगी—

$$\begin{array}{r} 1/8 \\ 1/3 \\ + 1/2 \\ \hline 1 \times 3 \times 2 = 6 \\ 8 \times 2 \times 3 = 8 \\ \hline 1 \end{array}$$

उत्तर हुआ।

फिर ६ ५६ करनेसे ६/५६ जिसे दोसे काटनेपर ३/२८ उत्तर हुआ) ॥ २१—२५ ॥ विद्वन्! भिन्न संख्याके भागमें भाजकके हर और अंशको परिवर्तित कर (हरको अंश और अंशको हर बनाकर) फिर भाज्यके हर-अंशके साथ गुणन-क्रिया करनी चाहिये, इससे भागफल सिद्ध होता है। (यथा ३/८ ४/५ में हर और अंशके परिवर्तनसे ३/८×५/४=१५/३२ यही भागफल हुआ) ॥ २६ ॥

हरांशयोः कृती वर्गे घनौ घनविधौ मुने ।

पदसिद्धै पदे कुर्यादथो खं सर्वतश्च खम् ॥ २७ ॥

भिन्नाङ्कके वर्गादि-साधनमें यदि वर्ग करना हो तो हर और अंश दोनोंका वर्ग करे तथा घन करना हो तो दोनोंका घन करे। इसी प्रकार वर्गमूल निकालना हो तो दोनोंका वर्गमूल और घनमूल निकालना हो तो भी दोनोंका घनमूल निकालना चाहिये। (यथा—३/७ का वर्ग हुआ ९/४९ और मूल हुआ ३/७, इसी प्रकार ३/७ का घन हुआ २७/३४३ और मूल हुआ ३/७) ॥ २७ ॥

छेदं गुणं गुं छेदं वर्गं मूलं पदं कृतिम् ।

ऋणं स्वं स्वमृणं कुर्याददृश्ये राशिप्रसिद्धये ॥ २८ ॥

अथ स्वांशाधिकोने तु लवाढ्योनो हरो हर।

१. उदाहरणके लिये यह प्रश्न लीजिये—वह कौन-सी संख्या है, जिसको तीनसे गुण करके उसमें अपना ३/४ जोड़ देते हैं, फिर सातका भाग देते हैं, पुनः अपना १/३ घटा देते हैं, फिर उसका वर्ग करते हैं, पुनः उसमें ५२ घटाकर उसका मूल लेते हैं, उसमें ८ जोड़कर १० का भाग देते हैं तो २ लब्धि होती है। उस संख्या अथवा राशिको निकालना है। इसमें मूलोक्त नियमके अनुसार इस प्रकार क्रिया की जायगी—

गुणक	३	हर	$८४ \div ३ = २८$ राशि
धन	३/४	अपना ३/७ ऋण	$१४७ - ६३ = ८४$
हर	७	गुणक	$२१ \times ७ = १४७$
ऋण	१/३	अपना १/२ धन	$१४ + ७ = २१$
वर्ग	=	मूल	$१९६ = १४$
ऋण	५२	धन	$१४४ + ५२ = १९६$
मूल	=	वर्ग	$१२ = १४४$
धन	८	ऋण	$२० - ८ = १२$
हर	१०	गुणक	$२ \times १० = २०$
		दृश्य	२

अतः विलोम गणितकी विधिसे वह संख्या २८ निश्चित हुई।

२. इसको स्पष्टरूपसे जाननेके लिये यह उदाहरणात्मक प्रश्न प्रस्तुत किया जाता है—वह कौन-सी संख्या है, जिसे ५ से गुण करके उसमें उसीका तृतीयांश घटाकर दससे भाग देनेपर जो लब्धि हो उसमें राशिके १/३, १/२, १/४ भाग

अंशस्त्वविकृतस्तत्र विलोमे शेषमुक्तवत् ॥ २९ ॥

विलोमविधिसे राशि जाननेके लिये दृश्यमें हरको गुणक, गुणकको हर, वर्गको मूल, मूलको वर्ग, ऋणको धन और धनको ऋण बनाकर अन्तमें उलटी क्रिया करनेसे राशि (इष्ट संख्या) सिद्ध होती है। विशेषता यह है कि जहाँ अपना अंश जोड़ा गया हो वहाँ हरमें अंशको जोड़कर और जहाँ अपना अंश घटाया गया हो, वहाँ हरमें अंशको घटाकर हर कल्पना करे और अंश ज्यों-का-त्यों रहे। फिर दृश्य राशिमें विलोम क्रिया उक्त रीतिसे करे तो राशि सिद्ध होती है ॥ २८-२९ ॥

उद्दिष्टराशिः संक्षेपणो हतोऽशै रहितो युतः ।

इष्टघनदृष्टमेतेन भक्तं राशिरितीरितम् ॥ ३० ॥

अभीष्ट संख्या जाननेके लिये इष्ट राशिकी कल्पना करनी चाहिये। फिर प्रश्रकर्ताके कथनानुसार उस राशिको गुणा करे या भाग दे। कोई अंश घटानेको कहा गया हो तो घटावे और जोड़नेको कहा गया हो तो जोड़ दे अर्थात् प्रश्रमें जो-जो क्रियाएँ कही गयी हों, वे इष्टराशिमें करके फिर जो राशि निष्पत्र हो, उससे कल्पित इष्ट-गुणित दृष्टमें भाग दे, उसमें जो लब्धि हो, वही इष्ट राशि है ॥ ३० ॥

योगोऽन्तरेणोन्युतोऽर्थितो राशी तु संक्रमे।
राश्यन्तरहृतं वर्गान्तरं योगस्ततश्च तौ ॥ ३१ ॥

संक्रमण-गणितमें (यदि दो संख्याओंका योग और अन्तर ज्ञात हो तो) योगको दो जगह लिखकर एक जगह अन्तरको जोड़कर आधा करे तो एक संख्याका ज्ञान होगा और दूसरी जगह अन्तरको घटाकर आधा करे तो दूसरी संख्या ज्ञात होगी—इस प्रकार दोनों राशियाँ (संख्याएँ) ज्ञात हो जाती हैं^३। वर्गसंक्रमणमें (यदि दो संख्याओंका वर्गान्तर तथा अन्तर ज्ञात हो तो) वर्गान्तरमें अन्तरसे भाग देनेपर जो लब्धि आती है, वही उनका योग है; योगका ज्ञान हो जानेपर फिर पूर्वोक्त प्रकारसे दोनों संख्याओंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये^४ ॥ ३१ ॥

गजश्चैष्टकृतिव्यंका दलिता चेष्टभाजिता ।
एकोऽस्य वर्गोदलितः सैकोराशः परो मतः ॥ ३२ ॥

द्विगुणेष्टहृतं रूपं सेष्टं प्राग्रूपकं परम् ।
वर्गयोगान्तरे व्येके राश्योर्वर्गोऽस्त एतयोः ॥ ३३ ॥

इष्टवर्गकृतिश्चेष्टघनोऽष्टचौ च सैककः ।
आद्यः स्यातामुभे व्यक्ते गणितेऽव्यक्त एव च ॥ ३४ ॥

वर्गकर्मगणितमें^५ इष्टका वर्ग करके उसमें आठसे गुणा करे, फिर एक घटा दे, उसका आधा करे। तत्पश्चात्—उसमें इष्टसे भाग दे तो एक राशि ज्ञात होगी। फिर उसका वर्ग करके आधा करे और उसमें एक जोड़ दे तो दूसरी संख्या ज्ञात होगी^६ ॥ ३२ ॥ अथवा कोई इष्ट-कल्पना करके उस द्विगुणित इष्टसे १ में भाग देकर लब्धिमें इष्टको जोड़े तो प्रथम संख्या होगी और दूसरी संख्या १ होगी। ये दोनों संख्याएँ वे ही होंगी, जिनके वर्गोंके योग और अन्तरमें एक घटानेपर भी वर्गाङ्क ही शेष रहता है^७ ॥ ३३ ॥ किसी इष्टके वर्गका वर्ग तथा पृथक् उसीका घन करके दोनोंको पृथक्-पृथक् आठसे गुणा करे। फिर पहलेमें एक जोड़े तो दोनों संख्याएँ ज्ञात होंगी। यह विधि व्यक्त और अव्यक्त दोनों गणितोंमें उपयुक्त है^८ ॥ ३४ ॥

जोड़नेसे ६८ होता है। इसमें गुणक ५। ऊन १/३। हर १०। युक्त होनेवाले राश्यंश १/३, १/२, १/४ और दृश्य संख्या ६८ है। कल्पना कीजिये कि इष्ट राशि ३ है। इसमें प्रश्रकताके कथनानुसार ५ से गुणा किया तो १५, इसमें अपना १/३ अर्थात् ५ घटा दिया तो १० हुआ। इसमें दससे भाग दिया तो १ लब्धि अङ्क हुआ, उसमें कल्पित राशि ३ के १/३, १/२, १/४ जोड़नेसे $1/1+3/3+3/2+3/4=12+12+18+9=51/12=17/4$ हुआ। फिर दृश्य ६८ में कल्पित इष्ट ३ से गुणा किया और $17/4$ से भाग दिया तो $68 \times 3 \times 4 = 48$ यही इष्ट संख्या हुई।

१७

२. जैसे किसीने पूछा—वे दोनों कौन-सी संख्याएँ हैं, जिनका योग १०१ और अन्तर २५ है? यहाँ योगको दो जगह लिखा—

१०१	१०१
२५ जोड़ा	२५ घटाया
$126 \div 2 = 63$	$76 \div 2 = 38$ उत्तर—वे दोनों संख्याएँ ६३ एवं ३८ हैं।

३. उदाहरणके लिये यह प्रश्न है—जिन दो संख्याओंका अन्तर ८ और वर्गान्तर ४०० है, उन्हें बताओ। $400 \div 8 = 50$ यह योग हुआ $50 + 8 \div 2 = 29$ एक संख्या। $50 - 8 \div 2 = 21$ दूसरी संख्या हुई। अथवा वर्गान्तरमें राशियोगका भाग देनेसे अन्तर ज्ञात होगा। यथा— $400 \div 50 = 8$ यह राश्यन्तर है। फिर पूर्वोक्त प्रक्रियासे दोनों राशियाँ ज्ञात होंगी।

४. जहाँ किन्हीं दो संख्याओंका वर्गयोग और वर्गान्तर करके दोनोंमें पृथक्-पृथक् १ घटानेपर भी वर्गाङ्क ही शेष रहता है उसको 'वर्गकर्म' कहते हैं।

५. कल्पना कीजिये कि इष्ट १/२ है, उसका वर्ग हुआ १/४ उसको आठसे गुणा किया तो २ हुआ। उसमें १ घटाकर आधा किया तो १/२ हुआ, उसमें इष्ट १/२ से भाग दिया तो १ हुआ—यह प्रथम संख्या है। उसका वर्ग किया तो एक ही हुआ। इसका आधा करनेसे १/२ हुआ। इसमें एक जोड़नेसे ३/२ हुआ यह दूसरी संख्या हुई।

६. कल्पना कीजिये कि इष्ट १ है, उसको दोसे गुणा किया तो २ हुआ, उससे १ में भाग दिया तो $1 \div 2 = 1 \times 1/2 = 1/2$ हुआ। उसमें इष्ट १ जोड़ दिया तो १ १/२ = ३/२ प्रथम संख्या निकल आयी और दूसरी संख्या १ है ही।

७. कल्पना कीजिये कि इष्ट २ है। इसके वर्गका वर्ग हुआ १६ और उसका घन हुआ ८। दोनोंको अलग-अलग

गुणांशमूलोनयुते सगुणार्थकृतेः पदम्।
दृष्टस्य च गुणधीर्णनयुतं वर्गीकृतं गुणः ॥ ३५ ॥
यदा लवोनयुग्राशिर्दृश्यं भागोनयुग्मुवा।
भक्तं तथा मूलगुणं ताभ्यां साध्योऽथ व्यक्तवत् ॥ ३६ ॥

गुणकर्म अपने इष्टगुणित मूलसे ऊन या युक्त होकर यदि कोई संख्या दृश्य हुई हो तो मूल गुणके आधेका वर्ग दृश्य-संख्यामें जोड़कर मूल लेना चाहिये । उसमें क्रमसे मूल गुणके आधा जोड़ना और घटाना चाहिये । (अर्थात् जहाँ इष्टगुणितमूलसे ऊन होकर दृश्य हो वहाँ गुणकार्थको जोड़ना तथा यदि इष्टगुणितमूलयुक्त होकर दृश्य हो तो उक्त मूलमें गुणकार्थ घटाना चाहिये) फिर उसका वर्ग कर लेनेसे प्रश्रकर्ताकी अभीष्ट राशि (संख्या) सिद्ध होती है^१ । यदि राशि मूलोन या मूलयुक्त होकर पुनः अपने किसी भागसे भी ऊन या युत होकर दृश्य होती हो तो उस भागको १ में ऊन या युत कर (यदि भाग ऊन हुआ हो तो

घटा करके और यदि युत हुआ हो तो जोड़ करके) उसके द्वारा पृथक्-पृथक् दृश्य और मूल गुणकमें भाग दे; फिर इस नूतन दृश्य और मूलगुणकसे पूर्ववत् राशिका साधन करना चाहिये ॥ ३५-३६ ॥

प्रमाणेच्छे सजातीये आद्यन्ते मध्यगं फलम्।

इच्छांशमाद्यहृत्स्वेष्टं फलं व्यस्ते विपर्यात् ॥ ३७ ॥

(त्रैराशिकमें) प्रमाण और इच्छा ये समान जातिके होते हैं, इन्हें आदि और अन्तमें रखे, फल भिन्न जातिका है, अतः उसे मध्यमें स्थापित करे । फलको इच्छासे गुणा करके प्रमाणके द्वारा भाग देनेसे लब्धि इष्टफल होती है । (यह क्रम त्रैराशिक बताया गया है ।) व्यस्त त्रैराशिकमें इससे विपरीत क्रिया करनी चाहिये । अर्थात् प्रमाण-फलको प्रमाणसे गुणा करके इच्छासे भाग देनेपर लब्धि इष्टफल होती है । (प्रमाण, प्रमाण-फल और इच्छा—इन तीन राशियोंको जानकर इच्छाफल जाननेकी क्रियाको त्रैराशिक कहते हैं ।)^२ ॥ ३७ ॥

८ से गुणा करनेपर एक हुआ १२८ और दूसरा हुआ ६४ । यहाँ पहलेमें १ जोड़नेसे १२९ हुआ, यह पहली संख्या है और ६४ दूसरी संख्या हुई ।

१. यदि कोई पूछे—किसी हंस-समूहके मूलका सप्तगुणित आधा (७/२) भाग सरोवरके टटपर चला गया और बचे हुए २ हंस जलमें ही क्रीड़ा करते देखे गये तो उन हंसोंकी कुल संख्या कितनी थी ? यहाँ मूल गुणक ७/२ है । दृष्ट संख्या २ है । गुणार्थ हुआ ७/४ उसका वर्ग हुआ ४९/१६ उससे दृष्ट २ का योग करनेपर ८१/१६ हुआ । इसका मूल हुआ ९/४ फिर इसे गुणार्थ ७/४ से युक्त किया तो १६/४=४ हुआ, इसका वर्ग किया तो १६ हुआ, यही हंसकुलका मान है । (यह मूलोन दृष्टका उदाहरण है ।)

भागोन दृष्टका उदाहरण इस प्रकार है—किसी व्यक्तिने अपने धनका आधा १/२ अपने पुत्रको दिया और धन-संख्याके मूलका १२ गुना भाग अपनी स्त्रीको दे दिया । इसके बाद उसके पास १०८०) बच गये तो बताओ उसके सम्पूर्ण धनकी संख्या क्या है ?

उत्तर—इस प्रश्नमें मूलगुणक १२ है और १/२ भागसे ऊन दृष्ट १०८० है । अतः मूल श्लोकमें वर्णित रीतिके अनुसार भागको एकमें घटानेसे १-१/२=१/२ हुआ । इससे मूल गुणक १२ और दृश्य १०८० में भाग देनेसे क्रमशः नवीन मूलगुणक २४ और नवीन दृश्य २१६० हुआ । पुनः उपर्युक्त रीतिसे इस मूलगुणकके आधे १२ के वर्ग ४४ को दृश्यमें जोड़नेसे २३०४ हुआ । इसके मूल ४८ में गुणक २४ के आधे १२ को जोड़नेसे ६० हुआ और उसका वर्ग ३६०० हुआ; यही उत्तर है ।

भागयुत दृष्टका उदाहरण—एक भगवद्वक्त प्रातःकाल जितनी संख्यामें हरिनामका जप करते हैं; उस संख्याके पञ्चमांशमें उसी जपसंख्याके मूलका १२ गुना जोड़नेसे जो संख्या हो, उतना जप सायंकालमें करते हैं, यदि दोनों समयकी जपसंख्या मिलकर १३२०० है तो प्रातःकाल और सायंकालकी पृथक्-पृथक् जपसंख्या बताइये ।

उत्तर—यहाँ मूलगुणक १२ और भाग १/५से युत दृष्ट १३२०० है । अतः उक्त रीतिके अनुसार भागको १ में जोड़ा गया तो ६/५ हुआ । इससे मूलगुणक १२ और दृश्य १३२०० में भाग देनेपर नवीन मूलगुणक १० और नवीन दृश्य ११००० हुआ । उपर्युक्त रीतिके अनुसार गुणकके आधे ५ के वर्ग २५ को नवीन दृश्यमें जोड़नेपर ११०२५ हुआ । इसका मूल १०५ हुआ । इसमें नवीन गुणकके आधे ५ को घटानेसे १०० हुआ । इसका वर्ग १०००० है । यही प्रातःकालकी जपसंख्या हुई । शेष ३२०० सायंकालकी जपसंख्या हुई ।

२. उदाहरणके लिये यह प्रश्न है—यदि पाँच रूपयेमें १०० आम मिलते हैं तो सात रूपयेमें कितने मिलेंगे ? इस प्रश्नमें ५ प्रमाण है, १०० प्रमाण-फल है और ७ इच्छा है । प्रमाण और इच्छा एक जाति (रूपया) तथा प्रमाण-फल भिन्न जाति (आम) है । आदिमें प्रमाण, मध्यमें फल और अन्तमें इच्छाकी स्थापना की गयी—५) में १०० आम तो ७) में कितने ? यहाँ प्रमाण-

पञ्चराश्यादिकेऽन्योन्यपक्षं कृत्वा फलच्छदाम्।
बहुराशिवधे भक्ते फलं स्वल्पवधेन च ॥ ३८ ॥
इष्टकर्मविधेर्मूलं च्युतं मिश्रात् कलान्तरम्।
मानन्धकालश्वातीतकालन्धफलसंहृताः ॥ ३९ ॥
स्वयोगभक्ता मिश्रघाः सम्प्रयुक्तदलानि च।
पञ्चराशिक, सप्तराशिक (नवराशिक,
एकादशराशिक) आदिमें फल और हरोंको परस्पर

पक्षमें परिवर्तन करके (प्रमाण-पक्षवालेको इच्छा-पक्षमें और इच्छा-पक्षवालेको प्रमाण-पक्षमें रखकर) अधिक राशियोंके घातमें अल्पराशिके घातसे भाग देनेपर जो लब्धि आवे, वही इच्छाफल है ॥ ३८ ॥ मिश्रधनको इष्ट मानकर इष्टकर्मसे मूलधनका ज्ञान करे, उसको मिश्रधनमें घटानेसे कलान्तर (सूद) समझना चाहिये ।^३ अपने-अपने

फल १०० को इच्छासे गुणा करके प्रमाणसे भाग दिया जायगा तो $\frac{100 \times ७}{५} = १४०$ यह इच्छाफल हुआ (अर्थात् सात रुपये के १४० आम हुए)।

जहाँ इच्छाकी वृद्धिमें फलकी वृद्धि और इच्छाके हासमें फलका हास हो, वहाँ क्रम-त्रैराशिक होता है। जहाँ इच्छाकी वृद्धिमें फलका हास और इच्छाके हासमें फलकी वृद्धि हो, वहाँ व्यस्तत्रैराशिक होता है। वैसे स्थलोंमें प्रमाणफलको प्रमाणसे गुणा करके उसमें इच्छाके द्वारा भाग देनेसे इच्छाफल होता है। इस प्रकारके व्यस्त-त्रैराशिकके कुछ परिणित स्थल हैं—‘जीवानां वयसो मौल्ये तौल्ये वर्णस्य हैमने। भागहारे च राशीनां व्यस्तं त्रैराशिकं भवेत् ॥’ अर्थात् जीवोंकी वयस्के मूल्यमें, उत्तमके साथ अधम मौलवाले सोनेके तौलमें तथा किसी संख्यामें भिन्न-भिन्न भाजकसे भाग देनेमें व्यस्तत्रैराशिक होता है। एक उदाहरण लीजिये—३ आदमी मिलकर १० दिनमें एक काम पूरा करते हैं तो १५आदमी कितने दिनमें करेंगे? यहाँ $10 \times 3 \div 15$ करनेसे उत्तर आया २; अतः २ दिनमें काम पूरा करेंगे।

१. इसका प्रश्नात्मक उदाहरण इस प्रकार है—यदि १ मासमें १००) के ५) ब्याज होते हैं तो १२ महीनमें १६) के कितने होंगे? इसका न्यास इस प्रकार है—

प्रमाण-पक्ष	इच्छा-पक्ष	परस्पर पक्षनयन करके इस प्रकार	अल्प	बहुत
१	१२	परस्पर पक्षनयन करके इस प्रकार	१	१२
१००	१६	न्यास किया गया।	१००	१६
५	०	बहुराशिके घात (गुणन) से— $12 \times 16 \times ५ = १६०$ अल्पराशिके घात (गुणन) से— $1 \times 100 = १००$ $160 \div 100 = १\frac{६}{१०} = १\frac{३}{५}$ रुपये ब्याज हुए।	०	५

इसी तरह मूलधन तथा ब्याज जानकर काल बताना चाहिये और काल तथा ब्याज जानकर मूलधन बताना चाहिये। सप्तराशिकका उदाहरण इस प्रकार है—यदि ४ हाथ चौड़ी और ८ हाथ लम्बी १० दरियोंका मूल्य १००) रुपया है तो ८ हाथ चौड़ी तथा १० हाथ लम्बी २० दरियोंका मूल्य क्या होगा?

प्रमाण-पक्ष	इच्छा-पक्ष	अन्योन्य पक्ष-नयनसे	अल्पराशि	बहुराशि
४	८		४	८
८	१०		८	१०
१०	२०		८	२०
१००			१०	१००

श्लोकोक्त रीतिके अनुसार $8 \times 10 \times 20 \times 100 = 4000$ पाँच सौ रुपये। यही उत्तर हुआ। इसी प्रकार नवराशिक आदिको भी जानना चाहिये।

२. उदाहरण यह है—१ मासमें १००) के ५) ब्याजके हिसाबसे यदि बारह मासमें मूलधनसहित ब्याज १०००) हुए तो अलग-अलग मूलधन और ब्याजकी संख्या बताओ। इष्टकर्मसे मूलधन जाननेके लिये इष्ट ५ कल्पित मूलधन और दृश्य १००० मिश्रधन है। यहाँ कल्पित मूलधनसे पञ्चराशिकद्वारा ब्याज जाननेके लिये न्यास—

१	१२	परस्पर पक्षनयनसे	१	१२ बहुराशिके घात (गुणन)-में स्वल्पराशिके
१००	५		१००	५ घात (गुणन) से भाग देनेपर
५	×		×	$12 \times ५ \times ५ = ३$ १००

प्रमाण धनसे अपने-अपने कालको गुणा करना, उसमें अपने-अपने व्यतीत काल और फलके घात (गुणा)-से भाग देना, लब्धिको पृथक् रहने देना, उन सबमें उन्हींके योगका पृथक्-पृथक् भाग देना तथा सबको मिश्रधनसे गुणा कर देना चाहिये। फिर क्रमसे प्रयुक्त व्यापारमें लगाये हुए धनखण्डके प्रमाण ज्ञात होते हैं ॥ ३९ ॥

बहुराशिफलात् स्वल्पराशिमासफलं बहु ॥ ४० ॥

चेद्राशिजफलं मासफलाहतिहतं चयः ।

पञ्चराशिकादिमें फल और हरको अन्योन्य पक्षनयन करनेसे इच्छा-पक्षमें फलके चले जानेसे इच्छापक्ष बहुराशि और प्रमाण-पक्ष स्वल्पराशि

१. कल्पित ब्याज हुआ। कल्पित मिश्रधन $5+3=8$, इससे इष्टगुणित दृश्यमें भाग देनेसे उद्दिष्ट मूलधन $1000 \times 5 = 625$) इसको मिश्रधन १००० में घटानेसे ३७५) ब्याजके हुए। संक्षेपसे इस प्रकार न्यास करना चाहिये—

१	१२	लब्धिक्रमसे मूल ६२५)
१००	१०००	ब्याज ३७५)
५	०	

अथवा इष्टकर्मसे कल्पित इष्ट १

पूर्वोक्त रीतिसे कलान्तर (सूद) $\frac{3}{5}$ इससे युक्त $1=\frac{8}{5}$

$$1000 \div \frac{4}{5} - \frac{1000 \times 4}{5} = 625 \text{ मूलधन} \quad 1000 - 625 = 375 \text{ ब्याज}$$

२. उदाहरणके लिये यह प्रश्न है—किसीने अपने ९४) रुपये मूलधनके तीन भाग करके एक भागको माहवारी पाँच रुपये सैकड़े ब्याज, दूसरे भागको तीन रुपये और तीसरे भागको चार रुपये सैकड़े ब्याजपर दिया। क्रमशः तीनों भागोंमें सात, दस और पाँच मासमें बराबर ब्याज मिले तो तीनों भागोंकी अलग-अलग संख्या बताओ।

भाग १	भाग २	भाग ३	मिश्रधन (सम्मिलित मूलधन)
प्रमाणकाल १व्यतीतकाल ७	प्र०का० १व्य०का० १०	प्र० का० १ व्य० का० ५	
प्रमाण धन १००	प्रमाण धन १००	प्रमाण धन १००	९४
प्रमाण फल ५	प्रमाण फल ३	प्रमाण फल ४	

अपने प्रमाणकाल और प्रमाणधनके गुणनफलमें व्यतीतकाल और प्रमाण-फलके गुणनफलसे भाग देनेपर—

$$\frac{100 \times 1 = 100}{7 \times 4 = 35} - \frac{20}{7} \quad | \quad \frac{100 \times 1 \ 100}{3 \times 10 = 30} - \frac{10}{3} \quad | \quad \frac{100 \times 1 \ 100}{4 \times 5 = 20} - \frac{5}{1}$$

इनमें इनके योग $235/21$ से भाग देने और मिश्रधन (९४)-से गुणा करनेपर पृथक्-पृथक् भाग इस प्रकार होते हैं—

$$\frac{20}{7} + \frac{235}{7} = \frac{20 \times 21 \times 94}{7 \times 235} = 28 \text{ यह प्रथम भाग हुआ।}$$

$$\frac{10}{3} + \frac{235}{3} = \frac{10 \times 21 \times 94}{3 \times 235} = 28 \text{ यह द्वितीय भाग हुआ।}$$

२. उदाहरण—एक मासमें १००) मूलधनका ५) रुपया ब्याज होता है तो १२ मासमें १६ रुपयेका कितना होगा? अन्योन्य पक्षनयनसे

प्रमाण	इच्छा	स्वल्प राशि	बहुराशि
१	१२	१	१२
१००	१६	१००	१६
५	×		५

होते हैं। वापी आदि पूरणके प्रश्नमें—अपने-अपने अंशोंसे हरमें भाग देना, फिर उन सबके योगसे १ में भाग देनेपर वापीके भरनेके समयका ज्ञान होता है॥ ४१ २॥

गुणो गच्छेऽसमे व्येके समे वर्गोऽर्थितेऽन्तः ॥ ४२ ॥
यद् गच्छान्तफलं व्यस्तं गुणवर्गभवं हि तत्।

व्येकं व्येकगुणासं च प्राग्नं मानं गुणोत्तरे ॥ ४३ ॥

(द्विगुणचयादि-वृद्धिमें फलका साधन)—
(जहाँ द्विगुण-त्रिगुण आदि चय हो वहाँ) पद यदि विषम संख्या (३, ५, ७ आदि) हो तो

उसमें १ घटाकर गुणक लिखे। यदि पद सम हो तो आधा करके वर्गचिह्न लिखे। इस प्रकार एक घटाने और आधा करनेमें भी जब विषमाङ्क हो तब गुणकचिह्न, जब समाङ्क हो तब वर्गचिह्न करना एवं जबतक पदकी कुल संख्या समाप्त न हो जाय तबतक करते रहना चाहिये। फिर अन्त्य चिह्नसे उलटा गुणज और वर्गफल साधन करके आद्य चिह्नतक जो फल हो, उसमें १ घटाकर शेषमें एकोन गुणकसे भाग देना चाहिये। लब्धिको आदि अङ्कसे गुणा करनेपर

$$\text{श्लोकोक्त रीतिके अनुसार} - \frac{12 \times 16 \times 5}{100} = \frac{48}{5} = \text{इच्छाफल।}$$

इसी उदाहरणमें मूलधन जाननेके लिये—
न्यास—

प्रमाण-पक्ष

मास १
धनराशि १००
फल ५

इच्छा-पक्ष

१२ मास
×
 $\frac{48}{5}$ = इच्छाफल (५ वीं राशि)

यहाँ फल और हरके अन्योन्य पक्षनयन करनेसे—

बहुराशि

प्रमाण

मास १

धन १००

४८

स्वल्पराशि

इच्छा

१२

×

५

५

'बहुराशिफलात्' इत्यादि ४० वें श्लोकके अनुसार—

$$\frac{1 \times 100 \times 48}{12 \times 5 \times 5} = 16 - \text{मूलधन।}$$

१. मान लीजिये कि ३ व्यापारियोंके क्रमसे ५१, ६८, ८५ रुपये मूलधन हैं। तीनोंने एक साथ मिलकर व्यापारसे ३००) रुपये प्राप्त किये तो इन तीनोंके पृथक्-पृथक् कितने धन होंगे? यहाँ मूलोक्त नियमके अनुसार प्रक्षेपों (५१, ६८, ८५)-को मिश्रधन ३०० से गुणाकर प्रक्षेपोंके योग २०४ के द्वारा भाग देनेपर लब्धिक्रमसे तीनोंके पृथक्-पृथक् भाग हुए।

यथा—प्रथमका

$$\text{भाग} - \frac{51 \times 300}{204} = 75। \text{द्वितीयका भाग} - \frac{68 \times 300}{204} = 100। \text{तृतीयका भाग} - \frac{85 \times 300}{204} = 125।$$

२. कल्पना कीजिये कि एक झरना या नल किसी तालाबको १ दिन (१२ घंटे) में, दूसरा $\frac{1}{2}$ दिनमें, तीसरा $\frac{1}{3}$ दिनमें और चौथा $\frac{1}{6}$ दिनमें अलग-अलग खोलनेपर भर देता है तो यदि चारों एक ही साथ खोल दिये जायें तो दिनके कितने भागमें तालाबको भरेंगे।

मूलोक्त रीतिसे अपने-अपने अंशसे हरमें भाग देनेसे $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{3}$, $\frac{1}{4}$, $\frac{1}{6}$, इनके योग $\frac{12}{12}$ से १ में भाग देनेपर $\frac{1}{12}$ हुआ। अर्थात् १ दिनके १२ वें भागमें (१ घंटेमें) तालाब भर जायगा।

सर्वधन होता है१ ॥ ४२-४३ ॥

भुजकोटि कृतेर्योगमूलं कर्णश्च दोर्भवेत्।

श्रुतिकोटि कृतेरन्तः पदं दोः कर्णवर्गयोः ॥ ४४ ॥

विवराद् यत्पदं कोटिः क्षेत्रे त्रिचतुरस्त्रके ।

राश्योरन्तरवर्गेण द्विघ्ने घाते युते तयोः ॥ ४५ ॥

वर्गयोगोऽथ योगान्तर्हतिर्वर्गान्तरं भवेत्।

(क्षेत्रव्यवहार-प्रकरण) — भुज और कोटि के वर्गयोग का मूल कर्ण होता है, भुज और

कर्ण के वर्गान्तर का मूल कोटि होता है तथा कोटि एवं कर्ण के वर्गान्तर का मूल भुज होता है—यह बात त्रिभुज अथवा चतुर्भुज क्षेत्र के लिये कही गयी है२। अथवा राशि के अन्तरवर्ग में उन्हीं दोनों राशियों का द्विगुणित घात (गुणनफल) जोड़ दें तो वर्गयोग होता है अथवा उन्हीं दोनों राशियों के योगान्तर का घात वर्गान्तर होता है३ ॥ ४४-४५४ ॥

१. कल्पना कीजिये कि किसी दाताने किसी याचक को पहले दिन २ रुपये देकर उसके बाद प्रतिदिन द्विगुणित करके देने का निश्चय किया तो बताइये कि उसने ३० दिन में कितने रुपये दान किये।

उत्तर—यहाँ आदि=२, गुणात्मकचय=२, पद=३० है। पद सम अंक है। अतः आधा करके १५ के स्थान में वर्गचिह्न लगाया, यह विषमाङ्क हुआ, अतः उसमें १ घटाकर १४ के स्थान में गुणकचिह्न लिखा। फिर यह सम हो गया, अतः आधा ७ करके वर्गचिह्न किया, इस प्रकार पद-संख्याकी समाप्तिपर्यन्त न्यास किया। न्यास देखिये—

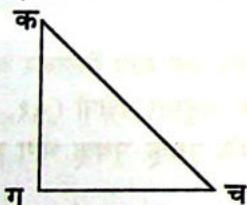
न्यास—

१५ वर्ग	१०७३७४१८२४
१४ गुण	३२७६८
७ वर्ग	१६३८४
६ गुण	१२८
३ वर्ग	६४
२ गुण	८
१ वर्ग	४
० गुण	२

अन्त में गुणचिह्न हुआ। वहाँ गुणकाङ्क्ष २ को रखकर उलटा प्रथम चिह्न तक गुणक-वर्गज फल-साधन किया तो १०७३७४१८२४ हुआ।

इसमें एक घटाकर एकोनगुण (१)-से भाग देकर आदि (२)-से गुणा किया तो २, १४, ७४, ८३, ६४६ रुपये सर्वधन हुआ।

२. लीलावती (क्षेत्रव्यवहार श्लोक १, २) — में इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—‘त्रिभुज या चतुर्भुज में जब एक भुज पर दूसरा भुज लम्बरूप हो, उन दोनों में एक (नीचेकी पड़ी रेखा) — को ‘भुज’ और दूसरी (ऊपरकी खड़ी रेखा) — को ‘कोटि’ कहते हैं। तथा उन दोनों के वर्गयोग मूल को ‘कर्ण’ कहते हैं। भुज और कर्ण का वर्गान्तर मूल कोटि तथा कोटि और कर्ण का वर्गान्तर मूल भुज होता है। यथा—‘क, ग, च’ यह एक त्रिभुज है। ‘क, ग’ इस रेखाओं कोटि कहते हैं। ‘ग, च’ इस रेखाओं का नाम भुज है, ‘क, च’ का नाम कर्ण है।



उदाहरण—जैसे प्रश्न हुआ कि जिस जात्य त्रिभुज में कोटि=४, भुज=३ है वहाँ का कर्णमान क्या होगा? तथा भुज और कर्ण जानकर कोटि बताओ और कोटि, कर्ण जानकर भुज बताओ।

उक्त रीति से ४ का वर्ग १६ और ३ का वर्ग ९, दोनों के योग २५ का मूल ५ यह कर्ण हुआ। एवं कर्ण ५ और भुज ३, इन दोनों के वर्गान्तर $25 - 9 = 16$, इसका मूल ४ कोटि हुई तथा कर्ण के वर्ग २५ में कोटि के वर्ग १६ को घटाकर शेष ९ का मूल ३ भुज हुआ।

इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये।

३. जैसे ३ और ४ ये दो राशियाँ हैं। इन दोनों के दूने गुणनफल में $3 \times 4 \times 2 = 24$ में दोनों राशियों का अन्तर वर्ग $(4-3)^2 = (1)^2 = 1$ मिलाने से $24 + 1 = 25$ यह दोनों राशियों के वर्गयोग $(3)^2 + (4)^2 = 9 + 16 = 25$ के बराबर है तथा उन्हीं दोनों राशियों के योगान्तर घात $(3+4) \times (4-3) = 7 \times 1 = 7$ यह दोनों राशियों के वर्गान्तर $16 - 9 = 7$ के बराबर है। (ये ही निशान वर्गका है।

व्यास आकृतिसंशुण्णोऽन्नासः स्यात् परिधिर्मुने॥४६॥*
ज्याव्यासयोगविवराहतमूलोनितोऽर्थितः ।
व्यासः शरः शरोनाच्य व्यासाच्छ्रगुणात् पदम्॥४७॥
द्विष्ठं जीवाथ जीवार्धवर्गे शरहते युते ।
व्यासो वृत्ते भवेदेवं प्रोक्तं गणितकोविदैः॥४८॥

मुने! व्यासको २२ से गुण देना और ७ से भाग देना चाहिये, इससे स्थूल परिधिका ज्ञान होता है ॥ ४६ ॥ ज्या (जीवा) और व्यासका योग एक जगह रखना और अन्तरको दूसरी जगह रखना चाहिये। फिर इन दोनोंका घात (गुणा)

*नारदपुराणके इस गणितविभागमें क्षेत्रव्यवहारकी चर्चामात्र होकर दूसरे विषय आ गये हैं; त्रिभुजादि क्षेत्रफलका विवेचन न होनेसे यह प्रकरण अधूरा-सा लगता है। जान पड़ता है, इस विषयके श्लोक लेखकके प्रमादसे छूट गये हैं; अतः टिप्पणीमें संक्षेपतः उक्त न्यूनताकी पूर्ति की जाती है।

त्रिभुजे भुजयोर्योगस्तदन्तरगुणो हतः । भुवा लब्ध्या युतोना भूद्विष्ठा च दलिता पृथक् ॥

आबाधे भुजयोज्ये क्रमशशाधिकाल्पयोः । स्वाबाधाभुजयोर्वर्गान्तरान्मूलं च लम्बकः ॥

लम्बभूमिहतेर्थं प्रस्फुटं त्रिभुजे फलम् । ततो बहुभुजान्तःस्थित्रिभुजेभ्यश्च तत्कलम् ॥

(त्रिभुजादि क्षेत्रफलानयन) त्रिभुजका फल जानना हो तो उसके तीन भुजोंमें एकको भूमि और शेष दोको भुज मानकर क्रिया करे। यथा—दोनों भुजके योगको उन्हीं दोनोंके अन्तरसे गुणा करके गुणनफलमें भूमिसे भाग देनेपर जो लब्धि हो, उसको भूमिमें जोड़कर आधा करे तो बड़े भुजकी 'आबाधा' होती है और उसी लब्धिको भूमिमें घटाकर आधा करनेसे लघुभुजकी 'आबाधा' होती है। अपने-अपने भुज और आबाधाके 'वर्गान्तर' करके शेषका मूल लेनेसे लम्बका मान प्रकट होता है। लम्ब और भूमिके गुणनफलका आधा त्रिभुजका क्षेत्रफल होता है।

उदाहरण—कल्पना कीजिये कि किसी त्रिभुजमें तीनों भुजोंके मान क्रमसे १३, १४, १५ हैं तो उस त्रिभुजका क्षेत्रफल क्या होगा? तो यहाँ १४ को भूमि और १३, १५ को भुज मानकर क्रिया होगी। यथा—दोनों भुजके योग २८ को उन्हीं दोनोंके अन्तर २ से गुणा करनेपर ५६ हुआ। इसमें भूमि १४ के द्वारा भाग देनेसे लब्धि ४ हुई। इस चारको भूमि १४ में जोड़कर आधा करनेसे ९ हुआ—यह बड़े भुजकी 'आबाधा' का मान है। एवं भूमिमें लब्धिको घटाकर आधा करनेसे ५ हुआ। यह लघुभुजकी 'आबाधा' हुई। भुज और आबाधाके वर्गान्तर ($२२\times१४=१४४$) अथवा ($१६९-२५=१४४$) का मूल १२ हुआ। यह लम्बका मान है। लम्ब और भूमिके गुणनफल ($१२\times१४=१६८$) का आधा ८४ हुआ, यह उक्त त्रिभुजका क्षेत्रफल है।

इस प्रकार त्रिभुज फलानयनकी रीति जानकर बहुभुजक्षेत्रमें एक कोणसे दूसरे कोणतक कणरेखाको भूमि और उसके आश्रित दो भुजोंको भुज मानकर फल निकाला जायगा। चतुर्भुजमें दोनों त्रिभुजोंके फलको जोड़नेसे क्षेत्रफलकी सिद्धि होगी एवं पञ्चभुजमें ३ त्रिभुज बनेंगे और उन तीनों त्रिभुजोंके फलोंका योग करनेसे फल सिद्ध होगा। इसी प्रकार षट्भुज आदिमें भी समझना चाहिये।

विशेष वक्तव्य—तीन रेखाओंसे बना हुआ क्षेत्र त्रिभुज कहलाता है। उन तीनों रेखाओंमें नीचेकी रेखाको भूमि और दोनों बगलकी दो रेखाओंको 'भुज' कहते हैं।

(लम्ब—) ऊपरके कोणसे भूमितक सीधी रेखाको लम्ब कहते हैं।

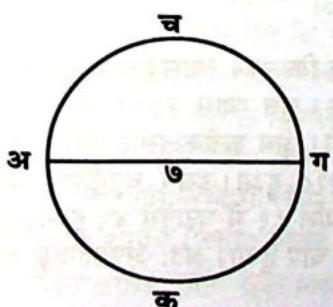
(आबाधा—) लम्बसे विभक्त भूमिके खण्ड (जो लम्बके दोनों ओर हैं) दोनों भुजोंकी 'आबाधा' कहलाते हैं। निम्नाङ्कित क्षेत्रमें स्पष्ट देखिये—



वृत्तक्षेत्रमें परिधि और व्यासके गुणनफलका चतुर्थांश क्षेत्रफल होता है। जैसे—

जिस वृत्तक्षेत्रमें व्यासमान ७ और परिधि २२ है, उसका क्षेत्रफल जानना है तो परिधि २२ को व्यास ७ से गुणा करनेपर १५४ हुआ। इसका चतुर्थांश $\frac{154}{4} = 38\frac{1}{2}$ होता है। यही क्षेत्रफल हुआ।

२. जैसे पूछा गया कि जिस वृत्तक्षेत्रका व्यास १४ है वहाँ परिधिका मान क्या होगा तथा जिसमें ४४ परिधि है, वहाँ व्यासमान क्या होगा? तो उक्त रीतिके अनुसार व्यास १४ को २२ से गुणा करके गुणनफलमें उसे भाग देनेपर $\frac{22\times 14}{7} = 44$ परिधिमान स्थूल हुआ।



करना चाहिये। उस गुणनका मूल लेना और उसको व्यासमें घटा देना चाहिये। फिर उसका आधा करे, वही 'शर' होगा। व्यासमें शरको घटाना, अन्तरको शरसे गुण देना, उसका मूल लेना और उसे दूना करना चाहिये तो 'जीवा' हो जायगी। जीवाका आधा करके उसका वर्ग करना, शरसे भाग देना और लब्धिमें शरको जोड़ देना चाहिये, तो व्यासका मान होगा^३ ॥ ४७-४८ ॥

चापोननिष्ठः परिधिः प्रागाख्यः परिधेः कृतेः ।

तुर्यांशेन शरघ्नेनाद्योनेनाद्यं चतुर्गुणम् ॥ ४९ ॥

व्यासघ्नं प्रभजेद्विप्र ज्यका संजायते स्फुटा ।

ज्याद्विशीषुओ वृत्तवर्गोऽविष्ट्रव्यासाद्यमौर्विहृत् ॥ ५० ॥

लब्धोनवृत्तवर्गाङ्गेः पदेऽर्थात् पतिते धनुः ।

परिधिसे चापको घटाकर शेषमें चापसे ही

गुणा करनेपर गुणनफल 'प्रथम' कहलाता है। परिधिका वर्ग करना, उसका चौथा भाग लेना, उसे पाँचसे गुणा करना और उसमें 'प्रथम' को घटा देना चाहिये। यह भाजक होगा। चतुर्गुणित व्यासको प्रथमसे गुण देना, यह भाज्य हुआ। भाज्यमें भाजकसे भाग देना, यह जीवा हो जायगी^२ ॥ ४९^३ ॥ व्यासको चारसे गुणा करके उसमें जीवाको जोड़ देना, यह भाजक हुआ। परिधिके वर्गको जीवाकी चौथाई और पाँचसे गुण देना, यह भाज्य हुआ। भाजकसे भाज्यमें भाग देना, जो लब्धि आवे, उसे परिधिवर्गके चतुर्थांशमें घटा देना और शेषका मूल लेना, उसे वृत्त (परिधि) के आधेमें घटा देनेपर तो धनु (चाप) होगा^३ ॥ ५०^३ ॥

१. उदाहरणार्थ प्रश्न—जिस 'वृत्त' का व्यास १० है, उसमें यदि 'जीवा' का मान ६ है तो 'शर' का मान क्या होगा? 'शर' का ज्ञान हो तो जीवा बताओ तथा 'जीवा' और 'शर' जानकर व्यासका मान बताओ।

उत्तर—क्रिया—मूलोक्त नियमके अनुसार व्यास और जीवाका योग १०+६=१६ हुआ। व्यास और जीवाका अन्तर १०-६=४



हुआ। दोनोंका गुणनफल $16 \times 4 = 64$ हुआ। इसका मूल ८ हुआ। इसे व्यास १० में घटाया तो २ हुआ। इसका आधा किया तो १ 'शर' (बाण) हुआ। व्यास १० में शर १ घटाया तो ९ हुआ। इसे शर १ से गुणा किया तो ९ हुआ। इसका मूल लिया तो ३ हुआ। इसे द्विगुण किया तो ६ जीवाका प्रमाण हुआ। इसी तरह 'जीवा' और 'शर' का ज्ञान होनेपर जीवा ६ के आधे ३ का वर्ग किया तो ९ हुआ। इसमें शर १ से भाग दिया और लब्धिमें शरको जोड़ दिया तो $\frac{3}{6} + \frac{3}{6} = 10$ हुआ। यही व्यासका मान है।

२. उदाहरण—जिस वृत्तका व्यासार्थ २२० (अर्थात् व्यास २४०) है, उस वृत्तके अष्टादशांश क्रमसे १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ से गुणित यदि चापमान हों तो अलग-अलग सबकी जीवा बताओ।

उत्तर—क्रिया—व्यासमान २४०। इसपरसे परिधि ७५४। इसका अठारहवाँ भाग ४२ क्रमसे एकादि गुणित ४२, ८४, १२६, १६८, २१०, २५२, २९४, ३३६ और ३७८—ये ९ प्रकारके चापमान हुए। मूल-सूत्रके अनुसार इन चाप और परिधिपरसे जो जीवाओंके मान होंगे, वे ही किसी तुल्याङ्कसे अपवर्तित चाप और अपवर्तित परिधिसे भी होंगे। अतः ४२ से अपवर्तन करनेपर परिधि ८८ तथा चापमान १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ हुए। अब प्रथम जीवामान साधन करना है, तो प्रथम अपवर्तित चाप १ को परिधिसे घटाकर शेषको चाप १ से गुणा करनेपर १७ यह 'प्रथम' या 'आद्य' संज्ञक हुआ। तथा परिधिवर्ग चतुर्थांशको ५ से गुणा कर $\frac{324 \times 5}{324} = 405$ इसमें आद्य १७ को घटाकर शेष ३८८ से चतुर्गुणित व्यासद्वारा गुणित 'प्रथम' में भाग देनेस $\frac{240 \times 405 \times 17}{324} = 42$ लब्धि हुई। यह (स्वल्पान्तरसे) प्रथम जीवा हुई। एवं द्वितीय चाप २ को परिधिमें घटाकर शेषको चापसे गुणा कर देनेपर ३२ यह 'प्रथम' या 'आद्य' हुआ। इसे पञ्चगुणित परिधिवर्गके चतुर्थांश ४०५ में घटाकर शेष ३७३ से चतुर्गुणित व्यासद्वारा गुणित 'प्रथम' में भाग देनेपर $\frac{324 \times 405 \times 32}{373} = 42$ लब्धि हुई। स्वल्पान्तरसे यही द्वितीय जीवा हुई। इसी प्रकार अन्य जीवाका भी साधन करना चाहिये।

३. अब जीवामान जानकर चापमान जाननेकी विधि बताते हैं—जैसे प्रश्न हुआ कि २४० व्यासवाले वृत्तमें जीवामान ४२ और ८२ है तो इनके चापमान क्या होंगे? (उत्तर—क्रिया—) यथा—जीवा ८२। वृत्त व्यास २४०। यहाँ लाघवके लिये परिधिमान अपवर्तित ही लिया; अतः इसपरसे भी चापमान अपवर्तित ही आवेंगे। अब श्लोकानुसार परिधिवर्ग ३२४ को जीवाके चतुर्थांश $82/4$ और ५ से गुणा करनेपर $\frac{324 \times 324}{324} = 81 \times 82 \times 5 = 33210$ हुआ। इसमें चतुर्गुणित व्याससे युक्त जीवा १०४२ द्वारा भाग देनेपर लब्धि स्वल्पान्तरसे ३२ हुई। इसे परिधिवर्गके चतुर्थांश ८१ में घटानेसे ४९ हुआ। इसका मूल ७ हुआ। इसे अपवर्तित परिधिके आधे ९ में घटानेसे शेष २ यह अपवर्तित द्वितीय चाप हुआ। अतः अपवर्तनाङ्क ४२ से गुणा कर देनेपर वास्तविक चाप $2 \times 42 = 84$ हुआ।

स्थूलमध्याणवन्नवेधो वृत्ताङ्गशेशभागिकः ॥५१॥
 वृत्ताङ्गंशकृतिर्वेधनिष्ठी घनकरा मितौ ।
 वारिव्यासहतं दैर्घ्यं वेधाङ्गुलहतं पुनः ॥५२॥
 खखेन्दुरामविहतं मानं द्रोणादि वारिणः ।
 विस्तारायामवेधानामङ्गुल्योऽन्यताडिताः ॥५३॥
 साङ्गभाविभिर्भक्ता धान्ये द्रोणादिका मितिः ।
 उत्सेधव्यासदैर्घ्याणामङ्गुलान्यशमनो द्विज ॥५४॥
 मिथोजानि भजेत् खाक्षेशैङ्गेणादिमितिर्भवेत् ।
 विस्ताराद्यङ्गुलान्येवं मिथोजान्ययसां भवेत् ॥५५॥
 बाणेभमार्गणैर्लब्धं द्रोणाद्यं मानमादिशेत् ।

(अन्नादि राशि-व्यवहार) राशि-व्यवहारमें स्थूल, मध्यम, सूक्ष्म, अन्नराशियोंमें क्रमशः उनकी परिधिका नवमांश, दशमांश और एकादशांश वेध होता है। परिधिका षष्ठांश लेकर उसका वर्ग करना और उसे वेधसे गुण देना चाहिये। उसका नाम 'घनहस्त' होगा^३। जलके व्यास (चौड़ाई)-

से लंबाईको गुण देना, फिर उसीको गहराईके अंगुल-मानसे गुण देना तथा ३१०० से भाग देना चाहिये। इससे जलका द्रोणात्मक मान ज्ञात होगा^३ ॥५१-५२^३॥ चौड़ाई, गहराई और लंबाईके अंगुलात्मक मानको परस्पर गुण देना और उसमें ४०९६ से भाग देना तो अन्नका द्रोणादि मान होगा^३। ऊँचाई, व्यास (चौड़ाई) और लंबाईके अंगुलात्मक मानको परस्पर गुण देना और ११५० से भाग देना चाहिये; वह पत्थरका द्रोणात्मक मान होगा^३। विस्तार आदिके अंगुलात्मक मानको परस्पर गुणा करना चाहिये और ५८५ से भाग देना चाहिये, तो लब्धि लोहेके द्रोणात्मक मानका सूचक होती है^४ ॥५३-५५^३॥

दीपशङ्कुतलच्छिद्रघ्नः शङ्कुर्भा भवेन्मुने ॥५६॥
 नरोनदीपकशिखौच्यभक्तो हाथ भोद्धते ।
 शङ्कौ नृदीपाधिश्छिद्रघ्ने दीपौच्यं नरान्विते ॥५७॥

१.उदाहरणके लिये प्रश्न—समतल भूमिमें रखे हुए स्थूल धान्यकी परिधि यदि ६० हाथ है तो उसमें कितने घनहस्त (खारी-प्रमाण) होंगे? तथा सूक्ष्म धान्य और मध्यम धान्यकी परिधि भी यदि ६० हाथ हों तो उनके अलग-अलग खारी-प्रमाण क्या होंगे?

उत्तर-क्रिया—मूलोक नियमके अनुसार परिधि-मानका दशमांश ६ यह मध्यम धान्यका वेध हुआ। परिधिके षष्ठांश १० के वर्गको वेधसे गुणा करनेपर $100 \times 6 = 600$ घनहस्त-मान हुए। एवं सूक्ष्म धान्यका वेध $\frac{600}{11} = 54\frac{6}{11}$ है। इससे परिधिके षष्ठांशके वर्ग १०० को गुण देनेसे सूक्ष्म धान्यके घनहस्त-मान $\frac{6000}{11} = 545\frac{5}{11}$ हुए। तथा स्थूल धान्यका वेध $\frac{60}{11} = 5\frac{5}{11}$ है। इससे परिधिके षष्ठांशके वर्गको गुण देनेपर स्थूल धान्यके घनहस्त-मान $\frac{6000}{11} = 545\frac{5}{11}$ हुए।

२.उदाहरणार्थ प्रश्न—किसी बावलीकी लंबाई ६२ हाथ, चौड़ाई २० हाथ और गहराई १० हाथ है तो बताओ, उस बावलीमें कितने द्रोण जल है?

उत्तर—यहाँ मूलोक नियमके अनुसार इस प्रश्नको यों हल करना चाहिये—पहले हाथके मापको अंगुलके मापमें परिणत करनेके लिये उसे २४ से गुणा करना चाहिये। $62 \times 24 = 1488$ अंगुल लंबाई है। $20 \times 24 = 480$ अंगुल चौड़ाई है। $10 \times 24 = 240$ अंगुल गहराई है। इन तीनोंके परस्पर गुणनसे $1488 \times 480 \times 240 = 17147600$ गुणनफल हुआ। इसमें ३१०० से भाग दिया तो $\frac{17147600}{3100} = 54296$ लब्धि हुई। इतने ही द्रोण जल उस बावलीमें है।

३.उदाहरणके लिये प्रश्न—किसी अन्न-राशिकी लंबाई ६४ अंगुल, चौड़ाई ३२ अंगुल और ऊँचाई १६ अंगुल है तो उसका द्रोणात्मक मान क्या है? अर्थात् वह अन्नराशि कितने द्रोण होगी?

मूलकथित नियमके अनुसार $64 \times 32 \times 16$ इनके परस्पर गुणनसे 32768 गुणनफल हुआ। इसमें ४०९६ से भाग देनेपर $\frac{32768}{4096} = 8$ लब्धि हुई। उत्तर निकला कि वह अन्नराशि ८ द्रोण है।

४.उदाहरणके लिये प्रश्न—किसी पत्थरके टुकड़ेकी लंबाई २३, चौड़ाई २० और ऊँचाई १० अंगुल है तो वह पत्थर कितने द्रोण वजनका है? (उत्तर) मूलोक नियमके अनुसार लंबाई आदिको परस्पर गुणित किया— $23 \times 20 \times 10$ तो गुणनफल ४६०० हुआ। इसमें ११५० से भाग देनेपर लब्धि ४ हुई। अतः ४ द्रोण उस पत्थरके टुकड़ेका मान होगा।

५.जैसे किसीने पूछा—किसी लोह-खण्डकी लंबाई ११७ अंगुल, चौड़ाई १०० अंगुल और ऊँचाई ५ अंगुल है तो उसका वजन कितने द्रोण होगा? (उत्तर) लंबाई आदिको परस्पर गुणित किया— $117 \times 100 \times 5 = 58500$ इस गुणनफलमें ५८५ से भाग दिया $\frac{58500}{585} = 100$ लब्धि हुई। अतः १०० द्रोण उस लोहेका परिमाण है।

विशङ्कुदीपौच्यगुणा छाया शङ्कूद्धृता भवेत् ।
 दीपशङ्कूवन्तरं चाथच्छायाग्रविवरघ्नभा ॥५८॥
 मानान्तरहृता भूमिः स्यादथो भूनराहतिः ।
 प्रभासा जायते दीपशिखोच्यं स्यात् त्रिराशिकात् ॥५९॥
 एतत् संक्षेपतः प्रोक्तं गणिते परिकर्मकम् ।
 ग्रहमध्यादिकं वक्ष्ये गणिते नातिविस्तरात् ॥६०॥

छाया-साधनमें प्रदीप और शंकुतलका जो अन्तर हो उससे शङ्कुको गुण देना और दीपककी ऊँचाईमें शंकुको घटाकर उससे उस गुणित शंकुमें भाग देना तो छायाका मान होगा^१। शंकु और दीपतलके अन्तरसे शंकुको गुण देना और छायासे भाग देना; फिर लब्धिमें शंकुको जोड़ देना तो दीपककी ऊँचाई हो जायगी^२। शंकुरहित दीपककी ऊँचाईसे छायाको गुण देना और शंकुसे भाग देना

और तो शंकु तथा दीपकका अन्तर ज्ञात होगा^३। छायाग्रके अन्तरसे छायाको गुण देना छायाके प्रमाणान्तरसे भाग देना तो 'भू' होगी। 'भू' और शंकुका घात (गुण) करना और छायासे भाग देना तो दीपककी ऊँचाई होगी^४। उपर्युक्त सब बातोंका ज्ञान त्रैराशिकसे ही होता है। यह परिकर्मगणित मैंने संक्षेपसे कहा। अब ग्रहका मध्यादिक गणित बताता हूँ, वह भी अधिक विस्तारसे नहीं ॥५६-६०॥

युगमानं स्मृतं विप्र खचतुष्करदार्णवाः ।

तद्वशांशास्तु चत्वारः कृताख्यं पदमुच्यते ॥६१॥

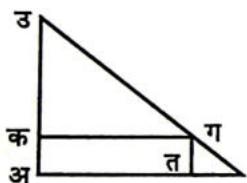
त्रयस्त्रेता द्वापरो द्वौ कलिरेकः प्रकीर्तिः ।

मनुः कृताब्दसहिता युगानामेकसप्तिः ॥६२॥

विधेदिने स्युर्विप्रेन्द्र मनवस्तु चतुर्दश ।

१. उदाहरणके लिये यह प्रश्न है—शङ्कु और दीपके बीचकी भूमिका मान ३ हाथ और दीपककी ऊँचाई $\frac{7}{2}$ हाथ है तो बारह अंगुल ($\frac{1}{2}$ हाथ) शङ्कुकी छाया क्या होगी?

इस क्षेत्रमें 'अ' से 'उ' तक दीपककी ऊँचाई है। 'ग' से 'त' तक शङ्कु है। 'अ' 'त'-'क' 'ग'=शङ्कु और दीपतलका अन्तर है।



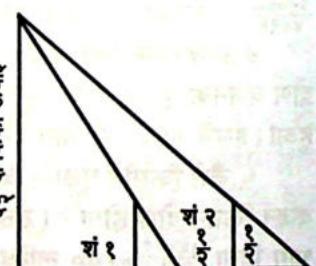
यहाँ शङ्कुको शङ्कु-दीपान्तर-भूमि-मानसे गुण किया तो $\frac{1}{2} \times 3 = \frac{3}{2}$ यह गुणनफल हुआ। फिर दीपककी ऊँचाईमें शङ्कुको घटाया तो $\frac{3}{2} - \frac{3}{2} = 0$ यह शेष हुआ। पूर्वोक्त गुणनफल $\frac{3}{2}$ में शङ्कु घटायी हुई दीपककी ऊँचाई $\frac{3}{2}$ से भाग दिया तो $\frac{1}{2}$ लब्ध हुई। यही छायाका मान है।

२. यदि शङ्कु $\frac{1}{2}$ हाथ, शङ्कुदीपान्तर भूमि ३ हाथ और छाया १६ अंगुल है तो दीपकी ऊँचाई कितनी होगी? इस प्रश्नका उत्तर यों है—शङ्कुको शङ्कु-दीपान्तरसे गुण किया तो $\frac{1}{2} \times 3 = \frac{3}{2}$ हुआ। इसमें छाया १६ अंगुल अर्थात् $\frac{2}{3}$ हाथसे भाग दिया तो $\frac{3}{2} - \frac{2}{3} = \frac{3}{2} \times \frac{1}{2} = \frac{9}{4}$ हुआ। इसमें शङ्कु $\frac{1}{2}$ को जोड़ दिया तो $\frac{11}{4} = 2\frac{3}{4}$ हाथ दीपककी ऊँचाई हुई।

३. उपर्युक्त दीपककी ऊँचाई $\frac{11}{4}$ मेंसे शङ्कु $\frac{1}{2}$ को घटाया तो $\frac{11}{4} - \frac{1}{2} = \frac{9}{4}$ शेष हुआ। इससे छायाको गुणित किया तो $\frac{9}{4} \times \frac{2}{3} = \frac{1}{2}$ हुआ, इसमें शङ्कुसे भाग दिया तो $\frac{3}{2}$ लब्ध हुई। अतः शङ्कु और दीपके बीचकी भूमि ३ हाथकी है।

४. अभ्यासार्थ प्रश्न—१२ अंगुलके शङ्कुकी छाया १२ अंगुल थी, फिर उसी शङ्कुको छायाग्रकी ओर २ हाथ बढ़ाकर रखनेसे दूसरी छाया १६ अंगुल हुई तो छायाग्र और दीपतलके बीचकी भूमिका मान कितना होगा? तथा दीपकी ऊँचाई कितनी होगी?

उत्तर—यहाँ प्रथम शङ्कुसे दूसरे शङ्कुतक भूमिका मान २ हाथ, प्रथम छाया $\frac{1}{2}$ हाथ, द्वितीय छाया $\frac{2}{3}$ हाथ। शङ्कु-अन्तर २ में प्रथम छाया $\frac{1}{2}$ को घटाकर शेष $\frac{3}{2}$ में द्वितीय छाया $\frac{2}{3}$ को जोड़नेसे $\frac{13}{6}$ यह छायाग्रोंका अन्तर हुआ। तथा छायान्तर $\frac{2}{3} - \frac{1}{2} = \frac{1}{6}$ हुआ। अब मूलोक्त नियमके अनुसार प्रथम छाया $\frac{1}{2}$ को छायाग्रान्तरसे गुण किया तो $\frac{1}{2} \times \frac{13}{6} = \frac{13}{12}$ हुआ। इसमें छायान्तर $\frac{1}{6}$ से भाग दिया तो $\frac{13}{12} - \frac{1}{6} = \frac{11}{12}$ यह प्रथम भूमिमान हुआ। इसी प्रकार द्वितीय छाया $\frac{2}{3}$ से छायाग्रान्तर $\frac{13}{6}$ को गुण करके छायान्तर $\frac{1}{6}$ से भाग देनेपर द्वितीय भूमिमान $\frac{26}{13}$ हुआ। तथा प्रथम भूमिमान $\frac{13}{12}$ को शङ्कुसे गुण कर गुणनफल $\frac{13}{12} \times \frac{26}{13} = \frac{13}{6}$ में प्रथम छायासे भाग देनेपर लब्ध $\frac{13}{6}$ यह दीपककी ऊँचाई हुई। इसी प्रकार द्वितीय भूमिसे भी दीपककी ऊँचाई इतनी ही



तावत्येव निशा तस्य विप्रेन्द्र परिकीर्तिता ॥ ६३ ॥
स्वयम्भुवः सृष्टितानब्दान् सम्पिण्ड्य नारद ।

खचरानयनं कार्यमथवेष्टयुगादितः ॥ ६४ ॥

विप्रवर ! चारों युगोंका सम्मिलित मान तैतालीस लाख बीस हजार वर्ष बतलाया गया है। उसके दशांशमें चारका गुणा करनेपर सत्ययुग नामक पाद होगा। (उसका मान १७ लाख २८ हजार वर्ष है)। दशांशमें तीनका गुणा करनेपर (१२९६००० वर्ष) त्रेता नामक पाद होता है। दशांशमें दोका गुणा करनेपर (८६४००० वर्ष) द्वापर नामक पाद होता है और उक्त दशांशको एकगुना ही रखनेपर (४३२००० वर्ष) कलियुग नामक पाद कहा गया है। कृताब्दसहित (एक सत्ययुग अधिक) इकहत्तर चतुर्युगका एक मन्वन्तर होता है ॥ ६१-६२ ॥ ब्रह्मन् ! ब्रह्माजीके एक दिनमें चौदह मनु होते हैं और उतने ही समयकी उनकी एक रात्रि होती है ॥ ६३ ॥ नारद ! ब्रह्माजीके वर्तमान कल्पमें जितने वर्ष बीत गये हैं, उन्हें एकत्र करके ग्रहानयन (ग्रह-साधन) करना चाहिये। अथवा इष्ट युगादिसे ग्रह-साधन करे ॥ ६४ ॥

युगे सूर्यज्ञशुक्राणां खचतुष्करदार्णवाः ।
कुजार्किंगुरुशीघ्राणां भगणाः पूर्वयायिनाम् ॥ ६५ ॥

इन्दो रसाग्नित्रीषुसप्तभूधरमार्गणाः ।

दस्त्रव्यष्टरसाङ्काश्चिलोचनानि कुजस्य तु ॥ ६६ ॥

बुधशीघ्रस्य शून्यर्तुखाद्रित्र्यङ्कनगेन्दवः ।

बृहस्पते : खदस्त्राक्षिवेदषद्वव्हयस्तथा ॥ ६७ ॥

सितशीघ्रस्य षट्सप्तत्रियमाश्चिखभूधराः ।

शनेर्भुजङ्गष्टपञ्चरसवेदनिशाकराः ॥ ६८ ॥

चन्द्रोच्चस्याग्निशून्याश्चिवसुसर्पार्णवा युगे ।

वामं पातस्य वस्वगिनयमाश्चिशिखिदस्त्रकाः ॥ ६९ ॥

एक युगमें पूर्व दिशाकी ओर चलते हुए सूर्य, बुध और शुक्रके ४३२०००० 'भगण' होते हैं। तथा मङ्गल, शनि और बृहस्पतिके शीघ्रोच्च भगण भी उतने ही होते हैं ॥ ६५ ॥ एक युगमें चन्द्रमाके भगण ५७७५३३३६ होते हैं। भौमके २२९६८३२,

बुधके शीघ्रोच्चके १७९३७०६०, बृहस्पतिके ३६४२२०, शुक्रके शीघ्रोच्चके ७०२२३७६, शनिके १४६५६८ तथा चन्द्रमाके उच्चके भगण ४८८२०३ होते हैं। चन्द्रमाके पातकी वामगतिसम्बन्धी भगणोंकी संख्या २३२२३८ है ॥ ६६—६९ ॥

उदयादुदयं भानोर्भूमिसावनवासराः ।
वसुद्वयष्टाद्रिरूपाङ्कसप्ताद्रितिथयो युगे ॥ ७० ॥
षड्वहित्रिहुताशाङ्कतिथयश्चाधिमासकाः ।
तिथिक्षया यमार्थाश्चिद्वयष्टव्योमशराश्चिनः ॥ ७१ ॥
खचतुष्कसमुद्राष्टकुपञ्च रविमासकाः ।
षट्त्वयनित्रयवेदाग्निपञ्च शुभ्रांशुमासकाः ॥ ७२ ॥
प्रागगते : सूर्यमन्दस्य कल्पे सप्ताष्टवह्यः ।
कौजस्य वेदखयमा बौधस्याष्टर्तुवह्यः ॥ ७३ ॥
खखरन्धाणि जैवस्य शौक्रस्यार्थगुणेषवः ।
गोऽग्नयः शनिमन्दस्य पातानामथ वामतः ॥ ७४ ॥
मनुदस्वास्तु कौजस्य बौधस्याष्टसागराः ।
कृताद्रिचन्द्र जैवस्य शौक्रस्याग्निखनन्दकाः ॥ ७५ ॥
शनिपातस्य भगणाः कल्पे यमरसर्तवः ।

सूर्यके एक उदयसे दूसरे उदयपर्यन्त जो दिनका मान होता है, उसे भौमवासर या सावन वासर कहते हैं। वे एक महायुग (चतुर्युग)-में १५७७९१७८२८ होते हैं। (चान्द्र दिवस १६०३००००८० होते हैं)। अधिमास १५९३३३६ होते हैं तथा तिथिक्षय २५०८२२५२ होते हैं ॥ ७०-७१ ॥ रविमासोंकी संख्या ५१८४०००० है। चान्द्र मास ५३४३३३३६ होते हैं ॥ ७२ ॥ पूर्वाभिमुख गतिके क्रमसे एक कल्पमें सूर्यके मन्दोच्च भगण ३८७, मङ्गलके मन्दोच्च भगण, २०४, बुधके मन्दोच्च ३६८, गुरुके मन्दोच्च ९००, शुक्रके मन्दोच्च ५३५ तथा शनिके मन्दोच्च भगण ३९ होते हैं। अब मङ्गल आदि ग्रहोंके पातोंकी विलोमगति (पश्चिम-गमन)-के अनुसार एक कल्पमें होनेवाले भगण बताये जाते हैं ॥ ७३-७४ ॥ भौमपातके भगण २१४, बुधपातके भगण ४८८, गुरुपातके भगण १७४, भृगुपातके

भगण ९०३ तथा शनिपातके भगण ६६२ होते हैं ॥ ७५ ॥

वर्तमानयुगे याता वत्सरा भगणाभिधाः ॥ ७६ ॥
 मासीकृता युता मासैर्मधुशुक्लादिभिर्गतैः ।
 पृथक्स्थास्तेऽधिमासञ्चाः सूर्यमासविभाजिताः ॥ ७७ ॥
 लब्ध्याधिमासकैर्युक्ता दिनीकृत्य दिनान्विता ।
 द्विष्टास्तिथिक्षयाभ्यस्ताश्चान्द्रवासरभाजिताः ॥ ७८ ॥
 लब्ध्योनरात्रिरहिता लङ्घायामार्धरात्रिकः ।
 सावनो द्युगणः सूर्याद् दिनमासाब्दपास्ततः ॥ ७९ ॥
 समभिः क्षयितः शेषः सूर्याद्यो वासरेश्वरः ।
 मासाब्ददिनसंख्यासं द्वित्रिन्धनं रूपसंयुतम् ॥ ८० ॥
 सप्तोद्धृतावशेषौ तौ विज्ञेयौ मासवर्षपौ ।

वर्तमान युग (जिस युगमें, जिस समयके अहर्गण या ग्रहादिका ज्ञान करना हो उस समय)-में सृष्ट्यादि काल या युगादिकालसे अबतक जितने वर्ष बीत चुके हों, वे सूर्यके भगण होते हैं। भगणको बारहसे गुणा करके मास बनाना चाहिये। उसमें 'वर्तमान वर्षके' चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे लेकर वर्तमान मासतक जितने मास बीते हों, उनकी संख्या जोड़कर योगफलको दो स्थानोंमें रखना चाहिये। द्वितीय स्थानमें रखे हुए मासगणको युगके उपर्युक्त अधिमासोंकी संख्यासे गुणा करके गुणनफलमें युगके सूर्यमासोंकी संख्यासे

भाग दे। फिर जो लब्धि हो, उसे अधिमासकी संख्या माने और उसको प्रथम स्थानस्थित मासगणमें जोड़े। (योगफल बीते हुए चान्द्रमासोंकी संख्याका सूचक होता है) उस संख्याको तीससे गुणा करे (तो गुणनफल तिथि-संख्याका सूचक होता है), उसमें वर्तमान मासकी शुक्ल प्रतिपदासे इष्टतिथितककी संख्या जोड़े, (जोड़नेसे चान्द्र दिनकी संख्या ज्ञात होती है) इसको भी दो स्थानोंमें रखे। दूसरे स्थानमें स्थित संख्याको युगके लिये कथित तिथिक्षय-संख्यासे गुणा करे। गुणनफलमें युगकी चान्द्र दिन (तिथि) संख्याके द्वारा भाग दे। जो लब्धि हो, वही तिथिक्षय-संख्या है, उसको प्रथम स्थानमें स्थित चान्द्र दिन-संख्यामेंसे घटा दे तो अभीष्ट दिनका लंकार्धरात्रिकालिक सावन दिनगण (अहर्गण) होता है। इससे दिनपति, मासपति और वर्षपतिका ज्ञान करे ॥ ७६—७९ ॥ यथा— दिनगणमें ७ से भाग देनेपर शेष बचे हुए १ आदि संख्याके अनुसार रवि आदि वारपति समझने चाहिये। तथा दिनगणमें ३० से भाग देकर लब्धिको २ से गुणा करके गुणनफलमें १ जोड़ दे। फिर उसमें ७ से भाग देकर १ आदि शेष होनेपर रवि आदि मासपति समझे। इसी प्रकार दिनगणमें ३६० से भाग देकर लब्धिको ३ से

१.इस प्रकार अहर्गण-साधनमें कदाचित् एक दिन अधिक या न्यून भी होता है, उस स्थितिमें १ घटाकर या जोड़कर अहर्गण ग्रहण करे।

कलियुगादिसे अहर्गणका उदाहरण—शाके १८७५ कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा शुक्रवारको अहर्गण बनाना है तो कलियुगादिसे गत युधिष्ठिरसंवत्की वर्षसंख्या ३१७९ में शाके १८७५ जोड़नेसे ५०५४ हुआ; इसको १२ गुणा करनेसे ६०६४८ हुआ। इसमें चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे गत मास-संख्या ७ जोड़नेपर ६०६५५ सौर मासगण हुए। इसको पृथक् युगकी अधिमास-संख्या १५९३३३६ से गुणा करनेपर ९६६४३७९५०८० हुआ। इसमें युगकी सौर माससंख्या ५१८४०००० से भाग देनेपर लब्धि अधिमास-संख्या १८६४ को पृथक्स्थित और मासगण ६०६५५ में जोड़नेसे ६२५१९ यह चान्द्र मास-संख्या हुई। इसको ३० से गुणा करके गुणनफलमें तिथिसंख्या १५ जोड़नेसे १८७५५८५ यह चान्द्र दिनसंख्या हुई। इसको युगकी क्षय-तिथिसंख्या २५०८२२५२ से गुणा करके गुणनफल ४७०४३८९५६१७४२० में युगकी चान्द्र दिनसंख्या १६०३००००८० से भाग देनेपर लब्धि तिथिक्षयसंख्या २९३४७ को उपर्युक्त चान्द्र दिनसंख्या १८७५५८५ में घटानेसे १८४६२३८ अहर्गण हुए। इसमें ७ का भाग देनेसे २ शेष बचते हैं; जिससे शुक्र आदि गणनाके अनुसार शनिवार आता है; किंतु होना चाहिये १ शेष (शुक्रवार); इसलिये इसमें १ घटाकर वास्तविक अहर्गण १८४६२३७ हुआ। प्रस्तुत उदाहरणमें पूर्णिमाका क्षय होनेके कारण १ दिनका अन्तर पड़ा है।

गुणा करके गुणनफलमें १ जोड़े, फिर उसमें ७ से भाग देनेपर १ आदि शेष संख्याके अनुसार रवि आदि 'वर्तमान' वर्षपति होते हैं^१ ॥ ८० १ ॥ ग्रहस्य भगणाभ्यस्तो दिनराशि: कुवासरैः ॥ ८१ ॥ विभाजितो मध्यगत्या भगणादिर्ग्रहो भवेत् । एवं स्वशीघ्रमन्दोच्चा ये प्रोक्ताः पूर्वयायिनः ॥ ८२ ॥ विलोमगतयः पातास्तद्वच्चक्राद् विशेषिताः ।

(मध्यमग्रहज्ञान)—युगके लिये कथित भगणकी संख्यासे दिनगणको गुणा करे । गुणनफलमें युगकी कुदिन (सावनदिन)—संख्यासे भाग देनेपर भगणादि ग्रह लंकार्धरात्रिकालिक होता है । इसी प्रकार पूर्वाभिमुख गतिवाले जो शीघ्रोच्च और मन्दोच्च कहे गये हैं, उनके भगणके द्वारा उनका भी साधन होता है^३ । विलोम (पश्चिमाभिमुख) गतिवाले जो

ग्रहोंके पातभगण कहे गये हैं, उनके द्वारा इसी प्रकार जो पात सिद्ध हों, उनको १२ राशिमें घटानेसे शेषको मेषादि-क्रमसे राश्यादिपात समझना चाहिये^४ ॥ ८१-८२ १ ॥

योजनानि शतान्यष्टौ भूकर्णो द्विगुणानि तु ॥ ८३ ॥ तद्वर्गतो दशगुणात् पदं भूपरिधिर्भवेत् । लम्बज्याजस्त्रिजीवासः स्फुटे भूपरिधिः स्वकः ॥ ८४ ॥

(भूपरिधिग्रमाण)—पृथ्वीका व्यास १६०० योजन है । इस (१६००)-के वर्गको १० से गुणा करके गुणनफलका मूल भूमध्यपरिधि होता है; अर्थात् वर्गमूलकी जो संख्या हो, उतने योजनकी पृथ्वीकी परिधि जाननी चाहिये । इस भूमध्य-परिधिकी संख्याको अपने-अपने लम्बांश-ज्यासे गुणा करके उसमें त्रिज्या (३४३८)-से भाग देकर

१. कलियुगके आदिमें शुक्रवार था, इसलिये कलियुगादि अहर्गणमें ७ का भाग देनेसे १ आदि शेष होनेपर शुक्र आदि वारपति होते हैं । मासपति जाननेके लिये अहर्गण १८४६२३७ में ३० से भाग देकर लब्धि ६१५४१ को २ से गुणा करनेपर १२३०८२ हुआ । इसमें १ जोड़कर ७ का भाग देनेसे शेष २ रहे, अतः शुक्रसे द्वितीय शनि वर्तमान मासपति हुआ ।

एवं अहर्गणमें ३६० का भाग देकर लब्धि ५१२८ को ३ से गुणा कर गुणनफल १५३८४ में १ जोड़कर १५३८५ हुआ । इसमें ७ का भाग देनेसे शेष ६ रहे; अतः शुक्रादि गणनासे बुध वर्तमान वर्षपति हुआ ।

२. प्रथम लब्धि भगण होती है । शेषको १२ से गुणा करके गुणनफलमें युग-कुदिनसे भाग देनेपर जो लब्धि होगी, वह राशि है । पुनः शेषको ३० से गुणा करके गुणनफलमें युग-कुदिनसे भाग देनेपर जो लब्धि हो वह अंश है । अंश-शेष ६० से गुणा करके गुणनफलमें कुदिनका भाग देनेसे लब्धि कला होती है । कला-शेषको ६० से गुणा करके पूर्ववत् युग-कुदिनसे भाग देनेपर जो लब्धि हो, वह विकला होती है । इनमें भगणको छोड़कर राश्यादि ही ग्रह कहलाता है । इस प्रकार मध्यम ग्रह होता है ।

३. उदाहरण—जैसे युगके सूर्यभगण ४३२०००० को अहर्गण १८४६२३७ से गुणा करनेपर ७९७५७४३८४०००० हुआ । इसमें युगके कुदिन १५७९१७८२८ से भाग देनेपर लब्धि भगण ५०५४ हुए । शेष ९४७१३७२८८ को १२ से गुणा कर गुणनफल ११३६५६४७४५६ में कुदिनका भाग देनेसे लब्धि राशि ७ हुई । राशिशेष ३२०२२२६६० को ३० से गुणा करके गुणनफल ९६०६६७९८०० में कुदिनका भाग देनेसे लब्धि अंश ६ हुआ । अंश-शेष १३९१७२८३२ को ६० से गुणा करके गुणनफल ८३५०३६९९२० में कुदिनसे भाग देनेपर लब्धि कला ५ हुई । कला-शेष ४६०७८०७८० को ६० से गुणा कर गुणनफल २७६४६८४६८०० में कुदिनका भाग देनेसे लब्धि विकला १८ हुई । एवं भगण प्रयोजनमें नहीं आता है, इसलिये उसको छोड़कर राश्यादि फल ७ । ६ । ५ । १८ यह लङ्घार्धरात्रिकालिक मध्यम सूर्य हुआ । इसी प्रकार अपने-अपने भगणद्वारा सब ग्रह, उच्च और पातका साधन होता है । तथा पातकी विपरीत गति होती है । अहर्गणद्वारा साधित पातको १२ राशिमें घटानेसे शेषको मेषादि-क्रमसे राश्यादि-पात समझना चाहिये, यह बात आगे कही जायगी ।

४. इस प्रकार साधित ग्रहरेखादेशीय होता है । इसमें आगे कहे हुए देशान्तर-संस्कार करनेसे स्वदेशीय मध्यम ग्रह होता है ।

जो लब्धि हो, वह स्पष्ट भूपरिधिकी योजन-संख्या होती है^१ ॥ ८३-८४ ॥

तेन देशान्तराभ्यस्ता ग्रहभुक्तिर्विभाजिता ।

कलादि तत्फलं प्राच्यां ग्रहेभ्यः परिशोधयेत् ॥ ८५ ॥

रेखाप्रतीचीसंस्थाने प्रक्षिपेत् स्युः स्वदेशजाः ।

राक्षसालयदेवौकःशैलयोर्मध्यसूत्रगाः ॥ ८६ ॥

अवन्तिकारोहितकं यथा सत्रिहितं सरः ।

वारप्रवृत्तिः प्राग्देशे क्षपार्थेऽभ्यधिके भवेत् ॥ ८७ ॥

तदेशान्तरनाडीभिः पश्चादूने विनिर्दिशेत् ।

(ग्रहोंमें देशान्तर-संस्कार)—ग्रहकी कलादि मध्यम गतिको देशान्तर-योजन (रेखादेशसे जितने योजन पूर्व या पश्चिम अपना स्थान हो उस)-से गुण करके गुणनफलमें 'स्पष्टभूपरिधि-योजन' के द्वारा भाग देनेपर जो लब्धि हो, वह कला आदि है। उस लब्धिको रेखासे पूर्व देशमें पूर्वसाधित ग्रहमें घटानेसे और पश्चिम देशमें जोड़नेसे स्वस्थानीय अर्धरात्रिकालिक ग्रह होता है^१ ॥ ८५ ॥

(रेखा-देश)—लङ्कासे सुमेरुपर्वतपर्यन्त याम्योत्तर-रेखामें जो-जो देश (स्थान) हैं, वे रेखा-देश कहलाते हैं। जैसे उज्जियनी, रोहितक,

कुरुक्षेत्र आदि ॥ ८६ ॥

(वार-प्रवृत्ति)—भूमध्यरेखासे पूर्वदेशमें रेखा-देशीय मध्यरात्रिसे, देशान्तर घटीतुल्य पीछे और रेखासे पश्चिम देशमें मध्यरात्रिसे देशान्तर घटीतुल्य पूर्व ही वार-प्रवृत्ति (रवि-आदि वारोंका आरम्भ) होती है^१ ॥ ८७ ॥

इष्टनाडीगुणा भुक्तिः षष्ठ्या भक्ता कलादिकम् ॥ ८८ ॥

गते शोद्धयं तथा योन्यं गम्ये तात्कालिको ग्रह ।

भचक्लिसाशीत्यंशं परमं दक्षिणोत्तरम् ॥ ८९ ॥

विक्षिप्यते स्वपातेन स्वक्रान्त्यन्तादनुष्णागुः ।

तन्नवांशं द्विगुणितं जीवस्त्रिगुणितं कुजः ॥ ९० ॥

बुधशुक्रार्कजाः पातैर्विक्षिप्यन्ते चतुर्गुणम् ।

(इष्टकालमें मध्यम ग्रह जाननेकी विधि)—मध्यरात्रिसे जितनी घड़ी बाद ग्रह बनाना हो, उस संख्यासे ग्रहकी कलादि गतिको गुण करके गुणनफलमें ६० से भाग देकर लब्धितुल्य कलादि फलको पूर्वसाधित ग्रहमें जोड़नेसे तथा जितनी घड़ी मध्यरात्रिसे पूर्व ग्रह बनाना हो, उतनी संख्यासे गतिको गुण करके गुणनफलमें ६० से भाग देकर कलादि फलको पूर्वसाधित ग्रहमें

१. यथा—१६०० के वर्गको १० गुना करनेसे २,५६,००००० हुआ। इसका मूल (स्वल्पान्तरसे) ५०५८ हुआ। इतना ही योजन स्थूलमानसे मध्यभूपरिधिका प्रमाण है।

गोरखपुरमें स्पष्ट भूपरिधि-साधन—यदि लम्बांश ६३। १५ है, तो उसकी ज्या आगे ९३, ९७ श्लोकोंमें वर्णित रीतिके अनुसार ३०७० हुई। मध्यभूपरिधि ५०५८ को गोरखपुरकी लम्बज्या ३०७० से गुण कर गुणनफल १५५२८०६० में त्रिज्या ३४३८ का भाग देनेसे लब्धि ४५१६ स्पष्ट भूपरिधि हुई।

देशान्तर-कालज्ञान इस प्रकार होता है—गणितद्वारा सिद्ध चन्द्रग्रहण-स्पर्शकालसे जितने घड़ी-पलके पश्चात् स्पर्श होता है, उतनी ही घड़ीको रेखादेशसे 'पूर्व देशान्तर' तथा जितनी घड़ी पहले ग्रहणका स्पर्श होता है, उतनी घड़ीको 'पश्चिम देशान्तर' समझा जाता है। गोरखपुरमें इस प्रकारसे १ घड़ी और १३ पल पूर्वदेशान्तर है।

इस देशान्तर-पलसे देशान्तर-योजनका ज्ञान त्रैराशिकसे होता है—जैसे ३६०० पलमें स्पष्ट भूपरिधियोजन ४५१६ है तो देशान्तर-पलमें कितना होगा? इस प्रकार गोरखपुरमें देशान्तर ७३ पलद्वारा रेखादेशसे देशान्तर-योजन $\frac{4516 \times 73}{3600} = 91$ हुआ। इसके द्वारा ग्रहोंमें देशान्तरसंस्कार होता है।

रेखादेशसे गोरखपुरके पूर्व देशान्तर-योजन ९१ को सूर्यकी मध्यगतिकला ५९। ८ से गुण कर गुणनफल ५३८१। ८ में स्पष्ट भूपरिधि-योजन ४५१६ से भाग देनेपर लब्धि कलादि १। ११ हुई। इसको अहर्गणसाधित मध्यम सूर्य ७। ६। ५। १८ में पूर्व देशान्तर होनेके कारण घटानेसे ७। ६। ४। ७ यह मध्यरात्रिकालिक मध्यम सूर्य हुआ।

१. पात (राहु) में देशान्तरसंस्कार विपरीत होता है।

२. रेखा-देशके मध्यरात्रि-समयसे ही सृष्टिका आरम्भ माना गया है; इसलिये रेखा-देशके मध्यरात्रि-समयमें ही वारप्रवेश होता है।

घटानेसे इष्टकालिक ग्रह होता है ॥ ८८ ३ ॥

(चन्द्रादि ग्रहोंके परम विक्षेप)—भचक्रकला (२१६००)-के ८० वाँ भाग (२७०) कलापर्यन्त क्रान्तिवृत्त (सूर्यके मार्ग)-से परम दक्षिण और उत्तर चन्द्रमा विक्षिप्त होता (हटता) है। एवं गुरु ६० कला, मङ्गल ९० कला, बुध, शुक्र और शनि—ये तीनों १२० कलापर्यन्त क्रान्तिवृत्तसे दक्षिण और उत्तर हटते रहते हैं ॥ ८९-९० ३ ॥

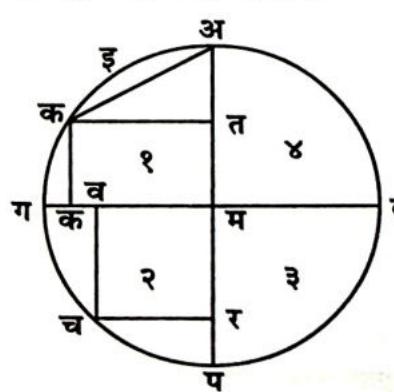
राशिलिसाष्टमो भागः प्रथमं ज्याद्वमुच्यते ॥ ९१ ॥

तत्तद् विभक्तलब्धोनमिश्रितं तद् द्वितीयकम् ।
आद्ये नैवं क्रमात् पिण्डान् भक्त्वा लब्धोनसंयुताः ॥ ९२ ॥

खण्डकाः स्युश्तुर्विंशज्याद्वपण्डाः क्रमादमी ।
परमापक्रमज्या तु समरन्धगुणोन्दवः ॥ ९३ ॥

१. मान लीजिये, शुक्रवार मध्यरात्रिकालिक ग्रह जानकर अग्रिम प्रातः छः बजेका मध्यम सूर्य बनाना है तो—इष्टकाल ६ घंटा (१५ घड़ी) हुआ। इसलिये सूर्यकी कलादि गति ५९। ८ को १५ से गुणा करके ६० का भाग देनेसे लब्धि १४ कला ४७ विकलाको मध्यरात्रिके सूर्य ७। ६। ४। ७ में जोड़नेसे ७। ६। १८। ५४—यह शनिवारके प्रातः छः बजेका मध्यम सूर्य हुआ।

२. सूर्य और अन्य ग्रहोंके मार्गोंका योगस्थान (चौराहा) पात कहलाता है। जब ग्रह अपने मार्गपर चलता हुआ पात-स्थानमें आता है, उस समय वह क्रान्तिवृत्तमें होनेके कारण अपने स्थानमें ही होता है; क्योंकि सब ग्रहोंके स्थान क्रान्तिवृत्तमें ही होते हैं। पात-स्थानसे आगे-पीछे होनेपर क्रान्तिवृत्तसे जितनी दूर विक्षिप्त होते (हटते) हैं, उतना उस ग्रहका 'विक्षेप' (शर) कहलाता है। सूर्यके मार्गको 'क्रान्तिमण्डल' और अन्य ग्रहोंके मार्गको उन-उन ग्रहोंका 'विमण्डल' कहते हैं तथा चन्द्रमाके पातस्थानको ही 'राहु' और 'केतु' कहते हैं।



वृत्तकी सम्पूर्ण परिधिमें १२ राशि या ३६० अंश होते हैं; इसलिये एक-एक पदमें तीन-तीन राशि या ९० अंश होते हैं। प्रथम और तृतीय पदमें गत चापको भुज और गम्य चापको कोटि कहते हैं तथा द्वितीय और चतुर्थ पदमें गत चापको कोटि और गम्य चापको ही भुज कहते हैं। जैसे—प्रथम पदमें 'अ क'-भुज और 'क ग'-कोटि है तथा द्वितीय पदमें ग च-कोटि और च प-भुज है। प्रत्येक पदमें चापको ९० अंशमें घटानेसे शेष उस चापकी कोटि होती है; इसलिये क ग चाप-अ क चापकी कोटि, तथा क न सरल रेखा कोटिज्या है एवं सम (द्वितीय) पदमें च र भुजज्या और च च कोटिज्या कहलाती है। इसी क्रमसे तृतीय और चतुर्थ पदमें भुजज्या और कोटिज्या समझनी चाहिये। केवल 'ज्या' शब्दसे सर्वत्र भुजज्या ही समझी जाती है।

४. उदाहरण—जैसे—प्रथमज्या २२५में प्रथमज्या २२५ से भाग देकर लब्धि १ को प्रथमज्यामें घटाकर २२४ (प्रथम खण्ड) हुआ। इसको प्रथमज्यामें जोड़नेसे २२४+२२५=४४९ यह द्वितीय जीवा हुई। द्वितीय जीवा ४४९ में प्रथमज्या २२५ का

तद्वणा ज्या त्रिजीवासा तच्चापं क्रान्तिरुच्यते ।

(अभीष्ट जीवासाधनके लिये उपयोगी २४ जीवासाधन)—१ राशि-कला १८०० का आठवाँ भाग (२२५ कला) प्रथम जीवार्ध ३ होता है। उस (प्रथम जीवार्ध) से प्रथम जीवार्धमें भाग देकर लब्धिको प्रथम जीवार्धमें ही घटाकर शेष (प्रथमखण्ड) को प्रथम जीवार्धमें ही जोड़नेसे द्वितीय जीवार्ध होता है। इसी प्रकार प्रथम जीवासे ही द्वितीय जीवामें भाग देकर लब्धिको द्वितीय खण्डमें घटाकर शेषको द्वितीय जीवार्धमें जोड़नेसे तृतीय जीवार्ध होता है। इसी तरह आगे भी क्रिया करनेसे क्रमशः २४ जीवार्ध सिद्ध होते हैं ॥ ९१-९२ ३ ॥

इस प्रकार सूर्यकी परमक्रान्तिज्या १३९७

३. जीवा, जया, शिङ्गनी, मौर्वी गुण, रजु—ये पर्यायवाचक शब्द हैं। ज्यौतिषमें चाप और जीवाके द्वारा ही ग्रहगणित होता है; क्योंकि ग्रहका मार्ग वृत्ताकार है। वृत्त परिधिका खण्ड चाप कहलाता है। जैसे अ, ग, प, ल, अ यह वर्तुल मार्ग वृत्तपरिधि है। इसमें अ-क, अ-ग आदि परिधिखण्ड चाप कहलाते हैं। जैसे अ, इ, क चाप है तो अ, क सरलरेखा अ, इ, क, चापकी पूर्णज्या कहलाती है तथा अ, त, सरलरेखा अ, इ, क चापकी उत्क्रमज्या तथा क, त रेखा अ, इ, क चापका जीवार्ध वा ज्यार्ध कहलाती है। इसीको अर्धज्या भी कहते हैं। गणितमें अर्धज्या (ज्यार्ध)-से ही काम लिया जाता है; इसलिये ज्यौतिषग्रन्थमें ज्यार्धको ही ज्या-जीवा-मौर्वी आदि कहते हैं। वे जीवार्ध या जीवा वृत्तके चतुर्थांशमें ही बनते हैं। इस वृत्तके चतुर्थांशको पद कहा गया है। अतः सम्पूर्ण वृत्तमें ४ पद होते हैं। १, ३ विषम और २, ४ सम पद कहलाते हैं।

होती है। इस (परमक्रान्तिज्या)-से ग्रहकी ज्या (भुजज्या) को गुणा करके त्रिज्याके द्वारा भाग देनेसे 'इष्टक्रान्ति-ज्या' होती है। उसका चाप बनानेसे 'इष्टक्रान्ति' (मध्यमा) कहलाती है॥१३३॥ ग्रहं संशोध्य मन्दोच्चात् तथा शीघ्राद्विशोध्य च॥१४॥ शेषं केन्द्रपदं तस्माद्बुजज्या कोटिरेव च।

गताद्बुजज्याविषमे गम्यात् कोटिः पदे भवेत्॥१५॥ युग्मे तु गम्याद्बुज्या कोटिज्या तु गताद् भवेत्। लिमास्तत्त्वयमैर्भक्ता लब्धं ज्यापिण्डकं गतम्॥१६॥ गतगम्यान्तराभ्यस्तं विभजेत्तत्त्वलोचनैः। तदवासफलं योज्यं ज्यापिण्डे गतसंज्ञके॥१७॥ स्यात्क्रमज्या विधिरयमुत्क्रमज्यास्वपि स्मृतः। ज्यां प्रोहा शेषं तत्त्वाश्विहतं तद्विवरोद्भूतम्॥१८॥ संख्यातत्त्वाश्विसंवर्गे संयोज्य धनुरुच्यते।

(‘भुजज्या’ और ‘कोटिज्या’ बनानेकी रीति—) ग्रहोंको अपने-अपने मन्दोच्चमें घटानेसे शेष उस ग्रहका ‘मन्द केन्द्र’ तथा शीघ्रोच्चमें घटानेसे शेष उस ग्रहका ‘शीघ्र केन्द्र’ कहलाता है। उस

राश्यादि केन्द्रकी ‘भुजज्या’ और ‘कोटिज्या’ बनानी चाहिये। विषम (१, ३) पदमें ‘गत’ चापकी जीवा भुजज्या और ‘गम्य’ चापकी जीवा कोटिज्या कहलाती है^३। सम (२, ४) पदमें ‘गम्य’ चापकी जीवा ‘भुजज्या’ और ‘गत’ चापकी जीवा ‘कोटिज्या’ होती है^२॥१४-१५॥

(इष्टज्या-साधन-विधि)—जितने राश्यादि चापकी जीवा बनाना हो, उसकी कला बनाकर उसमें २२५ से भाग देकर जो लब्धि हो, उतनी संख्या (सिद्ध २४ ज्या-पिण्डमें) गत ज्यापिण्डकी संख्या समझे। शेष कलाको ‘गत ज्या’ और ‘गम्य ज्या’ के अन्तरसे गुणा करके २२५ से भाग देकर लब्धि कलादिको ‘गत ज्या’-पिण्डमें जोड़नेसे ‘अभीष्ट ज्या’ होती है। ‘उत्क्रमज्या’ भी इसी विधिसे बनायी जाती है^३॥१६-१७॥

(जीवासे चाप बनानेकी विधि)—इष्ट जीवाकी कलामें सिद्ध जीवापिण्डोंमेंसे जितनी संख्यावाली जीवा घटे, उसको घटाना चाहिये। शेष कलाको

भाग देकर लब्धि २ को प्रथम खण्ड २२४ में घटानेसे शेष २२२ द्वितीय खण्ड हुआ; इसको द्वितीय जीवामें जोड़नेसे ६७१ तृतीय जीवा हुई। फिर तृतीय जीवामें प्रथमज्यासे भाग देकर लब्धि ३ को द्वितीय खण्डमें घटानेसे शेष २१९ तृतीय खण्ड हुआ। इसको तृतीय जीवा ६७१ में जोड़नेसे ८९० यह चतुर्थ जीवा हुई। इसी प्रकार आगे भी साधन करनेपर निमाङ्कित सिद्ध २४ ज्यार्थकी कलाएँ होती हैं—२२५, ४४९, ६७१, ८९०, ११०५, १३१५, १५२०, १७१९, १९१०, २०९३, २२६७, २४३१, २५४५, २७२८, २८५९, २९७८, ३०८४, ३१७७, ३२५६, ३३२१, ३३७२, ३४०९, ३४३१ तथा ३४३८। ये १ पदमें (३ राशिमें) २४ ज्यार्थ-पिण्ड हैं।

१. ३ राशि (९० अंश)-का १ पद होता है। उस पदमें ‘गत’ चापको घटानेसे शेष ‘गम्य’ चाप कहलाता है। जैसे सूर्यराश्यादि ८। १०। १५। २५ है, उसका मन्दोच्च २। १७। ३५। ४० है तो मन्दोच्चमें सूर्यको घटानेसे राश्यादि शेष ६। ७। १७। १५ केन्द्र हुआ। यहाँ केन्द्र ६ राशिसे अधिक है, अतः तृतीय (विषम) पदमें पड़ा। इसलिये तृतीय पदके गतांशादि ७। १७। १५ को ९० अंशमें घटानेसे अंशादि ८२। ४२। ४५—ये ‘गम्य’ अंशादि हुए।

२. जैसे स्वल्पान्तरसे सूर्यका मन्दोच्च २। १७। ४८। ५४ है। इसमें मध्यम सूर्य ७। ६। १८। ५४ को घटानेसे शेष ७। ११। ३०। ० यह मन्द केन्द्र हुआ। यह ६ राशिसे अधिक होनेके कारण तुलादिमें पड़ा तथा तृतीय पदमें होनेके कारण इसमें ६ राशि घटाकर शेष १। ११। ३०। ० यह भुज हुआ। इसको ९० अंश (३ राशि) में घटानेसे शेष १। १८। ३०। ० यह कोटि हुई।

भुजज्या बनानेके लिये आगे कही हुई रीतिसे राश्यादि भुज १। ११। ३० को कला बनानेसे २४९० कला हुई। इसमें २२५ से भाग देनेपर लब्धि गतज्या ११ हुई। शेष २५ को गतज्या, एष्यज्या (११ वीं और १२ वीं ज्या)-के अन्तर (२४३१-२२६७)=१६४ से गुणा करनेपर २४६० हुआ। इसमें २२५ का भाग देनेपर लब्धि ११ कलाको गतज्या २२६७ में जोड़नेसे सूर्यकी भुजज्या २२७८ हुई। इसी प्रकार कोटिकी कलाद्वारा कोटिज्या २६७५ हुई।

३. जैसे परम क्रान्ति २४ अंशकी कला १४४० में २२५ का भाग देनेसे लब्धि ६ ‘गतज्या’-संख्या हुई, जिसका प्रमाण १३१५ है। शेष कला ९० को ‘गतज्या’ ‘एष्यज्या’के अन्तर (१५२०-१३१५=२०५)-से गुणा कर उसमें २२५ से भाग देनेपर लब्धि ८२ को गतज्या १३१५ में जोड़नेसे १३१७ यह परम क्रान्ति (२४ अंश)-की ज्या हुई।

२२५ से गुणा करके गुणनफलमें गत, गम्य जीवाके अन्तरसे भाग देकर जो लब्धि कलादि हो, उसको घटायी हुई सिद्ध-जीवा-संख्यासे गुणित २२५ में जोड़नेसे इष्टज्याका चाप होता है ॥ ९८ १ ॥

रवेर्मन्दपरिध्यंशा मनवः शीतगो रदा: ॥ ९९ ॥

युग्मान्ते विषमान्ते तु नखलिमोनितास्तयोः ।

युग्मान्तेऽर्थाद्रियः खाग्निसुराः सूर्या नवार्णवाः ॥ १०० ॥

ओजे द्वयगा वसुयमा रदा रुद्रा गजाब्ध्य ।

कुजादीनामतः शैघ्या युग्मान्तेऽर्थाग्निदस्तकाः ॥ १०१ ॥

गुणाग्निचन्द्रा खनगा द्विरसाक्षीणि गोऽग्रयः ।

ओजान्ते द्वित्रियमला द्विविश्वे यमपर्वताः ॥ १०२ ॥

खर्तुदस्त्रा वियद्वेदाः शीघ्रकर्मणि कीर्तिताः ।

ओजयुग्मान्तरगुणा भुजज्या त्रिज्ययोद्घृता ॥ १०३ ॥

युग्मवृत्ते धनर्ण स्यादोजादूनाधिके स्फुटम् ।

(रवि और चन्द्रमाके मन्दपरिध्यंश)—समपदके अन्तमें सूर्यके १४ अंश और चन्द्रमाके ३२ अंश मन्दपरिधि मान होते हैं और विषमपदके अन्तमें २० कला कम अर्थात् सूर्यके १३ । ४० और चन्द्रमाके ३१ । ४० मन्दपरिध्यंश हैं ॥ ९९ १ ॥

(मङ्गलादि ग्रहोंकी मन्द और शीघ्र परिधि)—समपदान्तमें मङ्गलके ७५, बुधके ३०, गुरुके ३३, शुक्रके १२ और शनिके ४९ तथा विषमपदान्तमें मङ्गलके ७२, बुधके २८, गुरुके ३२, शुक्रके ११ और शनिके ४८ मन्द परिध्यंश हैं । इसी प्रकार समपदके अन्तमें मङ्गलके २३५, बुधके १३३, गुरुके ७०, शुक्रके २६२ और शनिके ३९ तथा विषमपदान्तमें मङ्गलके २३२, बुधके १३२, गुरुके ७२, शुक्रके २६० और शनिके ४० शीघ्र परिध्यंश कहे गये हैं ॥ १००-१०२ १ ॥

१. जैसे परमक्रान्तिज्याका चाप बनाना है, तो परमक्रान्तिज्या १३१७ में कथित छठी जीवा १३१५ को घटाकर शेष ८२ को २२५ से गुणाकर गत, गम्य ज्याके अन्तर २०५ से भाग देनेपर लब्धि १० को $6 \times 225 = 1350$ में जोड़नेसे १४४० हुआ । इसको अंश बनानेसे २४ परम क्रान्ति-अंश हुए ।

२. जैसे—सूर्यकी भुजज्या २२७८ को विषम-सम परिधिके अन्तर २० से गुणा करनेपर ४५५६० हुआ । इसमें ३४३८ का भाग देनेसे लब्धि १३ कलाको समपदान्त परिधि-अंश १४ में घटानेसे १३ । ४७ सूर्यकी स्पष्ट मन्द परिधि हुई ।

३. जैसे—सूर्यकी भुजज्या २२७८ को स्पष्ट मन्द परिधि १३ । ४७ से गुणा कर ३१३९८ । २६ हुआ । इसमें ३३० का भाग देनेसे लब्धि कलादि ८७ । १३ यह भुजफल हुआ । यह २२५ से कम है, अतः इसका चाप भी इतना ही हुआ और यही सूर्यका कलादि मन्दफल हुआ । इसके अंशादि बनानेसे १ । २७ । १३ हुआ, इसको तुलादि केद्र होनेके कारण मध्यम सूर्य ७ । ६ । १८ ।

(अभीष्ट स्थानमें परिधिसाधन—) अभीष्ट स्थानमें मन्द या शीघ्र परिधि बनानी हो तो उस ग्रहकी भुजज्याको विषम-समपदान्त-परिधिके अन्तरसे गुणा करके गुणनफलमें त्रिज्या (३४३८)—से भाग देकर जो अंशादि लब्धि हो, उसको समपदान्त-परिधिमें जोड़ने या घटानेसे (विषमपदान्तसे समपदान्त कम हो तो जोड़ने अन्यथा घटानेसे) इष्टस्थानमें स्पष्ट मन्द या शीघ्र परिध्यंश होते हैं ॥ १०३ १ ॥

तद्वृणे भुजकोटिज्ये भगणांशविभाजिते ॥ १०४ ॥

तद्वृज्याफलधनुर्मान्दं लिसादिकं फलम् ।

शैघ्यं कोटिफलं केन्द्रे मकरादौ धनं स्मृतम् ॥ १०५ ॥

संशोध्यं तु त्रिजीवायां ककर्यादौ कोटिजं फलम् ।

तद्वाहुफलवर्गं क्यान्मूलं कर्णश्वलाभिधः ॥ १०६ ॥

त्रिज्याभ्यस्तं भुजफलं चलकर्णविभाजितम् ।

लब्धस्य चापं लिसादिफलं शैघ्रयमिदं स्मृतम् ॥ १०७ ॥

एतदाद्ये कुजादीनां चतुर्थे चैव कर्मणि ।

मान्दं कर्मेकमकेन्द्रोभौमादीनामथोच्यते ॥ १०८ ॥

शैघ्यं मान्दं पुनर्मान्दं शैघ्यं चत्वार्यनुक्रमात् ।

(भुजफल-कोटिफल-साधन—) इस प्रकार साधित स्पष्ट परिधिसे ग्रहकी 'भुजज्या' और 'कोटिज्या' को पृथक्-पृथक् गुणा करके भगणांश (३६०)—से भाग देकर लब्धि (भुजज्यासे) भुजफल और (कोटिज्यासे) कोटिफल होते हैं । एवं मन्द परिधिद्वारा मन्दफल और शीघ्र परिधिद्वारा शीघ्रफल समझने चाहिये । यहाँ मन्द परिधिवश भुजज्याद्वारा जो भुजफल आवे, उसका चाप बनानेसे मन्द कलादि फल होता है ॥ १०४ १ ॥

(शीघ्र कर्णसाधन—) पूर्वविधिसे शीघ्र

परिधिद्वारा जो कोटिफल आवे, उसको मकरादि केन्द्र हो तो त्रिज्या (३४३८)-में जोड़े। कर्कादि केन्द्र हो तो घटावे। जोड़ या घटाकर जो फल हो, उसके वर्गमें शीघ्र भुजफलके वर्गको जोड़ दे। फिर उसका मूल लेनेसे शीघ्र कर्ण होता है॥ १०५-१०६॥

(शीघ्र फलसाधन—) पूर्वविधिसे साधित शीघ्र भुजफलको त्रिज्यासे गुणा करके शीघ्र कर्णके द्वारा भाग देनेपर जो कलादि लब्धि हो, उसके चाप बनानेसे शीघ्र 'भुजफल' होता है। यह शीघ्रफल मङ्गलादि ५ ग्रहोंमें प्रथम और चतुर्थ कर्ममें संस्कृत (धन या ऋण) किया जाता है॥ १०७ १/२॥

रवि और चन्द्रमामें केवल एक ही मन्दफलका संस्कार (धन या ऋण) किया जाता है। मुने! अब मङ्गलादि ५ ग्रहोंके संस्कारका वर्णन करता हूँ। उनमें प्रथम शीघ्रफलका, द्वितीय मन्दफलका, तृतीय भी मन्दफलका और चतुर्थ शीघ्रफलका संस्कार किया जाता है॥ १०८ १/२॥

अजादिकेन्द्रे सर्वेषां शैघ्न्ये मान्दे च कर्मणि॥ १०९॥
धनं ग्रहाणां लिसादि तुलादावृणमेव तत्।
अर्कबाहुफलाभ्यस्ता ग्रहभुक्तिर्विभाजिता॥ ११०॥
भचक्रकलिकाभिस्तु लिसाः कार्या ग्रहेऽर्कवत्।

(संस्कारविधि—) शीघ्र या मन्द केन्द्र मेषादि (६ राशिके भीतर) हो तो शीघ्रफल और मन्दफल जोड़े जाते हैं। यदि तुलादि केन्द्र (६ राशिसे ऊपर) हो तो घटाये जाते हैं॥ १०९ १/२॥

(रविभुजफल-संस्कार—) प्रत्येक ग्रहकी गतिकलाको पृथक्-पृथक् सूर्यके मन्द भुजफल-कलासे गुणा करके उसमें २१६०० के द्वारा भाग

देनेसे जो कलादि लब्धि हो, उसको पूर्वसाधित उदयकालिक ग्रहोंमें रविमन्दफलवत् संस्कार (मन्दफल धन हो तो धन, ऋण हो तो ऋण) करना चाहिये। इससे स्पष्ट सूर्योदयकालिक ग्रह होते हैं॥ ११० १/२॥

स्वमन्दभुक्तिसंशुद्धेमध्यभुक्तेनिशापते: ॥ १११॥
ग्रहभुक्तेः फलं कार्यं ग्रहवन्मन्दकर्मणि।
दोर्यान्तरगुणा भुक्तिस्तत्त्वनेत्रोद्घृता पुनः॥ ११२॥
स्वमन्दपरिधिक्षुणा भगणांशोद्घृताः कलाः।
कर्कादौ तु धनं तत्र मकरादावृणं स्मृतम्॥ ११३॥
मन्दस्फुटीकृतां भुक्तिं प्रोज्ज्ञय शीघ्रोच्च भुक्तिः।
तच्छेषं विवरेणाथ हन्यात्रिज्यान्त्यकर्णयोः॥ ११४॥
चलकर्णहतं भुक्तौ कर्णे त्रिज्याधिके धनम्।
ऋणमूनेऽर्थिके प्रोज्ज्ञय शेषं वक्रगतिर्भवेत्॥ ११५॥

(स्पष्टग्रहतिसाधनार्थ गतिफल—) चन्द्रमध्यगतिमें चन्द्रमन्दोच्चगतिको घटाकर उससे (अर्थात् चन्द्रकेन्द्र-गतिसे) तथा अन्य ग्रहोंकी (स्वल्पान्तरसे) अपनी-अपनी गतिसे ही मन्दस्पष्टगतिसाधनमें फल साधन करे। यथा— उक्त गति (चन्द्रकी केन्द्रगति और अन्य ग्रहोंकी गति) को दोर्यान्तर (गम्यज्या और गतज्याके अन्तर) -से गुणा करके उसको २२५ के द्वारा भाग देकर लब्धिको अपनी-अपनी मन्दपरिधिसे गुणा करके भगणांश (३६०) -के द्वारा भाग देनेसे जो कलादि फल लब्धि हो, उसको कर्कादि (३ से ऊपर ९ राशिके भीतर) केन्द्र हो तो मध्यगतिमें धन करने (जोड़ने) तथा मकरादि (९ राशिसे ऊपर ३ राशितक) केन्द्र हो तो घटानेसे मन्दस्पष्ट गति होती है। पुनः इस मन्दस्पष्ट गतिको अपनी

५४ में घटानेसे शेष ७। ४। ५१। ४१ यह स्पष्ट सूर्य हुआ।

१. पूर्वसाधित मध्यम या स्पष्ट सूर्य मध्यमार्कोदयकालिक होता है। उसको स्पष्ट सूर्योदयकालिक बनानेके लिये भुजफल-संस्कार किया जाता है। जैसे—सूर्यके भुजफल ८७। १३ को सूर्यकी स्पष्टगति ६०। ४७ से गुणा करनेपर ५३०। २० हुआ। इसमें २१६०० का भाग देनेसे लब्धि कलादि ०। १५ अर्थात् १५ विकलाको स्पष्ट सूर्यमें मन्दफल ऋण होनेके कारण घटानेसे स्पष्ट सूर्योदयकालिक स्पष्ट सूर्य ७। ४। ५१। २६ हुआ।

२. ग्रहोंकी केन्द्रगतिके द्वारा मन्दस्पष्टगतिफल साधन होता है। वहाँ चन्द्रमाकी अधिक गति होनेके कारण केन्द्रगति ग्रहण की जाती है। अन्य ग्रहकी १ दिनमें मन्दोच्च गति शून्य होनेके कारण ग्रहगतिके तुल्य ही केन्द्रगति होती

शीघ्रोच्च गतिमें घटाकर शेषको त्रिज्या तथा अन्तिम शीघ्रकर्णके अन्तरसे गुणा करके पूर्वसाधित शीघ्रकर्णके द्वारा भाग देनेसे जो लब्धि (कलादि) हो, उसको यदि कर्ण त्रिज्यासे अधिक हो तो मन्दस्पष्ट गतिमें धन करने (जोड़ने) और अल्प हो तो घटानेसे स्पष्ट गति होती है। यदि साधित ऋणगतिफल मन्दस्पष्ट गतिसे अधिक हो तो उसी (ऋणगतिफल)-में मन्दस्पष्ट गतिको घटाकर जो बचे, वह वक्रगति होती है। इस स्थितिमें वह ग्रह वक्र-गति रहता है^३ ॥ १११—११५ ॥

कृतर्तुचन्द्रैवेदन्द्रैः शून्यत्र्यैकर्गुणाष्टिभिः ।
शतरुद्रैश्चतुर्थेषु केन्द्रांशैर्भूसुतादयः ॥ ११६ ॥
वक्रिणश्चकशुद्धैस्तैरंशैरुज्ञान्ति वक्रताम् ।
क्रान्तिज्या विषुवद्वाजी श्खितिज्या द्वादशोद्धता ॥ ११७ ॥
त्रिज्यागुणा दिनव्यासभक्ता चापं चरासव ।
तत्कार्मुकमुद्वक्रान्तौ धनहीने पृथक् स्थिते ॥ ११८ ॥
स्वाहोरात्रचतुर्भागे दिनरात्रिदले स्मृते ।
याम्यक्रान्तौ विपर्यस्ते द्विगुणे तु दिनक्षपे ॥ ११९ ॥

(ग्रहोंकी वक्र केन्द्रांश-संख्या —) मङ्गल

अपने चतुर्थ शीघ्रकेन्द्रांश १६४ में, बुध १४४ केन्द्रांशमें, गुरु १३० केन्द्रांशमें, शुक्र १६२ केन्द्रांशमें और शनि ११५ शीघ्रकेन्द्रांशमें वक्रगति होता है। अपने-अपने वक्रकेन्द्रांशको ३६० में घटानेसे शेषके तुल्य केन्द्रांश होनेपर फिर वह मार्ग-गति होता है^२ ॥ ११६^३ ॥

(कालज्ञान —) रवि-क्रान्तिज्याको पलभा^३ से गुणा करके गुणनफलमें १२ से भाग देनेपर लब्धि ‘कुज्या’ होती है। उस (कुज्या)-को त्रिज्यासे गुणा करके द्व्यज्या (क्रान्तिकी कोटिज्या) से भाग देकर लब्धि (चरज्या)-के चाप बनानेसे चरासु^४ होते हैं। उस चर-चापको यदि उत्तर क्रान्ति हो तो १५ घटीमें जोड़नेसे दिनार्ध और १५ घटीमें घटानेसे रात्र्यर्ध होता है। दक्षिणक्रान्ति हो तो विपरीत (यानी १५ घटीमें घटानेसे दिनार्ध और जोड़नेसे रात्र्यर्ध) होता है। दिनार्धको दूना करनेसे दिनमान और रात्र्यर्धको दूना करनेसे रात्रिमान होता है^५ ॥ ११७—११९ ॥

भभोगोऽष्टशतीलिमाः खाश्चिशैलास्तथा तिथेः ।

है तथा रवि और चन्द्रमाकी मन्दस्पष्ट गति ही स्पष्ट गति होती है। मङ्गलादि ग्रहोंके शीघ्रोच्चवश शीघ्र गतिफलका पुनः संस्कार करनेसे स्पष्ट गति होती है।

१. जैसे सूर्यको गति ५९ । ८ को गत-एव्यज्याके अन्तर १६४ से (जो भुजज्यासाधनमें गतैव्यज्यान्तर हुआ था) गुणा करनेपर ९३९७ । ५२ हुआ। इसमें २२५ से भाग देनेपर लब्धिकला ४३ को मन्दपरिधि १३ । ४७ से गुणा करके गुणनफल ५९२ । ४१ में ३६० से भाग देनेपर लब्धिकलादि गतिफल १ । ३९ हुआ। इसको कर्कादि केन्द्र होनेके कारण सूर्यकी मध्यगति ५९ । ८ में जोड़नेसे ६० । ४७ यह मन्दस्पष्ट गति हुई; यही सूर्यकी स्पष्ट गति भी होती है।

२. जैसे मङ्गलके वक्रकेन्द्रांश १६४ को ३६० में घटानेसे शेष १९६ मार्ग-केन्द्रांश हुए। इससे सिद्ध हुआ कि जब मङ्गलका शीघ्रकेन्द्रांश १६४ से १९६ तक रहता है, तबतक मङ्गल वक्र रहता है। इसी प्रकार सब ग्रहोंके मार्गकेन्द्रांश समझने चाहिये।

३. ३०घड़ीका दिन हो तो उस दिनके दोपहरमें बारह अङ्गुल शाङ्कुकी छायाका नाम ‘पलभा’ है।

४. दीर्घ अक्षरके दस बार उच्चारणमें जितना समय लगता है, उतना काल १ असु (प्राण) कहलाता है। ६ असुका १ पल और ६० पलकी १ घड़ी होती है। अतः चरासुमें ६ के भाग देकर, पल बनाकर दिनमान साधन करना चाहिये।

५. क्रान्ति बनानेमें अयनांश जोड़ना होता है, इसलिये १३२ वें श्लोकके अनुसार अयनांश-साधन किया जाता है। अहर्गण १८४६२३७ को ६०० से गुणा कर गुणनफल ११०७७४२२०० में युग-कुदिन १५७७९१७८२८ से भाग देनेपर लब्धि राश्यादि ८ । १२ । ४४ हुई। इसके भुज २ । १२ । ४४ के अंशादि ७२ । ४४को ३ से गुणा कर गुणनफल २१८ । १२ में १० से भाग देनेपर लब्धि अंशादि २१ । ४९ । १२ यह अयनांश हुआ। इस अयनांशको स्पष्टसूर्य ७ । ४ । ५१ । १२ में जोड़नेसे सायन सूर्य ७ । २६ । ४० । २४ हुआ, इसका भुज १ । २६ । ४० । २४ है और इस भुजकी ज्या २८७२ हुई। इस भुजज्याको परमक्रान्तिज्या १३९७ से गुणा कर गुणनफल ४०१२१८४ में त्रिज्या ३४३८ से भाग देनेपर लब्धि ११६७ क्रान्तिज्या हुई। इसकी चापकला ११९१ के अंश १९ । ५१ क्रान्तियंश हुए। इनको १० अंशमें घटानेसे शेष ७० । ९

ग्रहलिपा भभोगासा भानि भुक्त्या दिनादिकम् ॥ १२० ॥
रवीन्दुयोगलिपाभ्यो योग भभोगभाजिताः ।

गतगम्याश्च षष्ठिव्यो भुक्तियोगासनाडिकाः ॥ १२१ ॥
अकोनचन्द्रलिपाभ्यस्तिथयो भोगभाजिताः ।

गता गम्याश्च षष्ठिव्यो नाड्यो भुक्त्यन्तरोद्भूताः ॥ १२२ ॥

(पञ्चाङ्ग-साधन—) ८०० कला एक-एक
नक्षत्रका और ७२० कला एक-एक तिथिका भोगमान
होता है। (अतः ग्रह किस नक्षत्रमें है, यह जानना
हो तो) राश्यादि ग्रहको कलात्मक बनाकर उसमें
भभोग (८००) के द्वारा भाग देनेसे जो लब्धि हो,
उसके अनुसार अश्विनी आदि गत नक्षत्र समझने
चाहिये। शेष कलादिसे ग्रहकी गतिके द्वारा उसकी
गत और गम्यघटीको समझना चाहिये^२ ॥ १२० ॥

उदयकालिक स्पष्टरवि और चन्द्रका योग
करके उसकी कलामें भभोग (८००)-के द्वारा

भाग देकर लब्धि-गत विष्कुम्भ आदि योग होते
हैं। शेष वर्तमान योगकी गतकला है। उसको
८०० में घटा देनेसे गम्यकला होती है। उस गत
और गम्यकलाको ६० से गुणा करके उससे रवि
और चन्द्रकी गति-कलाके योगसे भाग देनेपर
गत और गम्यघटी होती है^३ ॥ १२१ ॥

स्पष्टचन्द्रमें स्पष्टसूर्यको घटाकर शेष राश्यादिकी
कला बनाकर उसमें तिथिभोग (७२०)-से भाग
देनेपर लब्धि गततिथि-संख्या होती है। शेष
वर्तमान तिथिकी गतकला है। उसको ७२० में
घटानेसे गम्यकला होती है। गत और गम्यकलाको
पृथक् ६० से गुणाकर चन्द्र और रविके स्पष्ट
गत्यन्तरसे भाग देकर लब्धि-क्रमसे भुक्त (गत)
और गम्य घटी होती हैं। (पञ्चाङ्गमें वर्तमान
तिथिके आगे गम्यघटी लिखी जाती है)^३ ॥ १२२ ॥

क्रान्तिका कोटिचाप हुआ। इसकी ज्या ३२३३ हुई, इसको द्युज्या कहते हैं।

गोरखपुरकी पलभा ६ के वर्ग ३६ को १२ के वर्ग १४४ में जोड़नेसे १८० हुआ। इसका मूल स्वल्पान्तरसे
१३+ $\frac{1}{2}$ पलकर्ण हुआ। क्रान्तिज्या ११६७ को पलभा ६ से गुणा कर गुणनफल ७००२ में १२ से भाग देनेपर
लब्धि स्वल्पान्तरसे ५८३ कुज्या हुई। इसको त्रिज्या ३४३८ से गुणा कर गुणनफल २००४३५४ में द्युज्या ३२३३
से भाग देनेपर लब्धि ६२० चरज्या हुई। इसका चाप ६२६ यह चरासु हुआ, इसमें ६ से भाग देनेपर लब्धि चरपल
१०४ हुए; इनकी घड़ी १। ४४ हुई। इसको सायनसूर्यके दक्षिणगोलमें रहनेके कारण १५ घड़ीमें घटानेसे १३।
१६ यह दिनार्ध और चरको १५ घड़ीमें जोड़नेसे रात्र्यार्ध १६। ४४ हुआ। दिनार्धको दूना करनेसे घट्यादि २६।
३२ दिनमान हुआ तथा रात्र्यार्धको दूना करनेसे ३३। २८ रात्रिमान हुआ।

१. उदाहरण—जैसे स्पष्टचन्द्रमाकी गति ८१९, राश्यादि २। १०। १५। २५ है, तो इसको कलात्मक बनानेसे
४२१५। २५ हुई। कलामें ८०० के द्वारा भाग देनेसे लब्धि ५ हुई। यह गत नक्षत्र अश्विनीसे ५ वें मृगशिरका
सूचक है। शेष २१५। २५ यह वर्तमान आद्रा नक्षत्रकी गतकला हुई। इसको भभोग (८००)-में घटानेसे शेष
५८४। ३५ यह आद्राकी गम्यकला हुई। इस प्रकार उदयकालिक चन्द्रकलासे नक्षत्रकी गम्यकलाद्वारा त्रैराशिकसे
नक्षत्रकी गम्यघटी साधनकर पञ्चाङ्गमें लिखी जाती है। त्रैराशिक इस प्रकार है—यदि चन्द्रगतिकलामें ६० घड़ी
तो गत, गम्यकलामें क्या? इसका उत्तर आगे श्लोक १२२ की टिप्पणीमें देखिये, तिथि, वार, नक्षत्र, योग और
करण—इन ५ को पञ्चाङ्ग कहते हैं। स्पष्टचन्द्रमासे उक्त रीतद्वारा साधित नक्षत्र ही पञ्चाङ्गोपयोगी नक्षत्र होता
है। अर्थात् वही नक्षत्र पञ्चाङ्गमें लिखा जाता है।

२. योग-साधन—स्पष्टसूर्य और चन्द्रमाके योग ७। २९। ५७। ४० की कला १४३९७। ४० में ८०० से भाग
देनेपर लब्धि १७ गत योग व्यतीपात हुआ; शेष ७९७। ४० यह वर्तमान वरीयान् योगका भुक्त हुआ; इसको ८००
कलामें घटानेसे शेष २। २० वरीयान् का भोग्य हुआ। उपर्युक्त विधिसे भुक्त ७९७। ४० और भोग्य २। २० कलाको
पृथक्-पृथक् ६० घड़ीसे गुणा कर गुणनफलमें सूर्य और चन्द्रमाकी गतिके योग ८७६। ३६ से भाग देनेपर लब्धि
क्रमशः भुक्त घड़ी-पल ५४। ३५ और भोग्य घड़ी-पल ०। ९ हुई।

३. जैसे आद्रा नक्षत्रकी गम्यकला ५८४। ३५ है तो उसको ६० से गुणा करनेसे गुणनफल ३५०७५ में चन्द्रगतिकला
८१९ से भाग देनेपर लब्धि घट्यादि ४२। ४९ यह आद्राका गम्य (उदयसे आगेका) मान हुआ।

तिथि-साधन—यदि उदयकालमें चन्द्रमा ६। २४। १५। ३, सूर्य १। ५। ४२। ३७, चन्द्रगति ८१९। ०, सूर्य-गति

तिथयः शुक्लप्रतिपदो याता द्विष्ठा नगोद्धृताः ।
शेषं बवो बालवश्च कौलवस्तैतिलो गरः ॥ १२३ ॥
वणिजश्च भवेद्विष्टिः कृष्णभूतापराद्धतः ।
शकुनिर्नागश्च चतुष्पदः किंस्तुञ्जमेव च ॥ १२४ ॥
(तिथिये करण जाननेकी रीति—)
शुक्लपक्षकी प्रतिपदादि गत-तिथि-संख्याको दूना
करके ७ के द्वारा भाग देनेसे १ आदि शेषमें
क्रमसे १ बव, २ बालव, ३ कौलव, ४ तैतिल,
५ गर, ६ वणिज, ७ विष्टि (भद्रा)—ये करण
वर्तमान तिथिके पूर्वार्धमें होते हैं^१। (ये ७ करण
शुक्ल प्रतिपदाके उत्तरार्धसे कृष्ण १४ के पूर्वार्धतक
(२८) तिथियोंमें ८ आवृत्ति कर आते हैं। इसलिये
ये ७ चर करण कहलाते हैं। कृष्णपक्ष १४ के
उत्तरार्धसे शुक्ल प्रतिपदाके पूर्वार्धतक, क्रमसे १
शकुनि, २ नाग, ३ चतुष्पद और ४ किंस्तुञ्ज—
ये चार स्थिर करण होते हैं^२ ॥ १२३-१२४ ॥
शिलातलेऽम्बुसंशुद्धे वज्रलेपेऽपि वा समे ।
तत्र शड्कवङ्मूलैरिष्टः समं मण्डलमालिखेत् ॥ १२५ ॥
तन्मध्ये स्थापयेच्छाङ्कुं कल्पनाद्वादशाङ्कुलम् ।
तच्छायाग्रं स्पृशेद्यत्र वृत्ते पूर्वापराद्धयोः ॥ १२६ ॥
तत्र विन्दुं विधायोभौ वृत्ते पूर्वापराभिधौ ।
तन्मध्ये तिमिना रेखा कर्तव्या दक्षिणोत्तरा ॥ १२७ ॥
याम्योत्तरदिशोर्मध्ये तिमिना पूर्वपश्चिमा ।
दिङ्मध्यमत्स्यैः संसाध्या विदिशस्तद्वदेव हि ॥ १२८ ॥

चतुरस्त्रं बहिः कुर्यात् सूत्रैर्मध्याद्विनिःसृतैः ।
भुजसूत्राङ्कुलैस्तत्र दत्तैरिष्टप्रभा स्मृता ॥ १२९ ॥
प्राकृपश्चिमाश्रिता रेखा प्रोच्यते सममण्डले ।
उन्मण्डले च विषुवन्मण्डले परिकीर्त्यते ॥ १३० ॥
रेखा प्राच्यपरा साध्या विषुवद्वाग्रगा तथा ।
इष्टच्छायाविषुवतोर्मध्यमग्राभिधीयते ॥ १३१ ॥
(दिक्साधन—) जलसे संशोधित (परीक्षित)
शिलातल या वज्रलेप (सीमेंट) से सम बनाये
हुए भूतलमें जिस अङ्कुलमानसे शंकु बनाया गया
हो, उसी अङ्कुलमानसे अभीष्ट त्रिज्याङ्कुलसे वृत्त
बनाकर उसके मध्य (केन्द्र)-में समान द्वादश
विभाग (कल्पित अङ्कुल)-से बने हुए शंकुकी
स्थापना करे। उस शंकुकी छायाका अग्र भाग
दिनके पूर्वार्धमें जहाँ वृत्त-परिधिमें स्पर्श करे,
वहाँ पश्चिम बिन्दु जाने और दिनके उत्तरार्धमें
फिर उसी शंकुकी छायाका अग्रभाग जहाँ वृत्तपरिधिको
स्पर्श करे, वहाँ पूर्व बिन्दु समझे। इस प्रकार पूर्व
और पश्चिम बिन्दुका ज्ञान करे। अर्थात् उन दोनों
बिन्दुओंमें एक सरल रेखा खींचनेसे पूर्वापर-रेखा
होगी। उस पूर्वापर रेखाके दोनों अग्रोंको केन्द्र
मानकर दो वृत्तार्ध बनानेसे मत्स्याकार होगा।
उसके मुख एवं पुच्छमें रेखा करनेसे दक्षिणोत्तर-
रेखा होगी। यह दक्षिणोत्तररेखा केन्द्रबिन्दुमें होकर
जाती है। यह रेखा जहाँ वृत्तमें स्पर्श करे, वहाँ

५७। ३६ है तो चन्द्रमा ६। २४। १५। ३ में सूर्य १। ५। ४२। ३७ को घटानेसे शेष ५। १८। ३२। २६ की कला १०११२।
२६ में ७२० से भाग देनेपर लब्धि १४ गत तिथि हुई; शेष ०। ३२। २६ पूर्णिमाकी गत कलादि है। इसको ७२० कलामें
घटानेसे शेष ६८७। ३४ पूर्णिमाकी भोग्य कलादि हुई। गत कला ३२। २६ को ६० से गुणा कर गुणनफल १९४६ में
चन्द्रमा और सूर्यकी गत्यन्तरकला ७६१। २४ से भाग देनेपर लब्धि घड़ी-पल २। ३३ पूर्णिमा तिथिका भुक्त हुआ। तथा
भोग्य कला ६८७। ३४ को ६० से गुणाकर गुणनफल ४१२५४ में गत्यन्तरकला ७६१। २४ से भाग देनेपर लब्धि
घटानादि ५४। १२ पूर्णिमा तिथिका भोग्य (सूर्योदयसे आगेका मान) हुआ।

१. जैसे शुक्लपक्षकी द्वादशीमें करणका ज्ञान प्राप्त करना है तो गत तिथि-संख्या ११ को दूना करनेसे २२ हुआ।
इसमें ७ से भाग देनेपर शेष १ रहा। अतः द्वादशीके पूर्वार्धमें बव और उत्तरार्धमें बालव नामक करण हुआ। कृष्ण
पक्षकी तिथि-संख्यामें १५ जोड़कर तिथि-संख्या ग्रहण करनी चाहिये। जैसे कृष्ण पक्षकी द्वादशीमें करण जानना हो तो
गत तिथि-संख्या २६ को २ से गुणा करके गुणनफल ५२ में ७ से भाग देनेपर शेष ३ रहा। अतः द्वादशीके पूर्वार्धमें
तीसरा कौलव और उत्तरार्धमें चौथा तैतिल नामक करण हुआ।

२. तिथिमानका आधा करण कहलाता है। इसलिये एक-एक तिथिये २, २ करण होते हैं। बवादि ७ चर करण
और शकुनि आदि ४ स्थिर करण हैं।

दक्षिण तथा उत्तर दिशाके बिन्दु समझे। फिर इस दक्षिणोत्तर-रेखापर पूर्व-युक्तिसे मत्स्योत्पादनद्वारा पूर्वापर-रेखा बनावे तो यह रेखा केन्द्रबिन्दुमें होकर ठीक पूर्व और पश्चिम-बिन्दुका वृत्तमें स्पर्श करेगी। इस प्रकार चार दिशाओंको जानकर पुनः दो-दो दिशाओंके मध्यबिन्दुसे मत्स्योत्पादनद्वारा विदिशाओं (कोणों)-का ज्ञान करना चाहिये ॥ १२५—१२८ ॥

(इस प्रकार वृत्तमें दिशाओंका ज्ञान होनेपर) वृत्तके बाहर चारों दिशाओंके बिन्दुओंसे स्पशरिखाद्वारा चतुरस्त्र (चतुर्भुज) बनावे। वृत्तके मध्यकेन्द्रसे भुजाङ्गुलतुल्य (भुजकी दिशामें उत्तर या दक्षिण) बिन्दुपर छायारेखा होती है। उस छायारेखाको पूर्वापर-रेखाके समानान्तर बनावे। पूर्वापर-रेखा, पूर्वापर-वृत्त, उन्मण्डल और नाडी वृत्तके धरातलमें होती है। इसलिये क्षितिज धरातलगत वृत्तके केन्द्रसे पूर्वापर रेखा खींचकर फिर पलभाग्र बिन्दुगत पूर्वापरके समानान्तर रेखा बनावे। इस प्रकार इष्ट-छायाग्रगत तथा पलभा रेखाके बीच (अन्तर)-को 'अग्रा' कहते हैं ॥ १२९—१३१ ॥

शङ्कुच्छायाकृतियुतेमूलं कर्णोऽस्य वर्गतः।
शङ्कुशङ्कुकृतिं मूलं छाया शङ्कुर्विर्पर्यथात् ॥ १३२ ॥

शङ्कु (१२)-के वर्गमें छायाके वर्गको जोड़कर मूल लेनेसे छायाकर्ण होता है और छायाकर्णके वर्गमें शङ्कुके वर्गको घटानेसे मूल छाया होती है तथा छायाके-घटानेसे मूल शङ्कु होता है^३ ॥ १३२ ॥

त्रिंशत्कृत्वो युगे भानां चक्रं प्राक् परिलम्बते।
तद्वृणाद्भूदिनैर्भक्ताद् द्युगणाद्यदवाप्यते ॥ १३३ ॥
तद्वृस्त्रिघादशासांशा विज्ञेया अयनाभिधाः।
तत्संस्कृताद्वृहत्कान्तिच्छायाचरदलादिकम् ॥ १३४ ॥

(अयनांश-साधन—) एक युगमें राशिचक्र सृष्ट्यादि स्थानसे पूर्व और पश्चिमको ६०० बार चलित होता है। जो उसके भगण कहलाते हैं। इसलिये अहर्गणको ६०० से गुणा करके युगके कुदिनसे भाग देकर राश्यादि-फलसे भुज बनावे। उस भुजको ३ से गुणा करके १० के द्वारा भाग दे तो लब्ध अयनांश होती है। इस अयनांशको अहर्गणद्वारा साधित ग्रहमें जोड़कर क्रान्ति, छाया और चरखण्ड आदि बनाने चाहिये^२ ॥ १३३—१३४ ॥

शंकुच्छायाहते त्रिज्ये विषुवत्कर्णभाजिते।
लम्बाक्षज्ये तयोश्चापे लम्बाक्षौ दक्षिणौ सदा ॥ १३५ ॥
स्वाक्षार्कार्पक्रमयुतिर्दिवसाम्येऽन्तरमन्यथा।
शेषा नतांशाः सूर्यस्य तद्वाहृज्या च कोटिजा ॥ १३६ ॥
शंकमानाङ्गलाभ्यस्ते भुजत्रिज्ये यथाक्रमम्।
कोटिज्यया विभज्यासे छायाकर्णावहर्दले ॥ १३७ ॥

(लम्बांश और अक्षांश-साधन—) शंकु (१२) और पलभाको पृथक्-पृथक् त्रिज्यासे गुणा करके उसमें पलकर्णसे भाग देनेपर लब्ध क्रमशः 'लम्बज्या' और 'अक्षज्या' होती है। दोनोंके चाप बनानेसे 'लम्बांश' और 'अक्षांश' होते हैं। इनकी दिशा सर्वदा दक्षिण समझी जाती है^३ ॥ १३५ ॥

(सूर्य-ज्ञानसे मध्याह्न-छाया-साधन—) अपने अक्षांश और सूर्यके क्रान्त्यंश दोनों एक दिशाकी ओर हों तो योग करनेसे और यदि भिन्न दिशाके हों तो दोनोंको अन्तर करनेसे शेष सूर्यका 'नतांश' होता है। उस 'नतांश' की 'भुजज्या' और 'कोटिज्या' बनावे। भुजज्या और त्रिज्याको पृथक्-पृथक् शङ्कमान (१२) से गुणा करके उसमें कोटिज्यासे भाग देनेपर लब्ध क्रमशः मध्याह्नकालमें छाया और छायाकर्णके मानका

१. क्योंकि शंकुकोटि, छायाभुज और इन्हीं दोनोंके वर्गयोगका मूल छायाकर्ण कहलाता है।

२. अयनांश-साधनका उदाहरण काल-साधनमें पहले बतलाया जा चुका है।

३. जैसे—१२ अङ्गुल शंकुको त्रिज्याका ३४३८ से गुणा कर गुणनफल ४१२५६ में पलकर्ण $1\frac{3}{4} = \frac{7}{4}$ से भाग देनेपर लब्ध ३०७९ लम्बज्या हुई, इसकी चापकला ३८१४ में ६० से भाग देनेपर अंशादि ६३। ३४ लम्बांश हुआ। इसको ९० अंशमें घटानेसे २६। २६ अक्षांश हुआ।

सूचक होती है^१ ॥ १३६-१३७ ॥

स्वाक्षार्कनतभागानां दिक्साम्येऽन्तरमन्यथा ।
दिग्भेदेऽपक्रमः शेषस्तस्य ज्या त्रिज्यया हता ॥ १३८ ॥
परमापक्रमज्यासा चापं मेषादिगो रविः ।
कवर्यादौ प्रोञ्जय चक्राद्वान्तु लादौ भार्थसंयुतात् ॥ १३९ ॥
मृगादौ प्रोञ्जय चक्रात् मध्याह्नेऽर्कः स्फुटो भवेत् ।
तन्मान्दमसकृद्वामं फलं मध्यो दिवाकरः ॥ १४० ॥

(मध्याह्न-छायासे-सूर्यसाधन—) अपने 'अक्षांश' और मध्याह्नकालिक सूर्यके 'नतांश' दोनों एक दिशाके हों तो अन्तर करनेसे और यदि भिन्न दिशाके हों तो योग करनेसे जो फल हो, वह सूर्यकी 'क्रान्ति' होती है। 'क्रान्तिज्या' को 'त्रिज्या'से गुणा करके उसमें 'परमक्रान्तिज्या' (१३९७)-से भाग देनेपर लब्धि सूर्यकी 'भुजज्या' होती है। उसके चाप बनाकर मेषादि ३ राशिमें सूर्य हों तो वही स्पष्ट सूर्य होता है^२। कर्कादि ३

राशिमें हों तो उस चापको ६ राशिमें घटानेसे, तुलादि ३ राशिमें हों तो ६ राशिमें जोड़नेसे और मकरादि ३ राशिमें हों तो १२ राशिमें घटानेसे जो योग या अन्तर हो, वह मध्याह्नमें स्पष्ट सूर्य होता है। उस स्पष्ट सूर्यसे विपरीत क्रियाद्वारा मन्दफलसाधन कर बार-बार संस्कार करनेसे मध्यम सूर्यका ज्ञान होता है ॥ १३८-१४० ॥

ग्रहोदयाप्राणहता खखाष्टैकोद्धृता गतिः ।

चक्रासवो लब्धयुताः स्वाहोरात्रासवः स्मृताः ॥ १४१ ॥

(ग्रहोंके अहोरात्र-मान—) जिस राशिमें तत्काल ग्रह हो, उस राशिके उदयमानसे उस ग्रहकी गतिको गुणा करके उसमें १८०० से भाग देकर लब्धि असुको 'अहोरात्रासु' (२१६००)-में जोड़नेपर उस ग्रहका अहोरात्रमान होता है। (असुसे पल और घड़ी बना लेनी चाहिये ।)^३ ॥ १४१ ॥

१. यदि मध्याह्नकालिक राश्यादि ० । ९ । ५१ सायन सूर्य है तो उस दिन गोरखपुरमें मध्याह्नकालिक छायाका प्रमाण क्या होगा ?

उत्तर—सायन सूर्य ० । ९ । ५१ की भुजकला ५९१ की ज्या ५८७ को परमक्रान्तिज्या १३९७ से गुणा करके गुणनफल 8200×9 में त्रिज्या 3438 का भाग देनेसे लब्धि सूर्यकी क्रान्तिज्या २३८ कलाका चाप भी स्वल्पान्तरसे इतना ही हुआ। अतः इसके अंश बनानेसे ३ । ५८ यह सूर्यकी अंशादि क्रान्ति सूर्यके उत्तर गोलमें होनेके कारण उत्तरकी हुई। अतः अक्षांश २६ । २६ और क्रान्तिज्या ३ । ५८ का अन्तर करनेसे २२ । २८ यह नतांश हुआ। इसको ९० अंशमें घटानेसे नतांशकी कोटि ६७ । ३२ हुई। नतांशकी भुजज्या १३०८ और कोटिज्या ३१७८ हुई। भुजज्या १३०८ को १२ से गुणा कर गुणनफल १५६९६ में कोटिज्यासे भाग देनेपर लब्धि स्वल्पान्तरसे ५ अङ्गुल मध्याह्नकालिक छायाका प्रमाण हुआ।

२. गोरखपुरमें सायन मेष-संक्रान्तिके बाद वैशाख कृष्णपक्षमें यदि मध्याह्नके समय १२ अङ्गुल शंकुकी छाया ५ अङ्गुल उत्तर दिशाकी है तो उस दिन राश्यादि स्पष्ट सूर्य क्या होगा ?

उत्तर—छाया ५ के वर्ग २५ में शंकु १२ का वर्ग १४४ जोड़नेसे १६९ हुआ। इसका वर्गमूल १३ छाया-कर्ण हुआ। छाया ५ को त्रिज्यासे गुणा करके गुणनफल $3438 \times 5 = 17190$ छाया कर्ण १३ का भाग देनेसे लब्धि १३२२ सूर्यकी नतज्या हुई। इसका चाप १३५८ हुआ। इसको अंशात्मक बनानेसे २२ । ३८ सूर्यकी नतांश हुआ। यह उत्तर छाया होनेके कारण दक्षिण दिशाका हुआ। अतः इसको गोरखपुरके अक्षांश २६ । २६ में घटानेसे ३ । ४८ यह सूर्यकी क्रान्ति हुई, इसकी कला २२८ की ज्या भी इतनी ही हुई। इस क्रान्तिज्या २२८ को त्रिज्यासे गुणा करके गुणनफलमें परमक्रान्तिज्या १३९७ से भाग देनेपर लब्धि ५६१ सूर्यकी भुजज्या हुई। इसकी चापकला ५६३ को अंशादि बनानेसे ० । ९ । २३ राश्यादि सूर्य हुआ, यही मेषादि ३ राशिके भीतर होनेके कारण उस दिन मध्याह्नकालिक सायनसूर्य हुआ।

३. जैसे स्पष्ट सूर्य ० । ९ । ५१ हो, उसकी गतिकला ५८ हो तो उसको मेषके स्वदेशोदयमान १३१० असुसे गुणा करके गुणनफल ७५९८ में १८०० से भाग देनेपर लब्धि ४२ असु हुई। उसको अहोरात्रासु (२१६००) में जोड़नेसे २१६४२ असु सूर्यके अहोरात्रका प्रमाण हुआ। इसका पल बनानेसे ३६०७ अर्थात् नाक्षत्र अहोरात्रसे सूर्यका

त्रिभव्युकर्णाद्वर्गुणः स्वाहोरात्राद्वर्भभाजिताः ।
 क्रमादेकद्वित्रिभव्यास्तच्चापानि पृथक् पृथक् ॥ १४२ ॥
 स्वाधोउथः प्रविशोष्याथ मेषाल्लङ्कोदयासवः ।
 खागाष्ट्योऽर्थगोऽगैकाः शरत्यङ्कहिमांशवः ॥ १४३ ॥
 स्वदेशचरखण्डोना भवन्तीष्टोदयासवः ।
 व्यस्ता व्यस्तैर्युताः स्वैः स्वैः कर्कटाद्यासतस्त्रयः ॥ १४४ ॥
 उत्क्रमेण घडेवैते भवन्तीष्टास्तुलादयः ।

राशियोंके उदयमान—१ राशि, २ राशि, ३ राशिकी ज्याको पृथक्-पृथक् 'परमाल्पद्युज्या' (परमक्रान्तिकी कोटिज्या)-से गुणा करके उसमें अपनी-अपनी द्युज्या (क्रान्तिकोटिज्या) से भाग देकर लब्धियोंके चाप बनावे। उनमें प्रथम चाप मेषका उदय (लङ्कोदय)-मान होता है। प्रथम चापको द्वितीय चापमें घटानेपर शेष वृषका उदयमान

होता है एवं द्वितीय चापको तृतीय चापमें घटाकर जो शेष रहे, वह मिथुनका लङ्कोदयमान होता है। यथा—१६७० असु मेषका, १७९५ वृषका तथा १९३५ मिथुनका सिद्ध लङ्कोदयमान हैं। इन तीनोंमें क्रमसे अपने देशीय तीनों चरखण्डोंको घटावे तो क्रमशः तीनों अपने देशके मेष आदि तीन राशियोंके उदयमान होते हैं। पुनः उन्हीं तीनों लङ्कोदयमानोंको उत्क्रमसे रखकर—इन तीनोंमें अपने देशके तीनों चरखण्डोंको उत्क्रमसे जोड़नेपर कर्क आदि ३ राशियोंके स्वदेशोदयमान होते हैं एवं मेषादि कन्यापर्यन्त ६ राशियोंके उदयमान सिद्ध होते हैं। पुनः ये ही उत्क्रमसे तुलादि ६ राशियोंके मान होते हैं ॥ १४२—१४४ ॥

गतभोग्यासवः कार्याः सायनात् स्वेष्टभास्करात् ॥ १४५ ॥

अहोरात्र ७ पल अधिक हुआ। इसी प्रकार सब ग्रहोंके अहोरात्रमान समझे।

१. राशियोंके लङ्कोदयमान-साधनका उदाहरण—एक राशि (१८०० कला)-की ज्या १७१९ उसकी द्युज्या ३३५१ तथा परमाल्पद्युज्या ३१३९ कला है तो एक राशिज्या १७१९ को परमाल्पद्युज्या ३१३९ से गुणा करके गुणनफल ५३९५९४१ में एक राशिकी द्युज्या ३३५१ से भाग देकर लब्धि एक राशि उदयज्या १६१० हुई। इसका चाप मेषका उदयासु स्वल्पान्तरसे १६७० हुआ। इसी प्रकार आगे अपनी-अपनी ज्या और द्युज्यासे साधन करके राशियोंके उदयासु लिखे गये हैं। यथा—

	लङ्कोदयासु	चरासु	स्वदेशोदयासु	
मेष	१६७०	—	३६०	= १३१०
वृष	१७९५	—	२८८	= १५०७
मिथुन	१९३५	—	१२०	= १८१५
कर्क	२१३५	+	१२०	= ३०५५
सिंह	१७९५	+	२८८	= २०८३
कन्या	१६७०	+	३६०	= २०३०

ये उदयमान अनुसंख्यामें हैं। इनमें ६ के भाग देनेसे पलात्मक होते हैं। यथा—मेषोदयासु=१६७०, अतः मेषोदयपल = $\frac{१६७०}{६} = २७८$ स्वल्पान्तरसे। एवं अन्य मान निम्नाङ्कित चित्रमें देखिये।

२. उदाहरण—पलमान ६ हैं, वहाँ चरखण्ड-क्रमसे पलात्मक ६०। ४८। २० हुए। इनको क्रम-उत्क्रमसे पलात्मक लङ्कोदयमें घटाने और जोड़नेसे ६ पलभादेशीय (स्वदेशोदय)-मान हुए। चक्रमें देखिये—

	लङ्कोदया	चरखण्ड	स्वदेशोदया	
मे.	२७८	—	६०	= २१८
वृ.	२९९	—	४८	= २५१
मि.	३२३	—	२०	= ३०३
क.	३२३	+	२०	= ३४३
सि.	२९९	+	४८	= ३४७
क.	२७८	+	६०	= ३३८

स्वोदयासुहता भुक्तभोग्या भक्ताः खवहिभिः ।
अभीष्टैकासुभ्यो भोग्यासुन्प्रविशोधयेत् ॥ १४६ ॥
तद्वदेवैष्यलग्नासूनेवं यातांस्तथोत्क्रमात् ।
शेषं चेत् त्रिंशताभ्यस्तमशुद्धेन विभाजितम् ॥ १४७ ॥
भागयुक्तं च हीनं च व्ययनांशं तनुः कुजे ।

लग्न-साधन— इष्टकालिक सायनांश सूर्यके भुक्तांश और भोग्यांशद्वारा 'भुक्तासु' और 'भोग्यासु' का साधन करना चाहिये । (यथा—भुक्तांशको सायन सूर्यके स्वदेशोदयमानसे गुण करके ३० का भाग देनेपर लब्धि 'भुक्तासु' और भोग्यांशको स्वदेशोदयमानसे गुण करके उसमें ३० के द्वारा भाग देनेपर लब्धि 'भोग्यासु' होते हैं । इष्ट घटीके 'असु' बनाकर उसमें 'भोग्यासु' को घटावे, घटाकर जो शेष बचे, उसमें अग्रिम राशियोंमेंसे जितनेके स्वदेशोदयमान घटें, उतने घटावे । (अथवा) इसी प्रकार 'इष्टासु' में 'भुक्तासु' घटाकर शेषमें, गत राशियोंके उत्क्रमसे उनके जितने स्वदेशोदयमान घटें, घटावे । जिस राशितकका मान घट जाय, वहाँतक 'शुद्ध' और जिसका मान नहीं घटे, वह 'अशुद्ध' संज्ञक होती है । बचे हुए 'इष्टासु' को ३०

से गुण करके 'अशुद्ध' राशिके उदयमानसे भाग देकर लब्ध अंशादिको (भोग्य-क्रम-विधि हो तो) शुद्ध राशिसंख्यामें जोड़ने और (भुक्त-उत्क्रम-विधि हो तो) अशुद्ध राशिकी संख्यामें घटानेसे 'सायन लग्न' होता है । उसमें अयनांश घटानेसे फलकथनोपयुक्त उदयलग्न होता है ॥ १४५—१४७ ॥
प्राक् पश्चात्रतनाडीभिस्तद्वल्लङ्गेदयासुभिः ॥ १४८ ॥
भानौ क्षयधने कृत्वा मध्यलग्नं तदा भवेत् ।
भोग्यासूनूनकस्याथ भुक्तासूनधिकस्य च ॥ १४९ ॥
सपिण्ड्यान्तरलग्नासूनेवं स्यात्कालसाधनम् ।

(मध्य-दशम लग्न-साधन—) इसी प्रकार पूर्व 'नतकालासु' से लङ्गोदयद्वारा अंशादि साधन करके उसको सूर्यमें घटानेसे तथा पश्चिम 'नतकालासु' और लङ्गोदयद्वारा (त्रैराशिकसे) अंशादि साधन करके सूर्यमें जोड़नेसे मध्य (दशम=आकाशमध्य) लग्न होता है ॥ १४८ ॥

(लग्न और स्पष्ट-सूर्यको जानकर इष्टकाल-साधन—) लग्न और सूर्य इन दोनोंमें जो ऊन (पीछे) हो, उसके 'भोग्यांश' द्वारा 'भोग्यासु' और जो अधिक (आगे) हो उसके भुक्तांशद्वारा

१. जैसे—यदि कल्पित अयनांश १८। १० और सूर्य १। ५। ५२। ४० है तो उनका योग सायन सूर्य १। २४। २। ४० हुआ । इष्ट काल घड़ी-पल १०। २० है । अतः सूर्यके वृषराशि-भोग्यांश ५। ५७। २० और इष्ट कालासु ३७२० हुए । सूर्यके भोग्यांश ५। ५७। २० को वृषराशिके स्वोदयासु संख्या १५०७ से गुण करनेपर ३७२०। ८५८९९। ३०१४० को ६० से सर्वार्णन करनेपर ८९७५। १। २० हुआ । इसमें ३० का भाग देनेसे लब्धि २९९। १०। ३ भोग्यासु हुई । इसको इष्टकालासु ३७२० में घटानेसे ३४२०। ४९। ५७ हुआ । इसमें वृषके परवर्ती मिथुनके स्वोदयासु १८१५ को घटानेसे शेष १६०५। ४९। ५७ हुआ । इसमें कर्कका स्वोदयासु-२०५५ नहीं घटता है; इसलिये कर्कराशि अशुद्ध और मिथुन शुद्ध संज्ञक हुआ । शेष असु १६०५। ४९। ५७ को ३० से गुण करनेपर ४८१७४। ५८। ३० हुआ । इसमें अशुद्ध कर्कके स्वोदयमान २०५५ का भाग देनेसे लब्ध अंशादि २३। २६। ३२ में शुद्धराशि (मिथुन) संख्या ३ जोड़नेसे ३। २३। २६। ३२ हुआ । इसमें अयनांश १८। १० को घटानेसे २। ५। १६। ३२ यह लग्न हुआ ।

लग्न बनानेमें विशेषता यह है कि यदि सूर्योदयसे इष्टकालद्वारा लग्न बनाना हो तो सायन सूर्यके भोग्यांशद्वारा तथा इष्टकालको ६० घड़ीमें घटाकर शेषकालद्वारा बनाना हो तो सूर्यके भुक्तांशद्वारा ही उपर्युक्त विधिसे लग्न बनाना चाहिये ।

२. उदाहरण—यदि पूर्व 'नतकालासु' ३७५० और 'सायनसूर्य' ६। ५। ४। १० है तो भुक्त-प्रकारसे और 'लङ्गोदय' द्वारा दशम लग्नका साधन इस प्रकार होगा—सूर्यके 'भुक्तांश' ५। ४। १० को तुलाराशिके 'लङ्गोदय' १६७० से गुण करनेपर गुणनफल ८४६५ हुआ । इसमें ३० का भाग देनेसे भागफल २८२ सूर्यके भुक्तासु हुए । इनको 'नतकालासु' ३७५० में घटानेसे शेष ३४६८ रहा । उसमें सूर्यसे पीछेकी कन्याराशिके लङ्गोदयासु १७१५ को घटानेपर शेष १६७३ रहा । इसमें सिंहका लङ्गोदयासु १७१५ नहीं घटता है, अतः यह सिंह अशुद्ध संज्ञक हुआ । अब शेष असु १६७३ को ३० से गुण करके गुणनफल ५०११० में अशुद्ध उदयासु १७१५ का भाग देनेसे लब्ध अंशादि २७। ५७। ३९ हुए । इनको अशुद्ध राशि-संख्या ५ में घटानेपर शेष ४। २। २। २१ सायन दशम लग्न हुआ ।

‘भुक्तासु’ साधनकर दोनोंको जोड़े तथा उसमें उन दोनों (लग्न और सूर्य)-के बीचमें जो राशियाँ हों, उनके उदयासुओंको जोड़े तो ‘इष्टकालासु’ होते हैं^२ ॥ १४९ ॥

विराहक्भुजांशाश्वेदिन्द्राल्पाः स्याद्ग्रहो विधोः ॥ १५० ॥
तेऽशाः शिवद्वाः शैलासा व्यग्रकर्णशः शरोऽङ्गलैः ।
अकं विधुर्विधुं भूभा छादयत्यथ छन्नकम् ॥ १५१ ॥
छाद्यच्छादकमानार्थं शरोनं ग्राहवर्जितम् ।
तत् खच्छब्रं च मानैक्यार्थं शराळ्यं दशाहतम् ॥ १५२ ॥

छन्नद्वयमस्मान्मूलं तु स्वाङ्गोनं ग्लौबपुर्हतम् ।
स्थित्यद्व्यं घटिकादि स्याद्व्यगुवाहंशसंमितैः ॥ १५३ ॥
इष्टैः पलैस्तदूनाळ्यं व्यगावूनेऽर्कषदगृहात् ।
तदन्यथाधिके तस्मिन्नेवं स्पष्टे मुखान्त्यगे ॥ १५४ ॥

(ग्रहण-साधन—) पर्वन्ति कालमें स्पष्ट सूर्य, चन्द्र और राहुका साधन करे । सूर्यमें राहुको घटाकर जो शेष बचे, उसके भुजांश यदि १४ से अल्प हो तो चन्द्रग्रहणकी सम्भावना समझे ॥ १५० ॥
उन भुजाशोंको ११ से गुणा कर ७ से भाग देनेपर

१. यहाँ आगे रहनेवाला अधिक और पीछे रहनेवाला उन समझा जाता है । एवं दोनोंके अन्तर ६ राशिसे अल्पवाला ग्रहण करना चाहिये । यदि सूर्य अधिक रहे तो रात्रि शेष इष्टकाल समझना चाहिये ।

२. उदाहरणार्थ प्रश्न—यदि सायनसूर्य १ । २४ । ४५ । ० और सायन लग्न ३ । ५ । २० । ३० हैं तो इष्टकाल क्या होगा ?
उत्तर—यहाँ लग्न अधिक है, इसलिये लग्नके भुजांश ५ । २० । ३० को कर्कराशिके ‘स्वदेशोदयासु’ २०५५ से गुणा करनेपर गुणनफल १०९७७ हुए । उसमें ३० का भाग देनेपर ३६५ । ५४=३६६ लग्नके ‘भुक्तासु’ हुए । तथा सूर्यके भोग्यांश ५ । १५ । ० को वृषराशिके ‘स्वदेशोदयासु’ १५०७ से गुणा कर गुणनफल ७९११ में ३० से भाग देनेपर लब्ध सूर्यके भोग्यासु २६४ हुए । लग्नके ‘भुक्तासु’ ३६६ और सूर्यके ‘भोग्यासु’ २६४ के योग ६३० में मध्यकी राशि मिथुनके ‘स्वदेशोदयासु’ १८१५ जोड़नेसे २४४५ ‘इष्टकालासु’ हुए । इनमें ६ का भाग देनेपर लब्धिपल ४०७ । ३० हुए । इनमें ६० का भाग देनेपर लब्ध घट्यादि ६ । ४७ । ३० सूर्योदयसे इष्टकाल हुआ ।

३. चन्द्रग्रहणमें पूर्णिमा और सूर्यग्रहणमें अमावास्या पर्व कहलाता है ।

४. सूर्य और चन्द्रग्रहणका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—ग्रह जिस मार्गमें धूमता हुआ पृथ्वीकी प्रदक्षिणा करता है, वह (मार्ग) उस ग्रहकी कक्षा कहलाता है । पृथ्वीसे सूर्यकी कक्षा दूर और चन्द्रकी कक्षा समीप है । इसलिये सूर्य और पृथ्वीके बीचमें ही चन्द्रमा धूमता रहता है ।

जिस दिशामें सूर्य रहता है, उससे विरुद्ध या सामनेकी दिशामें पृथ्वीकी छाया रहती है । जिस प्रकार सूर्य धूमता है, उसी प्रकार उक्त छाया भी धूमती है और उसकी लंबाई चन्द्रकक्षासे आगेतक बढ़ी हुई होती है । पृथ्वी गोल होनेके कारण चन्द्रकक्षामें पृथ्वीकी छाया भी गोलाकार ही होती है । वह सूर्यसे सर्वदा ६ राशिपर ही धूमती रहती है ।

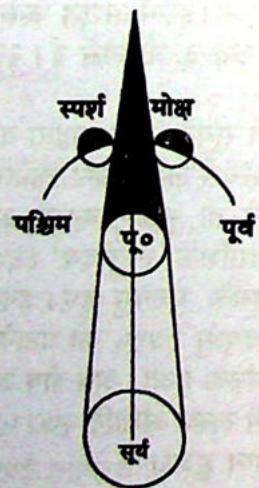
चन्द्रमा अपनी कक्षामें धूमता हुआ जब सूर्यके साथ एक दक्षिणोत्तर रेखामें स्थित होता है, उस समय दर्शनात् (अमावास्याके अन्त और शुक्ल प्रतिपदाके आरम्भकी संधि) -काल कहलाता है । तथा जब सूर्यसे चन्द्रमा ६ राशि आगे पहुँच जाता है, उस समयको पूर्णिमान्त काल कहते हैं ।

सर्वग्रास चन्द्र-ग्रहणका दृश्य

चन्द्रमाका विम्ब जलमय है, उसके जिस भागपर सूर्यकी किरणें पड़ती हैं, वह भाग तेजोयुक्त (उज्ज्वल) दीख पड़ता है । अतः उसके द्वारा रात्रिमें भी अन्धकारका निवारण होता है ।

ऊपर कहा गया है कि सूर्यसे ६ राशिपर पृथ्वीकी छाया धूमती है और चन्द्रमाके सूर्यसे ६ राशिपर पहुँचनेपर पूर्णिमा होती है; इसलिये जिस पूर्णिमामें चन्द्रमा पृथ्वीकी छायासे अगल-बगल होकर चला जाता है, उसमें चन्द्रग्रहण नहीं होता है । तथा जिस पूर्णिमामें चन्द्रमा पृथ्वीकी छायामें पड़ जाता है, उस समय उसपर सूर्यकी किरणें नहीं पड़ती हैं; अतः चन्द्रमा पूर्ण अदृश्य हो जाता है और वह ‘सर्वग्रास’ या ‘खग्रास’ ‘चन्द्रग्रहण’ कहलाता है । जिस पूर्णिमामें चन्द्रमाका कुछ ही भाग पृथ्वीकी छायामें पड़ता है, उस समय उतने ही भागके अदृश्य होनेके कारण उसे ‘खण्डग्रहण’ कहते हैं । इसीलिये चन्द्रग्रहण पूर्णिमाको ही होता है ।

(सूर्यग्रहण—) ऊपर बताया गया है कि चन्द्रमा पृथ्वी और सूर्यके बीचमें धूमता है और सूर्यके समीप एक दक्षिणोत्तर रेखामें पड़ता है, उस दिन चन्द्रमाके



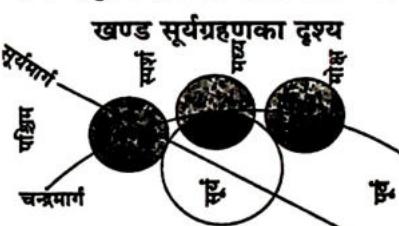
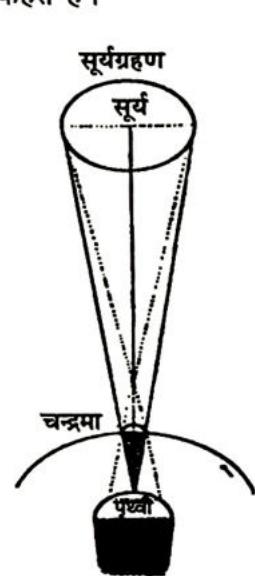
लब्धि-अङ्कु अङ्कुलादि 'शर' होता है ॥ १५० ३ ॥

सूर्यको चन्द्रमा और चन्द्रमाको भूभा (पृथ्वीकी छाया) छादित करती है। इसलिये सूर्यग्रहणमें सूर्य छाया और चन्द्रमा छादक तथा चन्द्रग्रहणमें चन्द्रमा छाया, भूभा छादक (ग्रहणकर्ता) है—ऐसा समझना चाहिये। अब छन्न (ग्रास) मान

कहते हैं—छाया और छेदकके विष्वमानका योग करके उसके आधेमें 'शर' घटानेसे 'छन्न' (ग्रास) मान होता है। यदि ग्रासमान ग्राह्य (छाया)-से अधिक हो तो उसमें छायाको घटाकर जो शेष बचे, उतना खच्छन्न (खग्रास) समझना चाहिये^१। मानैक्यार्थ (छाया-छादकके विष्व-योगार्थ)

ऊपरी भागमें सूर्यकी किरणें पड़ती हैं (नीचेके भागमें जिसे हम देखते हैं, नहीं)। यही कारण है कि अमावास्याके दिन हमें चन्द्रमाका दर्शन नहीं होता है। रात्रिमें सूर्यके साथ ही चन्द्रमा भी पृथ्वीके नीचे चला जाता है।

जिस अमावास्याको पृथ्वी और सूर्यके मध्यमें चन्द्रमा आ जाता है, उस दिन उससे आच्छादित होकर सूर्यका विष्व अदृश्य हो जाता है; ठीक उसी तरह, जैसे मेघोंके खण्डसे आवृत होनेपर वह अदृश्य होता है। इस प्रकार चन्द्रविष्वसे जब सूर्यका सम्पूर्ण या न्यूनाधिक भाव अदृश्य होता है तो क्रमशः उसे 'सर्वग्रास' या 'खण्ड सूर्यग्रहण'



अमावास्यामें चन्द्रमाकी छाया पृथ्वीकी ओर होती है, उस छायामें जो भूभाग पड़ता है, उसके लिये सम्पूर्ण सूर्य-विष्व अदृश्य हो जाता है, अतः वहाँ सर्वग्रास सूर्यग्रहण होता है; अन्यत्र खण्ड-ग्रास। चित्र देखिये।

पुराणोंमें जो सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहणमें राहु कारण बतलाया गया है, वह इस अभिप्रायसे है—अमृत-मन्थनके समय जब राहुका सिर काटकर अलग कर दिया गया, उस समय अमृत पीनेके कारण उसका मरण नहीं हुआ। वह एकसे दो हो गया। ब्रह्माजीने उन दोनोंमेंसे एक (राहु)-को चन्द्रमाकी छायामें और दूसरे (केतु)-को पृथ्वीकी छायामें रहनेके लिये स्थान दिया। अतः ग्रहण-समयमें राहु और केतु सूर्य और चन्द्रमाके समीप ही रहता है। अतः छायारूप राहु-केतुके द्वारा ही ग्रहणका वर्णन किया गया है।

१. मान लीजिये—पूर्णिमान्तकाल घट्यादि ४०। ४८ और उस समयका स्पष्ट सूर्य राश्यादि ८। ०। १२। ६, चन्द्रमा २। ०। १२। १ तथा राहु ७। २८। २३। १८ है तो स्पष्ट सूर्य ८। ०। १२। ६ में राहु ७। २८। २३। १८ को घटानेसे ०। १। ४८। ४८ व्यगु हुआ; यह ३ राशिसे कम है, अतः इसका भुजांश इतना ही अर्थात् १। ४८। ४८ हुआ। यह १४ अंशसे कम है, इसलिये ग्रहणकी सम्भावना निश्चित हुई। व्यगुके भुजांश १। ४८। ४८। को ११ से गुणा करके गुणनफल १९। ५६। ४८ में ७ का भाग देनेपर भागफल २। ५०। 'शर' हुआ। यह व्यगुके उत्तर गोलमें होनेके कारण उत्तर दिशाका हुआ।

यहाँ श्रीसनन्दन मुनिने चन्द्रादिके मध्यम विष्व प्रसिद्ध होनेसे स्पष्ट विष्वका साधन-प्रकार नहीं कहा है। अतः सरलतापूर्वक समझनेके लिये चन्द्र, रवि और भूभा (पृथ्वीकी छाया) के विष्व-साधनका प्रकार यहाँ दिखलाया जाता है।

गतिर्द्विजीशासाङ्गुलमुखतनुः स्यात् खररुचो
विधोर्भुक्तिवेदाद्रिभिरपहता विष्वमुदितम्।
नृपाश्वोना चान्द्रीगतिरपहता लोचनकरै—
रदाढ्या भूभा स्यादिनगतिनगांशेन रहिता ॥

(श्रीविश्वनाथ दैवज्ञ)

में शर जोड़कर १० से गुणा करे। फिर ग्रासमानसे गुणा करके गुणनफलका जो मूल हो उसमें अपना षष्ठांश घटाकर शेषमें चन्द्र-विम्बसे भाग देनेपर लब्धि-प्राप्त घटी आदिको स्थित्यर्थ^१ समझे। इस स्थित्यर्थको दो स्थानोंमें रखे। व्यगु (व्यग्वर्क—राहु घटाया हुआ सूर्य) यदि ६ या १२ राशिसे ऊ हो तो द्विगुणित व्यगु भुजांशतुल्य पलको प्रथम स्थानगत स्थित्यर्थमें घटावे और द्वितीय स्थानवालेमें जोड़े। यदि व्यगु ६ या १२ से अधिक हो तो विपरीत क्रमसे (प्रथम स्थानमें जोड़ने और द्वितीय स्थानमें घटानेसे) स्पर्श और मोक्षकालिक स्पष्ट स्थित्यर्थ होते हैं^२ ॥ १५१—१५४ ॥

ग्रासे नखाहते छाद्यमानासे स्युर्विशोपका: ।
पूर्णान्तं मध्यमत्र स्याद्दर्शान्तेऽङ्गं त्रिभोनकम् ॥ १५५ ॥
पृथक् तत्कान्त्यक्षभागसंस्कृतौ स्युर्नतांशका: ।
तद् द्विद्वयं शकृतिर्द्विंश्ची द्व्यूनार्धार्कियुता हरः ॥ १५६ ॥

त्रिभोनाङ्गार्कविश्लेषांशाशोनघ्नः पुरन्दराः ।
हरासा लम्बनं स्वर्ण वित्रिभेडकाधिकोनके ॥ १५७ ॥
विश्वध्वलम्बनकलाद्योनस्तु तिथिवद्व्यगुः ।
शरोऽतो लम्बनं षड्छं तल्लवाद्योनवित्रिभात् ॥ १५८ ॥
नतांशास्तद्वशांशोनघ्ना धृत्यस्तद्विवर्जितैः ।
साष्टदेलिसैः षड्भस्तु भक्ता नतिर्नतांशदिक् ॥ १५९ ॥
तयोनाढ्यो हि भिन्नैकदिक् शरः स्फुटतां ब्रजेत् ।
ततश्छन्नस्थितिदले साध्ये स्थित्यर्थषड्छतिः ॥ १६० ॥
अंशास्तैर्वित्रिभं द्विष्टं रहितं सहितं क्रमात् ।
विधाय ताभ्यां संसाध्ये लम्बने पूर्ववत्तयोः ॥ १६१ ॥
पूर्वोक्ते संस्कृते ताभ्यां स्थित्यर्थे भवतः स्फुटे ।
ताभ्यां हीनयुतो मध्यदर्शः कालौ मुखान्तगौ ॥ १६२ ॥

(ग्रहणका विंशोपक (बिस्वा) फल—)
अङ्गुलादि ग्रासमानको २० से गुणा करके गुणनफलमें अङ्गुलात्मक छाद्यमानसे भाग दे, जो लब्धि आवे, वह विंशोपक फल होता है^३ ।

‘सूर्यकी गतिको २ से गुणा करके गुणनफलमें ११ से भाग देनेपर जो लब्धि आवे, उतना ही सूर्यका अङ्गुलादि विम्बमान होता है तथा चन्द्रमाकी गतिकलामें ७४ से भाग देनेपर जो लब्धि हो, उतने अङ्गुलादि चन्द्रविम्बका मान होता है। चन्द्रमाकी गतिमें ७१६ घटाकर शेषमें २२ से भाग देनेपर लब्धिको ३२ में जोड़े; फिर उसमें सूर्यगतिके सप्तमांशको घटानेसे भूभा (पृथकीकी छाया) होती है।’

यथा—स्पष्ट सूर्यगति ६१। ११ और चन्द्रगति ८२४। ५ है तो उक्त रीतिसे सूर्यगतिके द्विगुणित १२२। २२ में ११ से भाग देनेपर भागफल ११। ७ सूर्यविम्ब हुआ। तथा चन्द्रगति ८२४। ५ में ७४ से भाग देनेपर भागफल ११। ८ चन्द्रविम्ब हुआ। चन्द्रगति ८२४। ५ में ७१६ घटाकर शेष १०८। ५ में २२ से भाग देनेपर लब्धि ४। ५५ में ३२ जोड़नेसे ३६। ५५ हुआ; इसमें सूर्यगति ६१। ११ का सप्तमांश ८। ४४ घटानेसे शेष २८। ११ भूभाका विम्ब हुआ। अब छाद्य (चन्द्र) और छादक (भूभा)-के विम्बके योग ११। ८+२८। ११=३९। १९ के आधे १९। ३९ में पूर्वसाधित शर २। ५० को घटानेसे शेष १६। ४९ ग्रासमान हुआ; यह छाद्य (चन्द्र) विम्बसे अधिक है, अतः इसमें चन्द्रविम्ब ११। ८ को घटानेसे शेष ५। ४९ खग्रास हुआ।

१. स्पर्शकालसे मोक्षकालका जो अन्तर है, उसे स्थिति कहते हैं। अतः उसका आधा मध्यम स्थित्यर्थ कहलाता है। स्पर्शकालसे मध्यकालतक स्पर्शस्थित्यर्थ और मध्यकालसे मोक्षकालतक मोक्षस्थित्यर्थ कहलाता है।

२. जैसे—छाद्य (चन्द्र) और छादक (भूभा)-के विम्बयोग ३९। १९ के आधे १९। ३९ में शर २। ५० को जोड़नेपर २२। २९ हुआ; इसको १० से गुणा करनेसे गुणनफल २२४। ५० को ग्रासमान १६। ४९ से गुणा करनेपर ३७८०। ५६। ५० हुआ। इसके मूल ६१। २९ में अपने ही षष्ठांश १०। १५ को घटानेपर शेष ५१। १४ में चन्द्रमाके विम्ब ११। ८ का भाग दिया तो लब्धि घट्यादि पल ४। ३६ स्थित्यर्थ हुआ।

व्यगुभुजांश १। ४८। ४८ को २ से गुणा करनेपर गुणनफल ३। ३७। ३६ पल अर्थात् स्वल्पान्तरसे ४ पल हुए। इन पलोंको व्यगु (राहु घटे हुए सूर्य)-के ०=१२ राशिसे अधिक होनेके कारण स्थित्यर्थ ४। ३६ में जोड़नेसे स्पर्शस्थित्यर्थ ४। ४० और स्थित्यर्थमें ४ पल घटानेसे ४। ३२ मोक्षस्थित्यर्थ हुआ।

३. जैसे—ग्रासमान १६। ४९ को २० से गुणा करनेपर गुणनफल ३३६। २० में छाद्यमान ११। ८ से भाग दिया तो लब्धि ग्रहणविंशोपक बल ३०। १३ हुआ। जब विंशोपक २० होता है तो ग्रहणका पुराणोक्त साधारण फल होता

(सूर्यग्रहणमें विशेष लम्बन-घटी-साधन—) पर्वान्तकालमें ग्रहणका मध्य होता है। सूर्यग्रहणमें दर्शान्त कालिक लग्न बनाकर उसमें तीन राशि घटानेसे 'वित्रिभ' या 'त्रिभोन' लग्न कहलाता है। उसको पृथक् रखकर उसकी क्रान्ति और अक्षांशके संस्कार (एक दिशामें योग, भिन्न दिशामें अन्तर) करनेसे 'नतांश' होता है। उसका २२ वाँ भाग करके वर्ग करना चाहिये। यदि २ से कम हो तो उसीमें, यदि २ से अधिक हो जाय तो २ घटाकर शेषके आधेको उसी (वर्ग)-में जोड़कर पुनः १२ में जोड़नेसे 'हार' होता है। 'त्रिभोन' लग्न और सूर्यके अन्तरांशके दशमांशको १४ में घटाकर शेषको उसी दशमांशसे गुणा करे। उसमें पूर्वसाधित हारसे भाग देनेपर लब्धितुल्य घट्यादि लम्बन होता है। यह (लम्बन) यदि वित्रिभ सूर्यसे अधिक हो तो धन, अल्प हो तो ऋण होता है। अर्थात् साधित दर्शान्तकालमें इस लम्बनको जोड़ने-घटानेसे पृष्ठस्थानीय दर्शान्तकाल होता है॥ १५५—१५७॥

घट्यादि लम्बनको १३ से गुणा करनेपर गुणनफल कलादि होता है। उसको व्यावर्कमें जोड़ या घटाकर 'शर' बनावे तो (पृष्ठीय

है। यदि विंशोपक २० से कम हो तो कथित फल बलके अनुसार अल्प और २० से अधिक हो तो कथित फल अधिक होता है।

१. उदाहरण—जहाँ दक्षिण अक्षांश २५। २६। ४२, स्पष्ट दर्शान्तकाल घटी-पल १३। ४, दर्शान्तकालिक स्पष्ट सूर्य ८। ५। २६। २५, स्पष्ट चन्द्रमा ८। ५। २६। २०, राहु २। ११। ४१। १८, स्पष्ट सूर्यगति ६। १५ और स्पष्ट चन्द्रगति ७। २६। ३० है तो उक्त घटी-पलको इष्ट मानकर लग्न बनानेसे ११। २। ४६। १७ लग्न हुआ। इसमें ३ राशि घटानेपर त्रिभोन लग्न (वित्रिभ) ८। २। ४६। १७ हुआ। पूर्वोक्त रीतिके अनुसार साधन करनेपर इसकी क्रान्ति २३। ३८। १० हुई; यह वित्रिभके दक्षिण गोलमें होनेके कारण दक्षिण दिशाकी हुई। अतः इसको दक्षिण दिशाके अक्षांश २५। २६। ४२ में जोड़नेपर ४९। ४। ५२ नतांश हुए। उक्त नतांशके २२ वें भाग २। १३। ५१ का वर्ग करनेपर ४। ५८ हुआ, यह २ से अधिक है, इसलिये इसमें २ को घटानेपर शेष २। ५८ हुआ। इसके आधे १। २९ को उसी वर्ग ४। ५८ में जोड़नेसे ६। २७ हुआ। इसे १२ में जोड़नेपर १८। २७ 'हार' हुआ। तथा वित्रिभ लग्न ८। २। ४६। १७ और सूर्य ८। ५। २६। २५ के अन्तरांश २। ४०। ८ का दशमांश ०। १६ हुआ। इसको १४ में घटानेपर शेष १३। ४४ रहा। इसको उसी दशमांश ०। १६ से गुणा करनेपर गुणनफल ३। ३९ हुआ। इसमें हार १८। २७ का भाग देनेपर भागफल ०। ११ हुआ; यह (ग्यारह पल) लम्बन हुआ। सूर्यसे वित्रिभ अल्प होनेके कारण दर्शान्त घटी १३। ४ में इस लम्बन ११ पलको घटानेसे पृष्ठस्थानीय घट्यादि दर्शान्तकाल १२। ५३ हुआ।

अब घट्यादि ०। ११ लम्बनको १३ से गुणा किया तो गुणनफल २। २३ कलादि हुआ। उक्त लम्बनके ऋण होनेके कारण सूर्य ८। ५। २६। २५ में राहु २। ११। ४१। १८ का अन्तर करनेसे व्यावर्क ५। २३। ४५। ७ हुआ।

दर्शान्तकालिक) शर (स्पष्ट) होता है। तथा घट्यादि लम्बनको ६ से गुणा करके गुणनफलको अंशादि मानकर वित्रिभमें जोड़ या घटाकर नतांश-साधन करे। नतांशके दशमांशको १८ में घटाकर शेषको उसी दशमांशसे गुणा करे; गुणनफलको ६ अंश १८ कलामें घटाकर जो शेष बचे, उससे गुणनफलमें ही भाग देनेसे लब्धि अङ्गुलादि नतांशकी दिशाकी ही नति होती है। इस नति और पूर्व साधित शर दोनोंके संस्कार (भिन्न दिशा हो तो अन्तर, एक दिशा हो तो योग)-से स्पष्ट शर होता है। सूर्यग्रहणमें उसी शरसे और स्थित्यर्थ बनावे। स्थित्यर्थको ६ से गुणा करके अंशादि गुणनफलको वित्रिभमें घटावे और दूसरे स्थानमें जोड़े। इन दोनों परसे पूर्वविधिसे पृथक् लम्बनसाधन करके क्रमशः पूर्वविधिसे साधित स्पर्श और मोक्षकालमें संस्कार करनेसे स्पष्ट पृष्ठस्थानीय स्पर्श और मोक्षकाल होते हैं॥ १५८—१६२॥

अर्का घना विश्व ईशा नवपञ्चदशांशकाः।

कालांशास्तैरुनयुक्ते रवौ ह्यस्तोदयौ विधोः॥ १६३॥

दृष्ट्वा ह्यादौ खेटविष्वं दृगौच्यं लम्बमेक्ष्य च।

तल्लम्बपातविम्बान्तर्दूगौच्यासरविघ्नभा ॥ १६४ ॥

(ग्रहोंके उदयास्तकालांश—) १२, १७, १३, ११, ९, १५ ये क्रमसे चन्द्र, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र और शनिके कालांश हैं। अपने-अपने कालांशतुल्य सूर्यसे पीछे ग्रह होते हैं तो अस्त और कालांशतुल्य सूर्यसे आगे होते हैं तो उदय

होता है। (अर्थात् ग्रह अपने-अपने कालांशके भीतर सूर्यसे पीछे या आगे जबतक रहते हैं, तबतक सूर्य सान्निध्यवश अस्त (अदृश्य) रहते हैं) ॥ १६३ ॥

(ग्रहोंके प्रतिविम्बद्वारा छायासाधन—) सम भूमिमें रखे हुए दर्पण आदिमें ग्रहोंके प्रतिविम्बको

इसमें २। २३ कलादिको घटानेपर ५। २३। ४२। ४४ पृष्ठस्थानीय व्यग्वर्क हुआ। इसको ६ राशिमें घटानेपर शेष ०। ६। १७। १६ यही भुजांश हुआ। इसको पूर्वोक्त शर-साधन-विधिके अनुसार ११ से गुणा करके ७ का भाग देनेपर लब्ध अङ्गुलादि ९। ५२ शर हुआ। यह व्यगुके उत्तर गोलमें (६ राशिसे कम) होनेके कारण उत्तर दिशाका हुआ।

फिर लम्बन ०। ११ को ६ से गुणा करनेपर गुणनफल अंशादि १। ६ को (ऋणलम्बन होनेके कारण) वित्रिभ लग्र ८। २। ४६। १७ में घटानेपर ८। १। ४०। १७ हुआ। इससे क्रान्ति-साधन-विधिके अनुसार दक्षिण दिशाकी क्रान्ति २३। ३४। ३५। हुई। इसको दक्षिण दिशाके अक्षांश २५। २६। ४२ में जोड़नेसे ४९। १। १७ दक्षिण दिशाका पृष्ठस्थानीय (स्पष्ट) नतांश हुआ। इस नतांशमें १० का भाग देनेपर लब्ध कलादि ४। ५४ को १८ घटानेसे शेष १३। ६ रहा। इसको उत्तर दशमांश ४। ५४ से ही गुणा करनेपर ६४। ११ कलादि हुआ; इसके अंश १। ४। ११ को ६ अंश १८ कलामें घटानेपर ५। १३। ४९ हुआ। इससे उपर्युक्त गुणनफल ६४। ११ में भाग देनेपर लब्ध १२। १८ अङ्गुलादि नति हुई। दक्षिण नतांश होनेके कारण इसकी दिशा दक्षिण हुई और पूर्वसाधित अङ्गुलादि शर ९। ५२ यह उत्तर दिशाका है; अतः भिन्न दिशा होनेके कारण दोनोंका अन्तर २। २६ अङ्गुलादि स्पष्ट शर हुआ। इस स्पष्ट शरके द्वारा चन्द्रग्रहणकी भाँति ग्रासमान आदि साधन करनेके लिये सूर्यस्पष्ट गति ६१। १५ को २ से गुणा कर गुणनफलमें ११ का भाग देनेपर सूर्यविम्ब ११। ८ हुआ और चन्द्रस्पष्ट गति ७२६। ३० में ७४ का भाग देनेपर चन्द्रविम्ब ९। ४९ हुआ। इन दोनोंका योगका आधा किया तो १०। २८ हुआ, उसमें स्पष्ट शर २। २६ को घटानेपर शेष अङ्गुलादि ८। २ यह ग्रासमान हुआ।

अब स्थिति-घटी-साधन करनेके लिये सूर्य और चन्द्रके विम्बयोगार्थ १०। २८ में स्पष्ट शर २। २६ को जोड़नेपर योगफल १२। ५४ हुआ। इसको १० से गुणा करनेपर गुणनफल १२९। ० को ग्रासमान ८। २ से गुणा किया तो गुणनफल १०३६। १८ हुआ। इसके मूल ३२। ११ में इसीके षष्ठांश ५। २२ को घटानेपर शेष २६। ४९ में चन्द्रविम्ब ९। ४९ का भाग देनेपर लब्ध घट्यादि २। ४४ स्थिति-घटी हुई।

अब स्थिति-घटी २। ४४ को ६ से गुणा करके गुणनफल अंशादि १६। २४ को वित्रिभ लग्र ८। २। ४६। १७ में घटानेसे ७। १६। २२। १७ स्पर्शकालिक वित्रिभ हुआ। तथा दर्शान्तकालकी गति ६१। १५ को स्थिति-घटी २। ४४ द्वारा गुणा करके गुणनफल १६७ में ६० का भाग देनेपर लब्ध २। ४७ को सूर्य ८। ५। २६। २५ में घटानेपर स्पर्शकालिक सूर्य ८। ५। २३। ३८ हुआ। इन स्पर्शकालिक सूर्य और वित्रिभ लग्रके द्वारा पूर्वदर्शित विधिसे स्पर्शकालिक ऋणलम्बन १। १७ घट्यादि हुआ।

इसी प्रकार स्थिति-घटी २। ४४ को ६ से गुणा करनेपर अंशादि फल १६। २४ को वित्रिभ लग्र ८। २। ४६। १७ में जोड़नेसे मोक्षकालिक वित्रिभ लग्र ८। १९। १०। १७ हुआ। एवं सूर्यगति ६१। १५ को स्थिति-घटी २। ४४ से गुणा कर गुणनफल १६७ में ६० का भाग देनेपर भागफल २। ४७ को सूर्य ८। ५। २६। २५ में जोड़नेसे मोक्षकालिक स्पष्ट सूर्य ८। ५। २९। २२ हुआ। इन दोनों (वित्रिभ और सूर्य) के द्वारा पूर्वकथित विधिसे मोक्षकालिक धनलम्बन (सूर्यसे वित्रिभ अधिक होनेके कारण) घट्यादि ०। ५६ हुआ।

अब दर्शान्तकाल १३। ४ में स्थिति-घटी २। ४४ को घटानेसे १०। २० मध्यमस्पर्शकाल हुआ, इसमें स्पर्शकालिक ऋणलम्बन १। १७ को घटानेसे ९। ३ स्पष्ट (भूपृष्ठस्थानीय) स्पर्शकाल हुआ तथा दर्शान्तकालमें स्थिति-घटी जोड़नेपर मध्यम दर्शान्तकाल १५। ४८ हुआ। एवं इसमें मोक्षकालिक धनलम्बन ०। ५६ जोड़नेपर १६। ४४ स्पष्ट मोक्षकाल हुआ।

देखकर दृष्टिस्थानसे भूमिपर्यन्त लम्ब पातकर दृष्टिकी ऊँचाईका मान समझे। लम्बमूल और प्रतिबिम्बके अन्तर-प्रमाणको दृष्टिकी ऊँचाईसे भाग देकर लब्धिको १२ से गुणा करनेपर उस समय उस ग्रहकी छायाका प्रमाण होता है ॥ १६४ ॥
अस्ते सावयवा ज्ञेया गतैष्वास्तिथयो बुधैः ।
शरेन्द्रासोत्तराशा सा संस्कृतार्कापमैर्विधोः ॥ १६५ ॥
षोडशग्रन्थिर्हीना स्वघ्रन्थिथ्याक्षभाहता ।
व्यस्तेषु क्रान्तिभागैश्च द्विघ्रन्थिथ्या हृता स्फुटम् ॥ १६६ ॥
संस्कारदिक्कं वलनमङ्गुलाद्यं प्रजायते ।
स्वेष्वंशोनाः सितं तिथ्यो वलनाशोन्नतं विधोः ॥ १६७ ॥
शृङ्गमन्यन्नतं वाच्यं वलनाङ्गुललेखनात् ।

(चन्द्रशृङ्गोन्नति-ज्ञान—) सूर्यास्त-समयमें सावयव गत और एष्य तिथिका साधन करे। उस सावयव तिथिको १६ से गुणा करके उसमें तिथिके वर्गको घटाकर शेषको स्वदेशीय पलभासे गुणा करे। गुणनफलमें १५ से भाग देकर लब्धि (फल)-की दिशा उत्तर समझे। उसमें सूर्यकी क्रान्तिका यथोक्त संस्कार (एक दिशामें योग, भिन्न दिशामें अन्तर) करे। तथा चन्द्रमाके शर और क्रान्तिका विपरीत संस्कार करके जो फल हो उसमें द्विगुणित तिथिसे भाग देनेपर जितनी

लब्धि हो, उतना अङ्गुल संस्कार-दिशाका वलन होता है। चन्द्रमासे जिस दिशामें सूर्य रहता है, वही संस्कारकी दिशा समझी जाती है। तिथिमें अपना पञ्चमांश घटानेसे शुक्ल (चन्द्रके श्वेत भाग)-का अङ्गुलादि मान होता है। वलनकी जो दिशा होती है, उस दिशाका चन्द्रशृङ्ग उत्तर और अन्य दिशामें नत होता है। तदनुसार परिलेख करना चाहिये ॥ १६५—१६७ ३ ॥
पञ्चत्वंगाङ्गवशिखाः कर्णशेषहताः पृथक् ॥ १६८ ॥
प्रकृत्यार्काङ्गसिद्धाग्निभक्ताः लब्धोनसंयुताः ।
त्रिज्याधिकोने श्रवणे वपूषि त्रिहताः कुजात् ॥ १६९ ॥
ऋज्वोरनृज्वोर्विवरं गत्यन्तरविभाजितम् ।
वक्रज्वोर्गतियोगासं गम्येऽतीते दिनादिकम् ॥ १७० ॥
स्वनत्या संस्कृतौ स्वेषु दिक्साम्येऽन्येऽन्तरं युतिः ।
याम्योदक्खेटविवरं मानैक्यार्थाल्पकं यदा ॥ १७१ ॥
तदा भेदो लम्बनाद्यं स्फुटार्थं सूर्यपर्वत् ।

(ग्रहयुति-ज्ञानार्थ मङ्गलादि पाँच ग्रहोंके विष्वसाधन—) मङ्गलादिके ५, ६, ७, ९, ५ इन मध्यमविष्वमानोंको क्रमसे मङ्गलादि ग्रहोंके कर्णशेष (त्रिज्या और अपने-अपने शीघ्र कर्णके अन्तर) -से गुणा करके गुणनफलको २ स्थानोंमें रखे। एक स्थानमें क्रमसे मङ्गलादि ग्रहके २,

१. उदाहरण—यदि समभूमिसे लम्बमान (दृष्टिकी ऊँचाई) ७२ अङ्गुल और द्रष्टा तथा प्रतिविष्वका अन्तर भूमिमान ९६ अङ्गुल है, तो उक्त रीतिके अनुसार भूमिमान ९६ को दृष्टिकी ऊँचाई ७२ से भाग देकर १२ से गुणा करनेपर $\frac{96 \times 12}{72} = 16$ अङ्गुल छायाप्रमाण हुआ।

इस प्रकार रात्रिमें मङ्गलादि ग्रहोंकी छायाका प्रमाण समझा जाता है, जो ग्रहयुति आदिमें उपयुक्त होती है।

२. उदाहरण—शुक्लपक्षकी द्वितीयामें सायंकालिक चन्द्रमाकी शृङ्गोन्नति जानेके लिये मान लीजिये उस समयकी सावयव (घड़ीसहित) तिथि २। ३०, सूर्यकी उत्तरक्रान्ति १०, चन्द्रमाका उत्तर शर ५ और चन्द्रमाकी उत्तर क्रान्ति ६ हो तो कथित रीतिसे सावयव तिथि २। ३० को १६ से गुणा कर गुणनफल ४० में सावयव तिथिके वर्ग ६। १५ को घटानेसे शेष ३३। ४५ रहा; इसको पलभा ६ से गुणा कर गुणनफल २०२। ३० में १५ से भाग देनेपर लब्धि १३। ३० यह उत्तर दिशाका फल हुआ। इसमें सूर्यकी उत्तरक्रान्ति १० (एक दिशा होनेके कारण) जोड़नेसे २३। ३० हुआ। तथा (एक दिशा होनेके कारण) चन्द्रमाके उत्तर शर ५ और उत्तरक्रान्ति ६ इन दोनोंके योग ११ को उत्तर दिशाके फल १३। ३० में विपरीत संस्कार करने (घटाने)-से शेष २। ३० रहा। इसमें द्विगुणित तिथि २। ३०×२=५ से भाग देनेपर लब्धि अङ्गुलादि ०। ३० स्पष्ट वलन हुआ; यह चन्द्रमासे सूर्यकी दक्षिण दिशामें होनेके कारण दक्षिण दिशाका हुआ। एवं सावयव तिथि २। ३० में अपना पञ्चमांश ०। ३० घटानेसे २। ० अङ्गुलादि शुक्लमान हुआ। इस प्रकार उस दिन दक्षिण दिशाका चन्द्रशृङ्ग उत्तर हुआ।

१२, ६, २४ और ३ का भाग देकर लब्धिको द्वितीय स्थानमें स्थित गुणनफलमें, यदि कर्ण त्रिज्यासे^१ अधिक हो तो घटावे, यदि त्रिज्यासे अल्प हो तो जोड़े, फिर उसमें ३ से भाग देनेपर क्रमशः मङ्गलादि ग्रहोंके विम्ब-प्रमाण होते हैं^२।

(ग्रहोंकी युतिके गत-गम्य दिन-साधन—) जिन दो ग्रहोंके युतिकालका ज्ञान करना हो, वे दोनों मार्गी हों, अथवा दोनों वक्री हों तो दोनों ग्रहोंकी अन्तर-कलामें दोनोंकी गत्यन्तर-कलासे भाग देना चाहिये। यदि एक वक्र और एक मार्गी हो तो दोनोंकी गति-योगकलासे भाग देना चाहिये। फिर जो लब्धि आवे, वह ग्रहयुतिके गत या गम्य दिनादि है।^३

(ग्रहोंकी युतिमें भेद-ज्ञान—) जिन दो ग्रहोंकी युति होती हो, उन दोनोंके अपनी-अपनी नतिसे संस्कृत शर (भूपृष्ठस्थानाभिप्रायिक शर) एक दिशाके हों तो अन्तर, यदि भिन्न दिशाके हों तो योग करनेसे दोनों ग्रहोंका अन्तर (दक्षिणोत्तरान्तर) होता है। यह अन्तर यदि दोनोंके विम्बमान-योगार्धसे अल्प हो तो उनके योगमें भेद (एकसे दूसरा आच्छादित) होता है। इसलिये इनमें नीचेवालेको छादक और ऊपरवालेको छाद्य

मानकर सूर्यग्रहणके समान ही लम्बन, ग्रासमान आदि साधन करना चाहिये^४ ॥ १६८—१७१^५ ॥ एकायनगतौ स्यातां सूर्याचन्द्रमसौ यदा। तद्वुते मण्डले क्रान्त्योस्तुल्यत्वे वैद्युताभिधः ॥ १७२ ॥ विपरीतायनगतौ चन्द्राकौं क्रान्तिलिसिकाः। समास्तदा व्यतीपातो भगणाद्दें तयोर्युतौ ॥ १७३ ॥ भास्करेन्द्रोर्भवक्रान्तश्वकार्थाविधि संस्थयोः। दृक्तुल्यसाधितांशादियुक्तयोः स्वावपक्रमौ ॥ १७४ ॥ अथौजपदग्रस्येन्दोः क्रान्तिर्विक्षेपसंस्कृता। यदि स्यादधिका भानोः क्रान्तेः पातो गतस्तदा ॥ १७५ ॥ न्यूना चेत्यात्तदा भावी वामं युग्मपदस्य च। पदान्यत्वं विधोः क्रान्तिर्विक्षेपाच्चेद् विशुद्ध्यति ॥ १७६ ॥ क्रान्त्योर्ज्ये त्रिज्ययाभ्यस्ते परमापक्रमोद्भूते। तच्चापातरमद्धृं वा योज्यं भाविनि शीतगौ ॥ १७७ ॥ शोध्यं चन्द्राद्भूते पाते तत्सूर्यगतिताडितम्। चन्द्रभुक्त्या हृतं भानौ लिसादि शशिवत्कलम् ॥ १७८ ॥ तद्वच्छशाङ्कपातस्य फलं देयं विपर्ययात्। कर्मेतदसकृत्तावत्क्रान्ती यावत्समे तयोः ॥ १७९ ॥

(पाताधिकार—पातकी संज्ञा—) जब सूर्य और चन्द्रमा दोनों एक ही अयन (याम्यायन—दक्षिणायन अथवा सौम्यायन—उत्तरायण) -में हों तथा उन दोनोंके राश्यादि योग १२ राशि हो तो

१. यहाँ त्रिज्याका प्रमाण ११ ग्रहण करना चाहिये।

२. जैसे—यदि मङ्गलका शीघ्रकर्ण १३ है तो त्रिज्या ११ और कर्ण १३ के अन्तर २ से मङ्गलके मध्यम विम्बमान ५ को गुणा करनेपर १० हुआ; इसमें २१ का भाग देकर भागफल ० । २९ को (त्रिज्यासे कर्णके अधिक होनेके कारण) गुणनफल १० में घटानेपर शेष ९ । ३१ में ३ का भाग दिया तो फल अङ्गुलादि ३ । १० मङ्गलका स्पष्ट विम्बमान हुआ। इसी प्रकार अन्य ग्रहोंका भी जान लेना चाहिये।

३. जैसे—मङ्गल और शुक्रका युतिसमय जानना है तो कल्पना कीजिये कि उस दिन स्पष्ट मङ्गल ७ । १५ । २० । २५, मङ्गलकी स्पष्ट गति ४० । १२, स्पष्ट शुक्र ७ । १० । ३० । २५ तथा शुक्रकी स्पष्ट गति ७० । १२ है तो यहाँ शीघ्र (अधिक) गतिवाला शुक्र मङ्गलसे अल्प (पीछे) है, अतः दोनोंकी युति भावी है—ऐसा निश्चित हुआ। ये दोनों मार्गी हों तो उक्त रीतिसे मङ्गल ७ । १५ । २० । २५ में शुक्र ७ । १० । ३० । २५ को घटाकर शेष ० । ४ । ५ कलामें शुक्रगति ७० । १२ और मङ्गलगति ४० । १२ के अन्तर ३० गत्यन्तर-कलासे भाग देनेपर लब्धि ० । ९ । ४० गम्य दिनादि हुई अर्थात् इतने समयके बाद योग होनेवाला है।

४. जब दो ग्रहोंके क्रान्तिवृत्तमें एक ही समान (पूर्वापर अन्तरका अभाव) होता है, तब उन दोनोंकी युति (योग) समझी जाती है। ग्रहोंके इस प्रकार परस्पर योगसे शुभाशुभ फल संहितास्कन्धमें कहा गया है। इसीलिये ग्रहयुति-समयका ज्ञान आवश्यक है।

उस स्थितिमें दोनोंके क्रान्तिसाम्य होनेपर वैधृति नामका पात कहलाता है। तथा जब दोनों भिन्न (पृथक्-पृथक्) अयनमें हों और दोनोंका योग ६ राशि हो तो उस स्थितिमें दोनोंके क्रान्तिसाम्य होनेपर व्यतीपात नामक पात होता है।

जब सूर्य-चन्द्रका अन्तर चक्र (०) या ६ राशि हो, उस समयमें तात्कालिक अयनांशादिसे युक्त सूर्य और चन्द्रमाकी अपनी-अपनी क्रान्तिका साधन करे। यदि शर-संस्कृत चन्द्रमाकी क्रान्ति (स्पष्ट क्रान्ति) तात्कालिक सूर्यकी क्रान्तिसे अधिक हो तथा चन्द्रमा यदि विषम पदमें हो तो पातकालको गत (बीता हुआ) समझना चाहिये। यदि विषमपदस्थ चन्द्रमाकी शर-संस्कृत क्रान्तिसे अल्प हो तो पातकालको भावी (होनेवाला) समझना चाहिये। यदि चन्द्रमा समपदमें हो तो इससे विपरीत (सूर्यकी क्रान्तिसे चन्द्रमाकी स्पष्ट क्रान्ति अधिक हो तो भावी, अल्प हो तो गत) पातकाल समझे। यदि स्पष्ट क्रान्ति बनानेमें चन्द्रमाके शरमें क्रान्ति घटायी जाय तो इस स्थितिमें चन्द्रमा-के विम्ब और स्थानमें पदकी भिन्नता होती है।

(स्फुट-क्रान्ति-साम्य-ज्ञान-प्रकार—) सूर्य और चन्द्रमा दोनोंकी 'क्रान्तिज्या' को त्रिज्यासे गुणा करके उसमें परम क्रान्तिज्यासे भाग देकर जो लब्धियाँ हों, उन दोनोंके चाप बनाये। उन दोनों चापोंका जो अन्तर हो उसको सम्पूर्ण या अर्ध (कुछ न्यून) करके गम्य पात हो तो चन्द्रमामें जोड़े; गतपात हो तो घटावे। पुनः उपर्युक्त चापके अन्तर या उसके खण्डको सूर्यकी गतिसे गुणा करके गुणनफलमें चन्द्रगतिसे भाग देकर जो लब्धि (कलादि) हो, उसको चन्द्रमाके समान ही सूर्यमें संस्कार करे (गम्यपात हो तो जोड़े, गतपात हो तो घटावे)। इसी प्रकार (सूर्य फलवत्-उक्त चापान्तरको चन्द्रपातकी गतिसे गुणा करके उसमें चन्द्रगतिसे भाग देकर) लब्धिरूप चन्द्रपातके कलादि फलको चन्द्रपात (राहु)-में विपरीत संस्कार करे (गत-पातमें जोड़े, गम्य पातमें घटावे) तो पातकालासन्न समयके सूर्य, चन्द्रमा और चन्द्रपात होते हैं। फिर इन तीनों (रवि, चन्द्र और चन्द्रपात) के द्वारा उपर्युक्त क्रियाको तबतक बार-बार करता रहे जबतक दोनोंकी क्रान्ति सम न हो जाय* ॥१७२—१७९ ॥

* यदि सायन सूर्य ५। २६। ४०। ० सायन चन्द्र ०। २। ५। ०, पात (राहु) ०। ५। २५। ०, सूर्यगति ६०। १५, चन्द्रगति ७८३। १५ और राहु-गति ३। ११ है तो चन्द्र ०। २। ५। ० और पात ०। ५। २५। ० के योग ०। ७। ३० सपातचन्द्रकी भुजकला ४५० की ज्या ४४९ हुई। इसको चन्द्रमाके परम शर २७० से गुणा कर गुणनफल १२१२३० में त्रिज्या ३४३८से भाग देनेपर लब्धि चन्द्रमाकी शरकला ३६ हुई; इसका चाप भी इतना ही हुआ। केवल चन्द्रमा ०। २। ५। ० की भुजज्या १२५ कलाको परमक्रान्तिज्या १३९७ से गुणा कर गुणनफल १७४६२५ में त्रिज्या ३४३८ का भाग देनेपर लब्धि ५० चन्द्रमाकी क्रान्तिज्या हुई; इसका चाप भी इतना ही हुआ। अतः चन्द्रमाके शर ३६ क्रान्ति ५० का योग करनेसे ८६ चन्द्रमाकी स्पष्ट क्रान्ति हुई।

तथा राश्यादि सूर्य ५। २६। ४०। ० को ६ राशिमें घटानेमें भुज ०। ३। २०। ० की कला २०० की ज्या इतनी ही हुई। इसको परमक्रान्तिज्या १३९७ से गुणा कर गुणनफल २७९४०० में त्रिज्या ३४३८ का भाग देनेपर लब्धि ८१ सूर्यकी क्रान्तिज्या हुई; इसका चाप भी इतना ही होनेके कारण यही सूर्यकी क्रान्ति हुई।

सूर्यकी क्रान्तिसे विषम (प्रथम) पदस्थित चन्द्रमाकी क्रान्ति अधिक है, इसलिये यहाँ गतपात निश्चित हुआ तथा सूर्य और चन्द्रमाके भिन्न अयन (चन्द्रमाके उत्तरायण और सूर्यके दक्षिणायन)-में होने एवं दोनोंके राश्यादियोग ६ राशि होनेके कारण इस क्रान्तिसाम्यका नाम व्यतीपात हुआ।

अब, चन्द्र-क्रान्तिज्या ८६ को त्रिज्या ३४३८ से गुणा कर गुणनफल २९५६६८ में परमक्रान्तिज्या १३९७ का भाग देनेपर लब्धि २११ चन्द्रमाकी भुजज्या हुई; इसका चाप भी स्वल्पान्तरसे इतना ही हुआ। एवं सूर्यकी क्रान्तिज्या ८१ को त्रिज्या ३४३८ से गुणा कर गुणनफल २०४७८ में परमक्रान्तिज्या १३९७ का भाग देनेपर लब्धि सूर्यकी भुजज्या १९२ हुई; इसका चाप भी इतना ही हुआ।

**क्रान्त्योः समत्वे पातोऽथ प्रक्षिप्तांशोनिते विधौ।
हीनेऽद्वृरात्रिकाद्यातो भावी तत्कालिकेऽधिके॥ १८० ॥**
**स्थिरीकृताद्वृत्रात्रे न्दोद्वृयोर्विवरलिपिकाः ।
षष्ठिष्व्यश्चन्द्रभुक्त्यासाः पातकालस्य नाडिकाः॥ १८१ ॥**

इस प्रकार क्रान्ति-साम्य होनेपर पात समझना चाहिये। यदि उपर्युक्त क्रियाद्वारा प्राप्त अंशादिसे युक्त या हीन किया हुआ चन्द्रमा अर्धरात्रिकालिक साधित चन्द्रमासे अल्प (पीछे) हो तो पातकालको 'गत' समझे और यदि अधिक (आगे) हो तो पातकालको भावी समझे।

(अर्धरात्रिसे गत, गम्य पातकालका ज्ञान—)
उपर्युक्त क्रियाद्वारा स्थिरीकृत (पातकालिक) चन्द्रमा और अर्धरात्रिकालिक चन्द्रमा जो हों—इन दोनोंकी अन्तरकलाको ६० से गुणा करके गुणनफलमें चन्द्रकी गति-कलासे भाग देनेपर जो लब्धि हो, उतनी घटी अर्धरात्रिसे पीछे या आगे (गत पातमें

पीछे, गम्य पातमें आगे) तक पातकालकी घड़ी समझी जाती है*॥ १८०-१८१ ॥
**रवीन्द्रोर्मानयोगाद्वृष्ट्यासंगुण्य भाजयेत् ।
तयोर्भुक्त्यन्तरेणासं स्थित्यर्थं नाडिकादि तत्॥ १८२ ॥**
**पातकालः स्फुटो मध्यः सोऽपि स्थित्यद्वृवर्जितः ।
तस्य सम्भवकालः स्यात्तत्संयुक्तोऽन्त्यसंज्ञितः॥ १८३ ॥**
**आद्यन्तकालयोर्मध्यः कालोऽन्तिदारुणः ।
प्रज्वलज्ज्वलनाकारः सर्वकर्मसु गर्हितः॥ १८४ ॥**
**इत्येतद्विषये किञ्चित्प्रोक्तं संक्षेपतो द्विज ।
जातकं वच्चि समयाद्वाशिसंज्ञापुरःसरम्॥ १८५ ॥**
(पातके स्थितिकाल, आरम्भ तथा अन्तकालका साधन—) सूर्य तथा चन्द्रमाके विम्बयोगार्थको ६० से गुणा करके गुणनफलमें सूर्य-चन्द्रकी गत्यन्तरकलासे भाग देकर जो लब्धि हो वह पातकी स्थित्यर्थ घड़ी होती है। इसको पातके स्पष्ट मध्यकालमें घटानेसे पातका आरम्भकाल

सूर्य और चन्द्रमाके चापोंका अन्तर करनेसे (२११—१९२=) १९ कला हुई। इसके आधे (स्वल्पान्तरसे) १० को मध्यरात्रिकालिक चन्द्रमा ०। २। ५। ० में घटानेसे पातासन्नकालिक चन्द्रमा ०। १। ५५। ० हुआ। तथा उसी अन्तरार्धकला १० को सूर्यकी गति ६०। १५ से गुणा कर गुणनफल ६०२। ३० में चन्द्रगति ७८३। १५ का भाग देनेपर लब्धिफल १ कलाको मध्यरात्रिकालिक सूर्य ५। २६। ४० में घटानेसे ५। २६। ३९ हुआ। एवं उसी अन्तरार्धकला १० को राहुकी गति ३। ११ से गुणा कर गुणनफल ३१। ५० में चन्द्रगति ७८३। १५ का भाग देनेपर लब्धि ० हुई। इसका विपरीत संस्कार करनेपर भी मध्यरात्रिकालिक राहुके तुल्य ही तत्कालीन राहु ०। ५। २५ हुआ।

अब, पातासन्नकालिक चन्द्र ०। १। ५५। ०, सूर्य ५। २६। ३९। ० और राहु ०। ५। २५। ० रहे। इनके द्वारा पुनः क्रान्ति-साधन किया जाता है। चन्द्रमा ०। १। ५५। ० की भुजज्या ११५ को परमक्रान्तिज्या १३१७ से गुणा कर गुणनफल १६०६५५ में त्रिज्या ३४३८ का भाग देनेपर लब्धि ४६ चन्द्रक्रान्तिज्या हुई; इसका चाप भी इतना ही हुआ। तथा चन्द्र ०। १। ५५। ० और राहु ०। ५। २५। ० का योग करनेसे सपातचन्द्र ०। ७। २० की भुजज्या ४४० को चन्द्रके परमशर २७० से गुणा कर गुणनफल ११८८०० में त्रिज्या ३४३८ का भाग देनेपर लब्धि (स्वल्पान्तरसे) ३५ चन्द्रशरज्या हुई; इसका चाप बनानेसे इतना ही चन्द्रशर हुआ। चन्द्रशर ३५ को चन्द्रक्रान्ति ४६ में जोड़नेसे ८१ कला हुई, इसका अंश बनानेसे १। २१ चन्द्रमाकी स्पष्टक्रान्ति हुई। एवं तत्कालीन सूर्य ५। २६। ३९ की भुजज्या २०१ को परमक्रान्तिज्या १३१७ से गुणा कर गुणनफल २८०७९७ में त्रिज्या ३४३८ का भाग देनेपर लब्धि ८१ सूर्यकी क्रान्तिज्या हुई; इसका चाप भी इतना ही हुआ। इसको अंशात्मक बनानेसे १। २१ सूर्यकी क्रान्ति हुई। अतः यहाँ सूर्य और चन्द्रमाकी क्रान्तियोंमें समता हुई।

* क्रान्तिसाम्य (पात) काल-साधन—मध्यकालिक चन्द्रमा ०। २। ५। ० और स्थिरीकृत क्रान्तिसाम्य-(पात) कालिक चन्द्रमा ०। १। ५५। ० की अन्तकला १० को ६० से गुणा कर गुणनफल ६०० में चन्द्रगति ७८३। १५ का भाग देनेपर (स्वल्पान्तरसे) लब्धि १ घड़ी हुई। इसको (गतपात होनेके कारण) मध्यरात्रि घड़ी ४५। १५ में घटानेसे शेष ४४। १५ पातका मध्यकाल हुआ।

होता है और जोड़नेसे अन्तकाल होता है। पातके आरम्भकालसे अन्तकालतक जो मध्यका काल है, वह प्रज्वलित अग्निके समान अत्यन्त दारुण (भयानक) होता है। जो सब कार्यमें निषिद्ध है।

ब्रह्मन्! इस प्रकार मैंने गणितस्कन्धमें संक्षेपसे कुछ (उपयोगी) विषयोंका प्रतिपादन किया है। अब (अगले अध्यायमें) राशियोंकी संज्ञादि कथनपूर्वक जातकका वर्णन करूँगा ॥ १८२—१८५ ॥

// इति श्रीबृहन्नारदीयपुराणे पूर्वभागे बृहदुपाख्याने द्वितीयपादे ज्यौतिषगणितवर्णनं नाम
चतुःपञ्चाशतमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

त्रिस्कन्ध ज्यौतिषका जातकस्कन्ध

सनन्दनजी कहते हैं—नारद! मेष आदि राशियाँ कालपुरुषके क्रमशः मस्तक, मुख, बाहु, हृदय, उदर, कटि, वस्ति (पेंड), लिङ्ग, ऊरु, जानु, जङ्घा और दोनों चरण हैं ॥ १ ॥ मङ्गल, शुक्र, बुध, चन्द्रमा, सूर्य, बुध, शुक्र, मङ्गल, गुरु, शनि, शनि तथा गुरु—ये क्रमशः मेष आदि राशियोंके अधीश्वर (स्वामी) हैं ॥ २ ॥ विषम राशियोंमें पहले सूर्यकी, फिर चन्द्रमाकी होरा बीतती है तथा सम राशियोंमें पहले चन्द्रमाकी, फिर सूर्यकी होरा बीतती है। आदिके दश अंशतक उसी राशिका द्रेष्काण होता है और उस राशिके स्वामी ही उस द्रेष्काणके स्वामी होते हैं। ग्यारहसे बीसवें अंशतक उस राशिसे पाँचवें राशिका द्रेष्काण होता है और उसके स्वामी ही उस द्रेष्काणके स्वामी होते हैं; इसी प्रकार अन्तिम दश अंश (अर्थात् २१ से ३० वें अंशतक) उस राशिसे नवम राशिका द्रेष्काण होता है और उसीके स्वामी उस द्रेष्काणके स्वामी कहे गये हैं ॥ ३ ॥ विषम राशियोंमें पहले पाँच अंशतक मङ्गल, फिर पाँच अंशतक शनि, फिर

आठ अंशतक बृहस्पति, फिर सात अंशतक बुध और अन्तिम पाँच अंशतक शुक्र त्रिंशांशेश कहे गये हैं। सम राशियोंमें इसके विपरीत क्रमसे पहले पाँच अंशतक शुक्र, फिर सात अंशतक बुध, फिर आठ अंशतक बृहस्पति, फिर पाँच अंशतक शनि और अन्तिम पाँच अंशतक मङ्गल त्रिंशांशेश बताये गये हैं ॥ ४ ॥ मेष आदि राशियोंके नवमांश मेष, मकर, तुला और कर्कसे प्रारम्भ होते हैं (यथा—मेष, सिंह, धनुके मेषसे; वृष, कन्या, मकरके मकरसे; मिथुन, तुला और कुम्भके तुलासे तथा कर्क, वृश्चिक और मीनके नवमांश कर्कसे चलते हैं।) २२ अंशके द्वादशांश होते हैं, जो अपनी राशिसे प्रारम्भ होकर अन्तिम राशिपर पूरे होते हैं और उन-उन राशियोंके स्वामी ही उन द्वादशांशोंके स्वामी कहे गये हैं। इस प्रकार ये राशि, होरा आदि षड्वर्ग^१ कहलाते हैं ॥ ५ ॥

वृष, मेष, धनु, कर्क, मिथुन और मकर—ये रात्रिसंज्ञक हैं अर्थात् रातमें बली माने गये हैं—ये पृष्ठभागसे उदय लेनेके कारण पृष्ठोदय

१. क्रान्ति-साम्य-साधनमें कथित सूर्यकी गति ६०। १५ द्वारा सूर्यविम्ब १०। ५७ हुआ एवं चन्द्रगति ७८३। १५ द्वारा चन्द्रविम्ब १०। ३५ हुआ। इन दोनोंके योग २०। ९२ के आधे १०। ४६ को ६० से गुणा कर गुणनफल ६४६ में सूर्य और चन्द्रमाकी गतिके अन्तर ७२३ से भाग देनेपर लब्धि (स्वल्पान्तरसे) १ घड़ी हुई; यह पातकालकी स्थित्यर्थ घड़ी हुई। इसको पातमध्यकाल ४४। १५ में घटानेसे शेष ४३। १५ आरम्भकाल एवं जोड़नेसे ४५। १५ पातका अन्तकाल हुआ।

२. गृह (राशि), होरा, द्रेष्काण, नवमांश, द्वादशांश तथा त्रिंशांश—ये षड्वर्ग कहे गये हैं। जिन राशियोंके जो स्वामी हैं, वे ही राशियाँ उन ग्रहोंके घर हैं। एक राशिमें ३० अंश होते हैं। उनमेंसे पंद्रह अंशकी एक होरा होती है। एक राशिमें दो होराएँ होती हैं। दश अंशका द्रेष्काण होता है, अतः एक राशिमें तीन द्रेष्काण व्यतीत होते हैं। ३३

कहलाते हैं (किंतु मिथुन पृष्ठोदय नहीं है)। शेष राशियोंकी दिन संज्ञा है (वे दिनमें बली और शीर्षोदय माने गये हैं); मीन राशिको उभयोदय कहा गया है। मेष आदि राशियाँ क्रमसे क्रूर और सौम्य (अर्थात् मेष आदि विषम राशियाँ क्रूर और वृष आदि सम राशियाँ सौम्य) हैं॥६॥ मेष आदि राशियाँ क्रमसे पुरुष, स्त्री और नपुंसक होती हैं (नवीन मतमें दो विभाग हैं, मेष आदि विषम राशियाँ पुरुष और वृष आदि सम राशियाँ स्त्री हैं)। इसी प्रकार मेष आदि राशियाँ क्रमशः चर, स्थिर और द्विस्वभावमें विभाजित हैं (अर्थात् मेष चर, वृष स्थिर और मिथुन द्विस्वभाव हैं, कर्क चर, सिंह स्थिर और कन्या द्विस्वभाव हैं। इसी क्रमसे शेष राशियोंको भी समझे)। मेष

आदि राशियाँ पूर्व आदि दिशाओंमें स्थित हैं (यथा—मेष, सिंह, धनु पूर्वमें; वृष कन्या, मकर दक्षिणमें; मिथुन, तुला, कुम्भ पश्चिममें और कर्क, वृश्चिक, मीन उत्तरमें स्थित हैं)। ये सब अपनी-अपनी दिशामें रहती हैं॥७॥ सूर्यका उच्च मेष, चन्द्रमाका वृष, मङ्गलका मकर, बुधका कन्या, गुरुका कर्क, शुक्रका मीन तथा शनिका उच्च तुला है। सूर्यका मेषमें १० अंश, चन्द्रमाका वृषमें ३ अंश, मङ्गलका मकरमें २८ अंश, बुधका कन्यामें १५ अंश, गुरुका कर्कमें ५ अंश, शुक्रका मीनमें २७ अंश तथा शनिका तुलामें २० अंश उच्चांश (परमोच्च) है॥८॥ सूर्यादि ग्रहोंकी जो उच्च राशियाँ कही गयी हैं, उनसे सातवीं राशि उन ग्रहोंका नीच स्थान है।

अंशका एक नवमांश होता है। राशिमें नौ नवमांश होते हैं। २९ अंशका एक द्वादशांश होता है; राशिमें बारह द्वादशांश होते हैं। एक-एक अंशका त्रिंशांश होता है, इसीलिये उसका यह नाम है।

राशि-स्वामी-ज्ञानार्थ-चक्र

राशि	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कुम्भ	मीन
स्वामी	मङ्गल	शुक्र	बुध	चन्द्र	सूर्य	बुध	शुक्र	मङ्गल	गुरु	शनि	शनि	गुरु

(राश्यर्ध) होरा-ज्ञानार्थ-चक्र

होरा-अंश	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कुम्भ	मीन
१—१५ तक	रवि	चन्द्र	रवि	चन्द्र	रवि	चन्द्र	रवि	चन्द्र	रवि	चन्द्र	रवि	चन्द्र
१८—३० तक	चन्द्र	रवि	चन्द्र	रवि	चन्द्र	रवि	चन्द्र	रवि	चन्द्र	रवि	चन्द्र	रवि

(राशितृतीयांश) द्रेष्काण-ज्ञानार्थ-चक्र

	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कुम्भ	मीन
१—१० तक	१ मङ्गल	२ शुक्र	३ बुध	४ चन्द्र	५ सूर्य	६ बुध	७ शुक्र	८ मङ्गल	९ गुरु	१० शनि	११ शनि	१२ गुरु राशि स्वामी
११—२० तक	५ सूर्य	६ बुध	७ शुक्र	८ मङ्गल	९ गुरु	१० शनि	११ शनि	१२ गुरु	१ मङ्गल	२ शुक्र	३ बुध	४ चन्द्र राशि स्वामी
२१—३० तक	९ गुरु	१० शनि	११ शनि	१२ गुरु	१ मङ्गल	२ शुक्र	३ बुध	४ चन्द्र	५ सूर्य	६ बुध	७ शुक्र	८ मङ्गल राशि स्वामी

चरमें पूर्व नवमांश वर्गोत्तम है। स्थिरमें मध्य (नवाँ) नवमांश वर्गोत्तम है। तनु (लग्न) आदि (पाँचवाँ) नवमांश और द्विस्वभावमें अन्तिम बारह भाव हैं॥९॥ सूर्यका सिंह, चन्द्रमाका वृष्ट,

राशियोंमें नवमांश-ज्ञानार्थ-चक्र

अंश-कला	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कुम्भ	मीन
३।२०	१	१०	७	४	१	१०	७	४	१	१०	७	४
	मङ्गल	शनि	शुक्र	चन्द्र	मङ्गल	शनि	शुक्र	चन्द्र	मङ्गल	शनि	शुक्र	चन्द्र
६।४०	२	११	८	५	२	११	८	५	२	११	८	५
	शुक्र	शनि	मङ्गल	रवि	शुक्र	शनि	मङ्गल	रवि	शुक्र	शनि	मङ्गल	रवि
१०।०	३	१२	९	६	३	१२	९	६	३	१२	९	६
	बुध	गुरु	गुरु	बुध	बुध	गुरु	गुरु	बुध	बुध	गुरु	गुरु	बुध
१३।२०	४	१	१०	७	४	१	१०	७	४	१	१०	७
	चन्द्र	मङ्गल	शनि	शुक्र	चन्द्र	मङ्गल	शनि	शुक्र	चन्द्र	मङ्गल	शनि	शुक्र
१६।४०	५	२	११	८	५	२	११	८	५	२	११	८
	सूर्य	शुक्र	शनि	मङ्गल	सूर्य	शुक्र	शनि	मङ्गल	सूर्य	शुक्र	शनि	मङ्गल
२०।०	६	३	१२	९	६	३	१२	९	६	३	१२	९
	बुध	बुध	गुरु	गुरु	बुध	बुध	गुरु	बुध	बुध	गुरु	गुरु	गुरु
२३।२०	७	४	१	१०	७	४	१	१०	७	४	१	१०
	शुक्र	चन्द्र	मङ्गल	शनि	शुक्र	चन्द्र	मङ्गल	शनि	शुक्र	चन्द्र	मङ्गल	शनि
२६।४०	८	५	२	११	८	५	२	११	८	५	२	११
	मङ्गल	रवि	शुक्र	शनि	मङ्गल	रवि	शुक्र	शनि	मङ्गल	रवि	शुक्र	शनि
३०।०	९	६	३	१२	९	६	३	१२	९	६	३	१२
	तक	गुरु	बुध	बुध	गुरु	बुध	बुध	गुरु	बुध	बुध	गुरु	गुरु

राशियोंमें द्वादशांश-ज्ञानार्थ-चक्र

अंश-कला	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कुम्भ	मीन
२।३०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
	मङ्गल	शुक्र	बुध	चन्द्र	रवि	बुध	शुक्र	मङ्गल	गुरु	शनि	शनि	गुरु
५।०	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१
	शुक्र	बुध	चन्द्र	रवि	बुध	शुक्र	मङ्गल	गुरु	शनि	शनि	गुरु	मङ्गल
७।३०	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१	२
	बुध	चन्द्र	रवि	बुध	शुक्र	मङ्गल	गुरु	शनि	शनि	गुरु	मङ्गल	शुक्र
१०।०	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१	२	३
	चन्द्र	रवि	बुध	शुक्र	मङ्गल	गुरु	शनि	शनि	गुरु	मङ्गल	शुक्र	बुध
१२।३०	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१	२	३	४
	रवि	बुध	शुक्र	मङ्गल	गुरु	शनि	शनि	गुरु	मङ्गल	शुक्र	बुध	चन्द्र
१५।०	६	७	८	९	१०	११	१२	१	२	३	४	५
	बुध	शुक्र	मङ्गल	गुरु	शनि	शनि	गुरु	मङ्गल	शुक्र	बुध	चन्द्र	रवि
१७।३०	७	८	९	१०	११	१२	१	२	३	४	५	६
	शुक्र	मङ्गल	गुरु	शनि	शनि	गुरु	मङ्गल	शुक्र	बुध	चन्द्र	रवि	बुध
२०।०	८	९	१०	११	१२	१	२	३	४	५	६	७
	मङ्गल	गुरु	शनि	शनि	गुरु	मङ्गल	शुक्र	बुध	चन्द्र	रवि	बुध	शुक्र
२२।३०	९	१०	११	१२	१	२	३	४	५	६	७	८
	गुरु	शनि	शनि	गुरु	मङ्गल	शुक्र	बुध	चन्द्र	रवि	बुध	शुक्र	मङ्गल
२५।०	१०	११	१२	१	२	३	४	५	६	७	८	९
	शनि	शनि	गुरु	मङ्गल	शुक्र	बुध	चन्द्र	रवि	बुध	शुक्र	मङ्गल	गुरु
२७।३०	११	१२	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
	शनि	गुरु	मङ्गल	शुक्र	बुध	चन्द्र	रवि	बुध	शुक्र	मङ्गल	गुरु	शनि
३०।०	१२	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
	गुरु	मङ्गल	शुक्र	बुध	चन्द्र	रवि	बुध	शुक्र	मङ्गल	गुरु	शनि	शनि

मङ्गलका मेष, बुधका कन्या, गुरुका धन, शुक्रका तुला और शनिका कुम्भ यह मूल त्रिकोण कहा गया है। चतुर्थ और अष्टभावका नाम चतुरस्त्र है। नवम और पञ्चमका नाम त्रिकोण है॥१०॥ द्वादश, अष्टम और षष्ठका नाम त्रिक है; लघु चतुर्थ, सप्तम और दशमका नाम केन्द्र है। द्विपद, जलचर, कीट और पशु—ये राशियाँ क्रमशः केन्द्रमें बली होती हैं (अर्थात् द्विपद लग्रमें, जलचर चतुर्थमें, कीट सातवेंमें और पशु दसवेंमें बलवान् माने गये हैं)॥११॥ केन्द्रके बादके स्थान (२, ५, ८, ११ ये) 'पणफर' कहे गये हैं। उसके बादके ३, ६, ९, १२—ये आपोक्लिम कहलाते हैं। मेषका स्वरूप रक्तवर्ण, वृषका श्वेत, मिथुनका शुकके समान हरित, कर्कका पाटल (गुलाबी), सिंहका धूम्र, कन्याका पाण्डु (गौर), तुलाका चितकबरा, वृश्चिकका कृष्णवर्ण, धनुका पीत, मकरका पिङ्ग, कुम्भका बधु (नेवले) के सदृश और मीनका स्वच्छ वर्ण है। इस प्रकार मेषसे लेकर सब राशियोंकी

कान्तिका वर्णन किया गया है। सब राशियाँ स्वामीकी दिशाकी ओर झुकी रहती हैं। सूर्यांश्रित राशिसे दूसरेका नाम 'वेशि' है॥१२-१३॥

(ग्रहोंके शील, गुण आदिका निरूपण—) सूर्यदेव कालपुरुषके आत्मा, चन्द्रमा मन, मङ्गल पराक्रम, बुध वाणी, गुरु ज्ञान एवं सुख, शुक्र काम और शनैश्चर दुःख हैं॥१४॥ सूर्य-चन्द्रमा राजा, मङ्गल सेनापति, बुध राजकुमार, बृहस्पति तथा शुक्र मन्त्री और शनैश्चर सेवक या दूत हैं, यह ज्यौतिष शास्त्रके श्रेष्ठ विद्वानोंका मत है॥१५॥ सूर्यांशि ग्रहोंके वर्ण इस प्रकार हैं। सूर्यका ताम्र, चन्द्रमाका शुक्ल, मङ्गलका रक्त, बुधका हरित, बृहस्पतिका पीत, शुक्रका चित्र (चितकबरा) तथा शनैश्चरका काला है। अग्नि, जल, कार्तिकेय, हरि, इन्द्र, इन्द्राणी और ब्रह्मा—ये सूर्यांशि ग्रहोंके स्वामी हैं॥१६॥ सूर्य, शुक्र, मङ्गल, राहु, शनि, चन्द्रमा, बुध तथा बृहस्पति—ये क्रमशः पूर्व, अग्निकोण, दक्षिण, नैऋत्यकोण, पश्चिम, वायव्यकोण, उत्तर तथा ईशनकोणके स्वामी हैं। क्षीण चन्द्रमा,

विषम राशियोंमें त्रिंशांश—

अंश	५	५	८	७	५
स्वामी	मङ्गल	शनि	गुरु	बुध	शुक्र

सम राशियोंमें त्रिंशांश—

अंश	५	७	८	५	५
स्वामी	शुक्र	बुध	गुरु	शनि	मङ्गल

१. मेषांशि राशियोंके रूप-गुण आदिका बोधक चक्र

राशियाँ	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कुम्भ	मीन
अङ्गमें स्थान	मस्तक	मुख	भुज	हृदय	पेट	कमर	पेढ़ू	लिङ्ग	ऊरु	जानु	जङ्घा	पैर
अधिपति	मङ्गल	शुक्र	बुध	चन्द्र	सूर्य	बुध	शुक्र	मङ्गल	गुरु	शनि	शनि	गुरु
बलका समय	रात्रि	रात्रि	रात्रि	रात्रि	दिन	दिन	दिन	दिन	रात्रि	रात्रि	दिन	दिन
उदय	पृथ्वेदय	पृथ्वेदय	शीर्षोदय	पृथ्वेदय	शीर्षोदय	शीर्षोदय	शीर्षोदय	शीर्षोदय	पृथ्वेदय	पृथ्वेदय	शीर्षोदय	उभयोदय
शील	क्रूर	सौम्य	क्रूर	सौम्य	क्रूर	सौम्य	क्रूर	सौम्य	क्रूर	सौम्य	क्रूर	सौम्य
पुं-स्त्रीत्व	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
स्वभाव	चर	स्थिर	द्विस्वभाव	चर	स्थिर	द्विस्वभाव	चर	स्थिर	द्विस्व०	चर	स्थिर	द्विस्व०
दिशा	पूर्व	दक्षिण	पश्चिम	उत्तर	पूर्व	दक्षिण	पश्चिम	उत्तर	पूर्व	दक्षिण	पश्चिम	उत्तर
द्विपदांशि	चतुर्पद	चतुर्पद	द्विपद	जलकीट	चतुर्पद	द्विपद	द्विपद	कीट	१५। १५ द्वि। च०	१५। १५ च। जल	द्विपद	जलचर
वर्ण	रक्त	श्वेत	हरित	गुलाबी	धूम्र	गौर	चित्र	कृष्ण	पीत	पिङ्ग	भूरा	स्वच्छ
जाति	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र	ब्राह्मण

सूर्य, मङ्गल और शनि—ये पापग्रह हैं—इनसे युक्त होनेपर बुध भी पापग्रह हो जाता है ॥ १७ ॥ बुध और शनि नपुंसक ग्रह हैं। शुक्र और चन्द्रमा स्त्रीग्रह हैं। शेष सभी (रवि, मङ्गल, गुरु) ग्रह पुरुष हैं। मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र तथा शनि—ये क्रमशः अग्नि, भूमि, आकाश, जल तथा वायु—इन तत्त्वोंके स्वामी हैं ॥ १८ ॥ शुक्र और गुरु ब्राह्मण वर्णके स्वामी हैं। भौम तथा रवि क्षत्रिय वर्णके स्वामी हैं। चन्द्रमा वैश्य वर्णके तथा बुध शूद्र वर्णके अधिपति हैं। शनि अन्त्यजोंके तथा राहु म्लेच्छोंके स्वामी हैं ॥ १९ ॥ चन्द्रमा, सूर्य और बृहस्पति सत्त्वगुणके, बुध और शुक्र रजोगुणके तथा मङ्गल और शनैश्चर तमोगुणके स्वामी हैं। सूर्य देवताओंके, चन्द्रमा जलके, मङ्गल अग्निके, बुध क्रीडाविहारके, बृहस्पति भूमिके, शुक्र कोषके, शनैश्चर शयनके तथा राहु ऊसरके स्वामी हैं ॥ २० ॥ स्थूल (मोटे सूतसे बना हुआ), नवीन, अग्निसे जला हुआ, जलसे भीगा हुआ, मध्यम (न नया न पुराना), सुदृढ़ (मजबूत) तथा फटा हुआ, इस प्रकार क्रमसे सूर्य आदि ग्रहोंका वस्त्र है। ताम्र (ताँबा), मणि, सुवर्ण, काँसा, चाँदी, मोती और लोहा—ये क्रमशः सूर्य आदि ग्रहोंके धातु हैं। शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद और हेमन्त—

ये क्रमसे शनि, शुक्र, मङ्गल, चन्द्र, बुध तथा गुरुकी ऋतु हैं। लग्रमें जिस ग्रहका द्रेष्काण हो, उस ग्रहकी ऋतु समझी जाती है* ॥ २१—२२ ॥

(ग्रहोंकी दृष्टि—) नारद! सभी ग्रह अपने-अपने आश्रितस्थानसे ३, १० स्थानको एक चरणसे; ५, ९ स्थानको दो चरणसे; ४, ८ स्थानको तीन चरणसे और सप्तम स्थानको चार चरणसे देखते हैं। किंतु ३, १० स्थानको शनि; ५, ९ को गुरु तथा ४, ८ को मङ्गल पूर्ण दृष्टिसे ही देखते हैं। अन्य ग्रह केवल सप्तम स्थानको ही पूर्ण दृष्टि (चारों चरणों) से देखते हैं ॥ २३ ॥

(ग्रहोंके कालमान—) अयन (६ मास), मुहूर्त (२ घड़ी), अहोरात्र, ऋतु (२ मास), मास, पक्ष तथा वर्ष—ये क्रमसे सूर्य आदि ग्रहोंके कालमान हैं। तथा कटु (मिर्च आदि), लवण, तिक्त (निम्बादि), मिश्र (सब रसोंका मेल), मधुर, आम्ल (खट्टा) और कषाय (कसैला)—ये क्रमशः सूर्य आदि ग्रहोंके रस हैं ॥ २४ ॥

(ग्रहोंकी स्वाभाविक बहुसम्मत मैत्री—) ग्रहोंके जो अपने-अपने मूल त्रिकोण स्थान कहे गये हैं, उस (मूल त्रिकोण) स्थानसे २, १२, ५, ९, ८, ४ इन स्थानोंके तथा अपने उच्च स्थानोंके स्वामी ग्रह मित्र होते हैं और इनसे भिन्न (मूल

*सूर्यके द्रेष्काणसे ग्रीष्मऋतु समझी जाती है। सूर्य आदि ग्रहोंके जाति, शील आदिको निप्राङ्गित चक्रमें देखिये—

ग्रह	सूर्य	चन्द्र	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
जाति	क्षत्रिय	वैश्य	क्षत्रिय	शूद्र	ब्राह्मण	ब्राह्मण	अन्त्यज
शील	तीक्ष्ण	मृदु	क्लूर	मिश्र	सौम्य	सौम्य	क्लूर
पुंस्त्री, नपुंसक	पुरुष	स्त्री	पुरुष	नपुंसक	पुरुष	स्त्री	नपुंसक
दिशा	पूर्व	वायव्य	दक्षिण	उत्तर	ऐशान्य	आग्रेय	पश्चिम
गृह	सिंह	कर्क	मेष-वृश्चिक	मिथुन-कन्या	धनु-मीन	वृष-तुला	मकर-कुम्भ
गुण	सत्त्व	सत्त्व	तम	रज	सत्त्व	रज	तम
स्थान	देवालय	जलाशय	अग्निशाला	क्रीडास्थान	भूमि	भण्डार-स्थान	शयन-स्थान
आत्मादि	आत्मा	मन	बल	वाणी	ज्ञान-सुख	कन्दर्प	दुःख
देवता	अग्नि	जल	कर्तिकेय	विष्णु	इन्द्र	इन्द्राणी	ब्रह्मा
द्रव्य	ताम्र	मणि	सुवर्ण	काँसा	चाँदी	मोती	लोहा
धातु	अस्थि	शोणित	मज्जा	त्वचा	वसा	वीर्य	स्नायु
अधिकार	राजा	राजा	सेनापति	युवराज	प्रधानमन्त्री	मन्त्री	भूत्य



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!

त्रिकोणसे १, ३, ६, ७, १०, ११) स्थानोंके स्वामी शत्रु होते हैं।

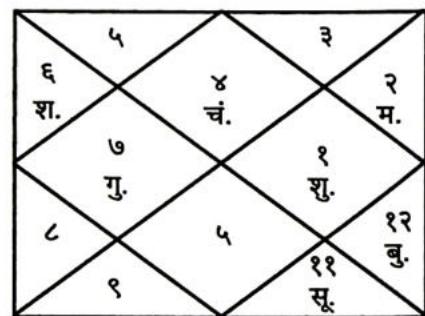
(मतान्तरसे ग्रह-मैत्री—) सूर्यका बृहस्पति, चन्द्रके गुरु-बुध, मङ्गलके शुक्र-बुध, बुधके रविको छोड़कर शेष सब ग्रह, गुरुके मङ्गलको छोड़कर सब ग्रह, शुक्रके चन्द्र-रविको छोड़कर अन्य सब ग्रह और शनिके मङ्गल-चन्द्र-रविको छोड़कर शेष सभी ग्रह मित्र होते हैं। यह मत अन्य विद्वानोंद्वारा स्वीकृत है।

(ग्रहोंकी तात्कालिक मैत्री—) उस-उस समयमें जो-जो दो ग्रह २, १२। ३, ११। ४,

१. यथा—दोनों प्रकारोंसे जो ग्रह मित्र हो वह अधिमित्र, जो मित्र और सम हो वह मित्र, जो मित्र और शत्रु हो वह सम, जो शत्रु और सम हो वह शत्रु तथा जो दोनों प्रकारोंसे शत्रु हो वह अधिशत्रु होता है। इस तरह ग्रहमैत्री पाँच प्रकारकी मानी गयी है।

ग्रहोंकी नैसर्गिक मैत्रीका बोधक चक्र

ग्रह	सूर्य	चन्द्र	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
मित्र	चं.मं. गु.	बु. सू.	चं.सू. गु.	शु. सू.	सू.मं. च.	बु. श.	शु. बु.
सम	बु.	मं. गु. शु.श.	शु. श.	मं. गु. श.	श.	मं.गु.	गु.
शत्रु	शु. श.	×	बु.	चं.	बु. शु.	सू. चं.	सू. चं. मं.



जैसे—इस कुण्डलीमें सूर्यसे द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्थानमें क्रमशः बुध, शुक्र और मङ्गल हैं। इसलिये ये तीनों सूर्यके मित्र हुए अन्य ग्रह शत्रु हुए। इसी प्रकार चन्द्रमासे तृतीय, चतुर्थ, एकादश और दशम स्थानमें शनि, गुरु, शुक्र और मङ्गल हैं, इसलिये ये चारों चन्द्रमाके तात्कालिक मित्र हुए; अन्य ग्रह शत्रु हुए। इस तरह सब ग्रहोंकी तात्कालिक मैत्री चक्रमें देखिये—

तात्कालिक मैत्रीका बोधक चक्र

ग्रह	सूर्य	चन्द्र	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
मित्र	मं. बु. शु.	मं. गु. शु. श.	सू. चं. बु. शु.	सू. चं. मं.शु.	चं. श.	सू. मं. चं. बु.	चं. गु.
शत्रु	चं. गु. श.	सू. बु.	गु. श.	गु. श.	सू. मं. बु. शु.	गु. श.	सू. म. बु. शु.

तात्कालिक और नैसर्गिक मैत्री-चक्र लिखकर उसमें पञ्चधा मैत्री इस प्रकार देखी जाती है। यथा—सूर्यका चन्द्रमा नैसर्गिक मित्र है तथा तात्कालिक शत्रु हुआ है, अतः चन्द्रमा सूर्यका सम हुआ। मङ्गल नैसर्गिक मित्र और तात्कालिक मित्र है, अतः अधिमित्र हुआ। बुध नैसर्गिक सम और तात्कालिक मित्र है, अतः मित्र ही रहा। गुरु